बिहारी-दर्शन

संपादक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

(सुधा-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का १९७वाँ पुष्प

बिहारी-दर्शन

(आलोचना)

प्रणेता

साहित्याचार्य

श्रीपं० लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी

साहित्यरत्न

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३०, अमीनाबाद-पार्क

लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द २।)] सं० १९९३ वि० [सादी २)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

वक्तव्य

मुझे बाल्यावस्था से ही संस्कृत और हिंदी-कवियों के काव्य की चर्चा-श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। लगभग बारह वर्ष की अवस्था से ही मैं अपने तीर्थ-स्वरूप पिताश्री और उनके संस्कृत-साहित्य-धुरीण मित्रों की काव्य-चर्चा का आनंद लेने लगा था। कहते हैं, बालपन के संस्कार जीवन-पर्यंत हृदय पर अमिट प्रभाव रखते हैं। ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती गई, त्यों-त्यों मुझे भी काव्य से उत्तरोत्तर अनुराग बढ़ता गया। श्रीकृष्णोपासक वंश-अवतंस होने के कारण संस्कृत-पद्यों के अतिरिक्त श्रीहरिवंश, श्रीसूरदास, श्रीहरीराम व्यास, श्रीमीराबाई और श्रीभगवत रसिक आदि महानुभाव भक्तों की रसीली व्रजभाषा की वाणियों को सुनते-सुनते उनसे अनुराग होना स्वाभाविक ही था। जब कुछ-कुछ समझने की शक्ति आई, तब स्वयमेव इन रचनाओं को पढ़ने का चाव हुआ। कठिन स्थलों के अर्थ जानने की इच्छा की पूर्ति सुलभ ही थी। अपने पूज्यपाद पिता, काका, ज्येष्ठ भ्राता एवं उनके विद्वान् मित्रों से अर्थ समझने की सुविधा होने के कारण यह प्रवृत्ति बढ़ती गई।

हिंदी-मिडिल पास होने पर मुझे अँगरेजी-शिक्षा-प्राप्ति की ओर लगाया गया, पर उसकी ओर विशेष प्रवृत्ति न हो सकी।

परिणाम-स्वरूप सन् १६१६ ई० में, १८ वर्ष की अवस्था मे, दो वर्ष तक एफ्० ए० की शिक्षा पाने के बाद उससे अरुचि हो गई। कॉलेज छोड़ते ही घर के पुस्तकालय पर दृष्टि पड़ी। उसमें संस्कृत-साहित्य के लगभग १५०० ग्रंथ थे। इनमे विशेषतया पौराणिक, दार्शनिक, साहित्यिक और आयुर्वेदिक ग्रंथों की प्रचुरता थी। मेरा झुकाव आयुर्वेद को छोड़ शेष ग्रंथों की ओर हुआ। परंतु संस्कृत-भाषा के मूल ग्रंथों का अध्ययन उस समय कठिन जान पड़ा, और मैं अपनी ज्ञान-प्राप्ति की पिपासा बुझाने के हेतु हिंदी के प्राचीन गौरवमय, समुन्नत साहित्य की ओर आकर्षित हुआ। हिंदी के प्राचीन साहित्य में व्रज-भाषा का स्थान सर्व-श्रेष्ठ प्रतीत हुआ, और इसी के ग्रंथों की उपलब्धि अधिक होने से मैं व्रज-भाषा-साहित्य को मनोयोग-पूर्वक पढ़ने मे लग गया।

इस समय कभी-कभी यद्यपि मित्रों के कहने-सुनने से कुछ छोटे-मोटे निबंध सामयिक पत्र-पत्रिकाओं मे लिखे, पर इस ओर मन की प्रवृत्ति न हुई। सन् १६२१ में पूज्य पिता के गोलोक-वासी होने पर मेरे दो ज्येष्ठ बंधुओं ने अत्यंत स्नेह और आश्वासन-पूर्वक मुझे स्वतंत्र ही रक्खा, और इसी कारण इस दुर्घटना के बाद भी मैं ठीक पूर्व-जैसा साहित्य के अनुशीलन मे लगा रहा। इस समय आर्यों के सर्व-प्रथम, सर्व-श्रेष्ठ और वैज्ञानिक गंभीर साहित्य-शास्त्र के अध्ययन की अभिरुचि जाग्रत् हुई। अब एक ओर साहित्य-शास्त्र का अवलोकन प्रारंभ किया, और दूसरी ओर हिंदी-भाषा के प्राचीन काव्य-ग्रंथों को खोज-खोजकर पढ़ने

का क्रम जारी रक्खा। सन् १६२३ ई० के लगभग बुंदेलखंड के प्रमुख राजस्थान ओरछा के सुप्रसिद्ध हिंदी-साहित्यानुरागी महाराज श्रीवीरसिंहजू देव (तत्कालीन युवराज) राजकार्य की शिक्षा के निमित्त सागर पधारे, और लगभग तीन वर्ष तक यहाँ रहे। उनसे मित्रो ने मेरा भी परिचय कराया। मै महाराजा साहब के काव्य-प्रेम के कारण उनकी ओर आकर्षित हुआ, और उनके यहाँ आता-जाता रहा। काव्य-चर्चा ही इस प्रकार मिलने का प्रधान विषय रहा। एक बार उक्त नरेश ने हिंदी-काव्य की आलोचना पर विस्तृत, सांगोपांग आलोचनात्मक ग्रंथों के अभाव की बात उठाई। मैंने भी उसकी आवश्यकता पर अपना मत प्रकट किया। फिर आए दिन पत्र-पत्रिकाओ मे केवल अनधिकारी लोगो के ही नही, वरन् प्रसिद्ध विद्वानों तक के निबंधो मे हिंदी-साहित्य की हीनता की बात पढ़-पढ़कर उक्त प्रकार के आलोचनात्मक ग्रंथो के आवश्यकता-विषयक विचार की पुष्टि होती गई।

कुछ दिनो बाद यह विचार संकल्प-रूप मे परिणत हुआ, और मैंने हिंदी-संसार मे प्रामाणिक माने गए प्राय. संपूर्ण आलोचनात्मक ग्रंथ मँगाकर पढ़े। उनमे यद्यपि उत्तमता का अभाव नही था, पर मेरी उनसे मनस्तुष्टि न हो सकी, और मैंने स्वयं इस ओर कुछ प्रयत्न करने का विचार किया। मैंने अपना यह विचार ओरछा-नरेश (तत्कालीन युवराज) श्रीवीरसिंहजू देव और अपने कुटुंब के गुरुजनो के सम्मुख प्रकट किया।

सबने इसकी आवश्यकता समझी, और विचार की सराहना की। मेरे ज्येष्ठ भ्राता कविराज पं० मन्नूलालजी राजवैद्य और वेदविद् पं० राधेलालजी शास्त्री ने इस कार्य में सक्रिय सहायता दी। कौटुंबिक भार सँभालने की चिंता तो थी ही नहीं अतएव पूरे मन से मैं इस काम में जुट गया। मेरे विद्वान्, हितैषी बंधुओं और हितचिंतकों ने मुझसे नव-रस पर पृथक्-पृथक् ग्रंथों के प्रणयन की बात कही। मुझे भी यही उचित प्रतीत हुआ। सबसे पहले मैंने हिंदी-साहित्य के शृंगार-प्रधान काव्य-साहित्य की आलोचना का विचार किया, और हिंदी-शृंगार-दर्शन-नामक ग्रंथ का प्रणयन प्रारंभ किया।

सन् १९२३ ई० के प्रारंभ से सन् १९२४ ई० तक यह कार्य निर्विघ्न होता रहा। परंतु सन् १९२५ ई० के आरंभ ही में मेरे ज्येष्ठ भ्राता पं० मन्नूलालजी को मधुमेह ने आ घेरा। अब मैं चिंतित रहने लगा। भाई साहब ने बीमारी की दशा में भी मुझे अपना काम करते जाने की आज्ञा दी, और उसे शीघ्र समाप्त करने की इच्छा प्रकट की। मैं उनकी रुग्णावस्था में अपने हृदय पर चिंता का भार लिए ग्रंथ-लेखन में जुटा रहा। पर दुर्दैव के कारण मुझ पर विपत्ति का पहाड़ टूट ही पड़ा। कुटुंब में सबसे अधिक अर्थोपार्जन करनेवाले पूज्य बड़े भ्राता का देहावसान हो गया। कुटुंब की संपूर्ण संपत्ति उपचारादि में व्यय करने पर भी कुटुंबी जन अपने गौरव की वह तेजस्वी मूर्ति न बचा पाए। रुग्णावस्था में भी जिसने उत्साहित हो एक-एक पृष्ठ सुना

था, उसके निधन पर जो वज्राघात मुझ पर हुआ, उसका क्या कभी कोई अनुमान भी कर सकेगा! कुटुंब पर छोटे-मोटे अनेक संकट आए। प्राय सब स्त्रियाँ छोटे छोटे बच्चों को छोड़कर स्वर्ग सिधार गईं। फिर विवाह हुए। आर्थिक संकटों का सामना बार-बार करना पड़ा। अब ग्रंथ-लेखन का कार्य एक ओर रख मुझे स्थानीय म्युनिसिपल हाईस्कूल मे शिक्षक की वृत्ति स्वीकार करनी पड़ी।

इसके एक वर्ष पश्चात्, शोकावेग कुछ कम पड़ने पर, मैंने पुन ग्रंथ के शेषांश की पूर्ति का विचार किया। अब चिंतित मन और रोगी शरीर लेकर मैं पुनः हिंदी-शृंगार-दर्शन को रात-रात जागकर लिखने लगा। सन् १६२७ ई० के मध्य मे ग्रंथ पूर्ण हुआ। इसे इस समय मैंने प्रसिद्ध विद्वानो को भी दिखलाया। सबसे अधिक प्रसन्नता मध्यप्रांत के स्वनामधन्य विद्वान् स्वर्गीय राय साहब श्रीरघुवरप्रसाद द्विवेदी, स्वर्गीय रायबहादुर डॉक्टर हीरालाल, स्वर्गीय प्रोफ़ेसर लाला भगवानदीन, स्वर्गीय पं० गंगाप्रसादजी अग्निहोत्री, श्रीअमीरअली 'मीर' और पं० सुखराम चौबे 'गुणाकर' आदि ने प्रकट की, और भविष्य मे, ग्रंथ प्रकाशित होने पर, भरसक सहायता देने का वचन भी दिया। कहीं-कहीं सुधार आदि करने की ओर भी संकेत किया। मैंने उत्साहित हो पुनः ग्रंथ दोहराया। अब मैंने देखा कि ग्रंथ सब मिलाकर फ़ुलस्केप साइज़ के २३०० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। ग्रंथ तो किसी प्रकार समाप्त हो गया, पर अब

उसके प्रकाशन की विकट समस्या उपस्थित हो गई। अनेक प्रकाशकों को लिखा, पर हिंदी में आलोचना-संबंधी इतने विशालकाय ग्रंथ का प्रकाशन करना दुस्साहस समझकर प्राय सभी शांत रहे। किसी भी प्रकाशक ने इसे प्रकाशित करने का उत्साह न दिखलाया। अब मेरा ध्यान बुंदेलखंड के नरेशों की ओर आकृष्ट हुआ। सबसे पहले मैं बुंदेलखंड के प्रधान राज्य ओरछा के तत्कालीन महाराजा श्रीमहेंद्र-प्रतापसिंहजू बहादुर से मिला। वहाँ उस समय भारत-धर्म-महामंडल के सर्वस्व श्रीस्वामी ज्ञानानंदजी सरस्वती और महान् दार्शनिक विद्वान् सन्यासी श्रीस्वामी दयानंद सरस्वती उपस्थित थे। श्रीमान् महाराजा के साथ-साथ उक्त दोनों महानुभावों में ग्रंथ के विषय में चर्चा हुई। महाराजा साहब ने तो केवल कुछ चर्चा सुनी, और प्रशंसा की, पर उक्त दोनों महानुभाव विद्वान् विशेष अनुरक्त हुए, और उन्होंने ग्रंथ का बहुत-सा भाग पढ़ा-सुना। मैंने अपना मंतव्य भी उन पर प्रकट किया। इस पर इन महानुभावों ने यह मत प्रकट किया कि मैं पहले बुंदेलखंड का एक इतिहास लिखकर उपस्थित करूँ। उसके पश्चात् मुझे बुंदेला-नरेशों से ग्रंथ-प्रकाशन के हेतु यथेष्ट सहायता प्राप्त हो सकेगी। मैं इस पर प्रस्तुत हो गया, और श्रीस्वामी ज्ञानानंदजी सरस्वती की प्रेरणा से, भारत-धर्म-महामंडल की ओर से, बुंदेलखंड के नरेशों आदि के नाम, मुझे निम्न-लिखित प्रमाण-पत्र दिया गया—

"श्रीमान् साहित्यरत्न पंडित लोकनाथ सिलाकारी साहित्या-

चार्य हिंदी-साहित्य-जगत् के एक परिचित व्यक्ति हैं। इन्होंने राष्ट्र-भाषा हिंदी की सेवा भी अच्छी की है। ये सब प्रकार के उत्साह देने योग्य हैं। इनकी सद्वासना है कि वीरभूमि बुंदेलखंड का कोई अच्छा इतिहास हिंदी-भाषा मे नहीं है, उस अभाव को ये दूर करें। हिंदू-जाति की विराट् धर्म-सभा के नेतृवृंद की यह इच्छा है कि बुंदेलखंड के राजा-महाराजागण तथा समर्थ व्यक्तिगण इनको इस शुभ कार्य मे यथायोग्य सहायता करेंगे, तो इनसे अच्छा कार्य हो सकेगा।"

इसके बाद टीकमगढ मे मैं वर्तमान महाराज श्रीवीरसिंहजू देव से मिला। आप उस समय युवराज थे। आपने बड़े प्रेम से ग्रंथ सुना, और सराहा। पर उस समय मैंने अवसर न देख आपसे प्रकाशनादि के विषय मे कुछ चर्चा न की। घर लौट आया। एक वर्ष बाद मैंने पुन बुंदेलखड के नरेशो के यहाँ जाने का विचार किया। सौभाग्य-वश उसी वर्ष, अर्थात् सन् १६२६ मे, पन्ना-नरेश ने बुंदेलखंड-केसरी महाराज छत्रसाल की जयंती मनाने का आयोजन किया। मै भी सागर से प्रतिनिधि-स्वरूप उसमें सम्मिलित होने गया। वहाँ हिंदी-संसार के सुपरिचित सुकवि और साहित्य-मर्मज्ञ श्रीवियोगी हरिजी से भेट हुई। आपको वीर-सतसई पर उसी वर्ष मंगलाप्रसाद-पारितोषिक प्रदान किया गया था। आपने ग्रंथ को स्वयं आद्योपांत पढ़ा, और उसके विषय में लिखा—

"सागर-निवासी साहित्याचार्य पंडित लोकनाथजी सिलाकारी-

रचित 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' के दर्शन का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसमें संदेह नहीं कि सुयोग्य लेखक ने अपनी गंभीर साहित्य-अध्ययनशीलता का इस महान् ग्रंथ के लिखने में बड़ा अच्छा परिचय दिया है। संस्कृत तथा भाषा, दोनो के ही रीति-ग्रंथों को आपने भली भाँति देखा है। ग्रंथ आलोचनात्मक है। समालोचना की शैली में विवेचना को यथेष्ट स्थान मिला है। .. मुझे 'प्रेम-वर्णन' नाम का तीसरा अध्याय बहुत ही पसंद आया है। प्रेम-तत्त्व को आपने समझा है, यह निस्संदेह कहा जा सकता है। पक्षपात-हीन आलोचनाओं की हिंदी में आवश्यकता है। सिलाकारीजी ने एतद्विषयक यह बृहद् ग्रंथ लिखकर इस अंग की पूर्ति करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है, और इसमें उन्हें बहुत कुछ सफलता भी मिली है। इस ग्रंथ के प्रकाश में आने की मैं उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करूँगा।"

वहाँ छत्रसाल-जयंती के अवसर पर मुझे महाराज छत्रसाल के काव्य पर आलोचनात्मक भाषण देने का आदेश हुआ। लगभग पौन घंटे तक मैंने भाषण दिया। परिणाम-स्वरूप केवल प्रशंसा प्राप्त हुई, पर ग्रंथ-प्रकाशन के विषय में श्रीमान् महाराजा साहब की ओर से कोई सहायता न प्राप्त हो सकी। इसके बाद मैं अजयगढ़ पहुँचा। वहाँ युवराज श्रीपुण्यपालसिंहजू देव ने यथेष्ट आदर किया, और ग्रंथ का बहुत-सा भाग सुना, और सराहा। परंतु वहाँ भी ग्रंथ-प्रकाशन की चर्चा करने में मुझे उत्साह न हुआ। हाँ, अजयगढ़ में मुझे साहित्य के दो प्रेमियों

से संतोष हुआ—(१) श्रीलालजीसहाय वर्मा, फॉरेस्ट-ऑफिसर और (२) श्रीविनायकराव भट्ट, पोस्टमास्टर। दोनो सुकवि, सुलेखक एव अध्ययनशील साहित्यिकों ने 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' का अधिकांश स्वयमेव पढ़ा। उस पर श्रीलालजीसहाय वर्मा ने मुझे प्रेम प्रदर्शित करते हुए दो पद्य भेंट किए। इनसे सचमुच मुझे कुछ संतोष पहुँचा। वे पद्य-द्वय निम्न-लिखित हैं—

कलित - प्रेम-मधु - मधुर, सुकवि - कुल-कुमुद-विकासक ,
समालोचना - किरिन - माल नव - भाव - विकासक।
सीतलता - सुचि - भक्ति - सूक्ति - तुलना - रुचि-राजति ;
भाषा - छपा अमद 'विशद' हिंदी - जग छाजति।
श्रीलोकनाथ - मानस - उदधि - हुलसावन, भ्रम-तिमिर-हर ;
'हिंदी-शृंगार - दर्शन' भयौ साहित - नभ हिमकर - प्रवर।

सलिल - प्रमान लै समुद्र - सदग्रंथ तें,
तुलना नवीन इंद्र - धनु दरसायौ है ,
'लोकनाथ' - प्रतिभा - समीर अनुकूल पाय
हिंदी - नभ-मंडल उमड करि छायौ है।
नाच उठे केकी-मन सुकवि - समूह देखि,
'विशद' विवेचना प्रचड झरि लायौ है ,
सींचन कौं साहित की वाटिका मलान यह,
'हिंदी-शृंगार - दरसन' - सुघन आयौ है।

वहाँ अजयगढ़ से फिर मैं बिजावर पहुँचा। बिजावर-राज्य के राजकवि श्रीबिहारीलालजी भट्ट ने ग्रंथ पढा, और खूब

सराहा। श्रीमान् महाराज साहब से कारण-वश उस समय भेंट न हो सकी। मैं घर लौट आया।

इस यात्रा में बुंदेलखंड की मनोरम उपत्यकाओं, पहाड़ी झरनों, वन-श्री आदि की छटा अवलोकन करने का सौभाग्य तो प्राप्त हुआ, परंतु उद्देश-सिद्धि न होने के कारण कुछ विरक्त-सा हो रहा था। घर आकर कुछ दिनों शांति में रहा। इस समय बुंदेलखंड के इतिहास की भी बहुत कुछ सामग्री मैं एकत्र कर चुका था। प्राप्त हुई सामग्री के आधार पर मैंने बुंदेलखंड का चारण-गीत गूँथा। इस कार्य में एक वर्ष लग गया। दिसंबर, १९२६ में मैं बीमार पड़ गया, और मुझे विवश हो स्कूल से चार मास की छुट्टी लेनी पड़ी। दो माह में कुछ स्वस्थ होने पर मैं वायु-परिवर्तनार्थ गया। इस बार मैंने रनिया-धाना के नरेश श्रीमान् खलकसिंहजू देव के साहित्य-प्रेम की अत्यधिक प्रशंसा सुनी, और मैं उनसे मिला। राजा साहब साहित्य-प्रेमी और मिलनसार हैं। आपने मुझे बड़े स्नेह और आदर से ठहराया। ग्रंथ साथ ही था। आपने उसका अधिकांश स्वयमेव पढ़ा, और कई स्थल मुझसे भी सुने। अंत में दस दिन रहने के बाद जब मैं चलने लगा, तब आपने ग्रंथ के विषय में अपना निम्न-लिखित प्रमाण-पत्र दिया—

"श्रीपंडित लोकनाथजी सिलाकारी के हस्त-लिखित ग्रंथ 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' पर मैंने दृष्टिपात किया। पंडितजी ने इतना अधिक परिश्रम करके इतना बड़ा ग्रंथ तैयार किया है,

यह उनकी महान् विद्वत्ता तथा अध्यवसाय का पूर्ण रूप से द्योतक है। पंडितजी ने हिंदी-साहित्य में यह एक महान् ग्रंथ उपस्थित करके अपने लिये एक स्थायी कीर्ति प्राप्त कर ली है, इसमें कोई संदेह नहीं। मैं पंडितजी की विद्वत्ता तथा परिश्रम-शीलता की हृदय से सराहना करता हूँ।"

इस प्रकार इस प्रयत्न में मेरा यथेष्ट समय और द्रव्य व्यय हुआ, पर प्रकाशन की कोई व्यवस्था न हो सकी। इस समय मैंने. निराश होकर ग्रंथ को एक ओर बाँधकर रख दिया। साहित्य-सेवा के नाम से विरक्ति-सी होने लगी थी। परंतु इसके थोड़े ही दिन बाद मित्रवर बाबू रामानुजलालजी श्रीवास्तव प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर सागर आए। उनके साथ मेरे सजातीय बंधु कविवर पं० केशवप्रसादजी पाठक भी थे। दोनो सज्जन अनेक साहित्यिकों के साथ मेरे घर पधारे। बातचीत के सिलसिले मे हिंदी-शृंगार-दर्शन की चर्चा हुई। ग्रंथ दिखलाया गया, और श्रीवास्तवजी ने उसे देखकर बहुत प्रसन्नता प्रकट की। उन्होंने ग्रंथ को अपनी मासिक पत्रिका 'प्रेमा' मे क्रमशः प्रकाशित करने की बात की। मैंने कुछ अंश उन्हें भेज दिया। वह 'देव कवि और उनका काव्य'-शीर्षक से 'प्रेमा' में एक वर्ष से अधिक लगातार निकला। उसके बाद श्रीवास्तवजी ने मुझसे 'प्रेमा' के शृंगार-रस-विशेषांक के संपादन करने की बात कही। उनके आग्रह से मैं इस काम के लिये तैयार हो गया। इस अंक के लिये सामग्री एकत्र करने मे

सबसे अधिक सहायता मेरे बंधु श्रीगयाप्रसाद ज्योतिषी एम्० ए० (वर्तमान सहकारी संपादक सनातन-धर्म, बनारस) ने दी। प्रायः हिंदी-जगत् के संपूर्ण सुप्रसिद्ध विद्वान्, साहित्यिकों और कविरत्नों ने मेरी प्रार्थना पर सुंदर सामग्री प्रेषित कर दी। अंक बड़ी उत्तमता से निकाला गया, और मैंने उसमें ३५ पृष्ठों का संपादकीय वक्तव्य भी जोड़ा। इस अंक की हिंदी में काफ़ी ख्याति हुई, और अनेक विद्वानों ने मुझे सहानुभूति-सूचक पत्र लिखे।

इस वर्ष अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन झाँसी में था। सागर के प्रसिद्ध हिंदी-लेखक और मेरे परिचित मित्र श्रीजहूरबख्शजी ने मुझसे साहित्य-सम्मेलन में चलने का अनुरोध किया। कुछ आगा-पीछा करने के बाद मैं तैयार हो गया। इस बार भी हिंदी-शृंगार-दर्शन मेरे साथ था। हिंदी के वयोवृद्ध साहित्यिक पं० लक्ष्मीधरजी वाजपेयी और कविवर बाबू गुरुभक्तसिंहजी 'भक्त' एवं अन्यान्य उपस्थित साहित्यिकों ने उसे पढ़ा, और अत्यधिक प्रसन्नता प्रकट की। वाजपेयीजी ने तो सभी के समक्ष जी खोलकर ग्रंथ की महत्ता और उपयोगिता के बारे में कहा, और उसे सर्व-श्रेष्ठ पुरस्कार के योग्य बतलाया। हाँ, प्रकाशन के विषय में बात आते ही वह गंभीर हो गए। बोले—"भाई, हिंदी में इतना बड़ा ग्रंथ कोई नहीं छाप सकता। यहाँ बिक्री तो होती ही नहीं, गंभीर साहित्य पढ़नेवाले हैं ही कितने हिंदी-भाषी?" मैं भी चुप हो रहा।

फिर श्रीजहूरबख्शजी ने हिंदी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार और सम्मेलन की स्वागतकारिणी के सभापति बाबू वृंदावनलालजी वर्मा एडवोकेट से 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' की चर्चा की, और ग्रंथ उनके समक्ष रख दिया। वर्माजी उसे देख और यत्र-तत्र कुछ अंश पढ़कर अत्यंत प्रसन्न हुए। उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला—"सम्मेलन के स्टेज पर तो हिंदी के ऐसे महान् ग्रंथों की चर्चा होनी ही चाहिए। यदि सम्मेलन ऐसे ग्रंथ का प्रकाशन नहीं कर सकता, तो वह है किस मर्ज़ की दवा? पर हिंदी के दुर्भाग्य से यहाँ अध्ययनशीलता का आदर ही कहाँ है? सर्वत्र दलबंदी के दलदल में हिंदी फँसी पड़ी है।" अस्तु।

इस घटना के १० माह बाद मेरी इच्छा लंबी यात्रा करने की हुई, और स्कूल से ६ माह का अवकाश लेकर मैंने उत्तराखंड के महात्माओं का सत्संग किया, और कुछ समय वृंदावन में भक्त वैष्णवों के साथ व्यतीत किया। इस यात्रा में मैं 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' को भी साथ ले गया था। जब हरिद्वार पहुँचा, तब मुझे वहाँ के प्रसिद्ध सन्यासी महात्मा श्रीस्वामी निरंजनदेव सरस्वती के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उक्त स्वामीजी महाराज संस्कृत और भाषा के प्रकांड विद्वान् हैं। कुछ दिन रहने के बाद आपने 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' देखा। उस पर प्रसन्न होकर श्रीस्वामीजी ने लिखा—

"हिंदी-साहित्य के अंतरंग तथा बहिरंग का व्यापक अध्ययन करके आपने जो 'हिंदी-शृंगार-दर्शन'-नामक विशालकाय समा-

लोचन भी किया है, वह आपकी अगाध विद्वत्ता और परिश्रमपूर्ण खोज का भली भाँति परिचय देता है। आपने संस्कृत तथा हिंदी के रीतिग्रंथों का जो मनन तथा विवेचनात्मक अनुशीलन किया है, उसकी छटा ग्रंथ में सर्वत्र है। विषय-प्रवेश में आपने साहित्यिक दृष्टि से शृंगार की पांडित्यपूर्ण ढंग से विशद विवेचना करके, उसके अंग-प्रत्यंग पर पूर्वाचार्यों के मतों की समीक्षा तथा आलोचना करके अपने निर्भीक सिद्धांतों का अच्छा निरूपण किया है। साथ ही भक्ति-प्रधान शृंगार के विषय में भक्ति का शास्त्रीय ढंग से उपयोगी एवं तात्त्विक निरूपण करने के अनंतर सनातन वैदिक धर्म के विभिन्न संप्रदायों के प्रवर्तक उनके धार्मिक सिद्धांतों एवं उनके प्रधान साहित्यिकों की रचना की बड़ी मनोरम तथा प्रामाणिक आलोचना की है। इसके पीछे हिंदी के अनेकों प्रसिद्ध तथा उत्तम कवियों की रचनाओं की तुलनात्मक आलोचना, अपने पूर्ववर्ती समालोचकों की प्रत्यालोचना, करते हुए साहित्य की जो अविरल छटा छहराई है, वह साहित्य-रसिकों को अपार आनंद प्रदान करनेवाली है। यह ग्रंथ लिखकर आपने राष्ट्र-भाषा हिंदी की जो स्थायी सेवा की है, उसके लिये आप प्रत्येक हिंदी-भाषी के धन्यवादास्पद हैं। इसमें केवल वैभव-संपन्न हिंदी-साहित्य का ही पूर्ण परिचय प्राप्त न होगा, वरन भारतीय आर्य-साहित्य और संस्कृति का तात्त्विक ज्ञान भी भली भाँति होगा।"

उस समय ब्रज-भाषा के धुरंधर मर्मज्ञ कविवर श्रीजगन्नाथ-

दासजी 'रत्नाकर' रुग्ण दशा में हरिद्वार आए हुए थे। मैं उनसे जब मिलने गया, तब उनकी स्थिति शोचनीय हो गई थी। फिर भी उन काव्य-प्रेमी कलाकार ने मुझसे साहित्य-संबंधी कुछ बातें कीं। मेरे साथ के एक संन्यासी ने उनसे 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' की चर्चा कर ही दी। उन्होंने उसका संक्षिप्त परिचय चाहा। मैंने एक दिन जाकर उन्हें विषय-सूची, जो लगभग १४ पृष्ठों में समाप्त हुई थी, सुना दी। सुनकर प्रसन्नता प्रकट की, और कुछ स्वस्थ होते ही ग्रंथ देखने का विचार प्रकट किया। पर दुर्भाग्य-वश वह समय फिर न आ सका।

इसके बाद, सन् १९३३ के ऑक्टोबर-मास तक, मैंने 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' को बक्स ही में पड़ा रहने दिया। पर इसी समय हिंदी-संसार के युगांतरकारी प्रकाशक पं० दुलारेलालजी भार्गव के अनुज पं० ज्योतिलालजी भार्गव सागर पधारे। उन्होंने गंगा-पुस्तकमाला की शाखा सागर में स्थापित की थी। मेरे मित्र श्रीप्यारेलालजी भार्गव के यहाँ वह ठहरे। श्रीजहूरबख्श के साथ जब मैं बाजार से लौटकर आ रहा था, तब दूकान पर दोनों सज्जनों से मेरी भेंट हो गई। फिर सब लोग मेरे घर आए। ज्योतिलालजी भार्गव से जहूरबख्शजी ने इस बार फिर 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' की चर्चा की, और ज्योतिलालजी बहुत देर तक उसे देखते रहे। उन्होंने सुधा में प्रकाशनार्थ उसके कुछ अंश चाहे। मैंने उन्हें दे दिए। वे सुधा में अगले तीन माह में प्रकाशित हो गए। अब श्रीदुलारेलालजी भार्गव ने मुझे लखनऊ

बुलाया। मैं जनवरी, १९३४ में लखनऊ गया। भार्गवजी स्वयं सुकवि और कला-मर्मज्ञ हैं। ग्रंथ देखकर वह अत्यंत संतुष्ट हुए, पर उसकी विशालता देखकर उन्होंने ग्रंथ को 'खंडश' प्रकाशित करने का मत प्रकट किया। उनके समझाने पर मैं भी सहमत हो गया। यही 'बिहारी-दर्शन' की उत्पत्ति का इतिहास है। 'बिहारी-दर्शन' वास्तव में 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' का ही एक भाग है, जो उसके बिहारी-विषयक अंशों को लेकर संकलित किया गया है।

अंत में मैं उन संपूर्ण ग्रंथकारों और लेखकों को धन्यवाद देता हूँ, जिनके ग्रंथों एवं लेखों को पढ़कर मैंने लाभ उठाया है। आजकल यद्यपि लेखकों में प्राचीन साहित्य की निंदा करने की दुष्प्रवृत्ति बलवती दिखाई दे रही है, पर यह अधिकांश में इन लोगों की अध्ययन-हीनता का ही परिणाम है। इन्हें महान् साहित्यिकों के विषय में इतना स्मरण रखना चाहिए—
"काहू के क्यों हू घटाए घटैं नहीं, सागर औ गुन-आगर प्रानी।"
यहाँ मैं श्रीदुलारेलालजी को भी हार्दिक धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता, जिनके प्रयत्न से अंत में, यह ग्रंथ हिंदी-संसार के सम्मुख उपस्थित हुआ है।

सागर,
३०।१०।३६ } लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी

सूची

बिहारी-दर्शन

महाकवि बिहारीलाल

गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

बिहारी-दर्शन

कवि-परिचय

अनेक महापुरुषों और महाकवियो के जन्म-स्थान तथा जन्म-काल आदि के विषय में प्रायः शका रहती है। इसका कारण यही है कि ये लोग अपने विषय में स्वय कुछ भी नहीं लिखते। ऐसे लोगों के विषय मे अनेक किंवदतियाँ फैल जाती है। यही दशा महाकवि विहारीलालजी के विषय में भी है। यद्यपि सतसई के निर्माण-काल से ही विद्वानों का उस पर अत्यत अनुराग रहा है, एव सतसई का क्रम स्थिर करने तथा उस पर टीका-टिप्पणियाँ लिखने में अनेक विद्वानों और कवियों ने परिश्रम किया, तथापि इनमें से किसी ने भी विहारीलालजी के कुल, गोत्र, जन्म-स्थान एवं जीवन-चरित्र के विषय मे यथेष्ट रूप से नहीं लिखा। सतसई की अनेक टीकाएँ तो विहारीलालजी के जीवन-काल मे ही रची गई, पर, खेद है, उनमे से किसी ने भी विहारीलालजी के विषय मे कुछ भी नहीं लिखा। इसका कारण यह भी है कि उस समय के लोग काव्य के गुण-दोषों पर ही विशेष ध्यान देते थे। इस समय विहारीलालजी का जीवन-चरित्र लिखनेवालों को भिन्न-भिन्न टीकाओं मे प्राप्त विहारी-विषयक स्फुट वाक्यों, किंवदतियों एव आख्यायिकाओं से सहायता मिलती है। कुछ लोगों ने यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्री एकत्र कर विहारीलालजी की जीवनी, सक्षेप मे, लिखने का प्रयास किया है। इनमें सबसे अधिक प्राचीन 'विहारी-विहार'-नामक पद्यात्मक निबध है, जिनमें विहारीलालजी का जीवन-चरित्र प्रामाणिक रीति से लिखा है। इनका

निर्माण-काल संवत् १७२१ की चैत्र-शुक्ल सप्तमी, सोमवार है। इसके सिवा स्वर्गीय श्रीजगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' ने भी बिहारीलालजी के विषय में बहुत खोज करने के उपरांत उनकी जीवनी 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' के पिछले दो अंकों में, अत्यंत प्रामाणिक रीति से, लिखी थी। इन सबका अवलंबन कर मैं यहाँ बिहारीलालजी के विषय में संक्षिप्त, प्रामाणिक रूप से लिखता हूँ। अस्तु।

महाकवि बिहारीलालजी धौम्यगोत्रीय श्रोत्रिय माथुर चौबे थे। माथुर में पांडेय, पाठक, तिवारी, ककोर एवं घरबारी आदि चौंसठ उपाधियाँ होती हैं। इनमें से बिहारीलालजी घरबारी थे। श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने बिहारीलालजी को ककोर-कुलोत्पन्न लिखा है, पर इन सज्जनों का यह मत भ्रम-पूर्ण और अशुद्ध है। बात यह है कि श्रीयुत मिश्रबंधु बिहारी-सतसई की पद्यात्मक टीका लिखनेवाले कृष्ण कवि को ककोर-कुलोत्पन्न देखकर और किंवदंती से कृष्ण कवि को बिहारीलालजी का पुत्र मानकर उन्हें ककोर-कुलोत्पन्न लिखते हैं। परंतु इसके लिये कोई प्रबल प्रमाण नहीं कि कृष्ण कवि बिहारीलालजी के पुत्र थे। यदि ऐसा होता, तो कृष्ण कवि अपने परिचय में इस बात का अवश्य ही उल्लेख करते। जहाँ उन्होंने अपनी जाति और अल्ल आदि सभी के विषय में लिखा है, वहाँ इतना अवश्य लिखते कि वह महाकवि बिहारीलालजी के पुत्र थे। क्योंकि इतने बड़े महाकवि के पुत्र होने का उन्हें गौरव होता, इस कारण वह अवश्य ही अपने को महाकवि बिहारीलालजी का पुत्र कहकर गौरवान्वित करते।

हिंदी-भाषा के सुप्रसिद्ध कवि और आचार्य श्रीकुलपति मिश्र बिहारीलालजी के भांजे थे। स्मरण रहे कि चतुर्वेदियों का विवाह-संबंध मिश्रों और घरबारियों में होता है। ककोर-कुलवालों और मिश्रों में परस्पर विवाह-संबंध नहीं होते। इससे जब कुलपति

मिश्र बिहारीलालजी के भाजे थे, तब बिहारीलालजी अवश्य ही घर-वारी थे, यह निर्विवाद है। जयपुर-निवासी महामहोपाध्याय प० गिरिधर शर्मा ने, 'चतुर्वेदी-पत्रिका' के पिछले अंकों मे, इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। वह लिखते हैं—"जयपुर-निवासी कवि-वर अमरकृष्णजी का कुल अद्यावधि, सतसईकार, कवि-श्रेष्ठ बिहारी-लालजी के वंशजों के नाम से प्रसिद्ध है।" शर्माजी ने लिखा है—"अमरकृष्णजी के पास ताम्र-पत्र के रूप मे जयपुर-नरेश की दी हुई सनद भी थी, जो पारिवारिक पारस्परिक कलह के कारण लुप्त हो गई, और अब उपलब्ध नहीं है। यह अमरकृष्णजी 'घरबारी' हैं।"

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्वर्गीय मु शी देवीप्रसादजी जोधपुरी ने, बडे परिश्रम और खोज से, राजपूताने के कवियों के विषय मे, जो 'कवि-रत्न-माला'-नामक पुस्तक प्रकाशित की है, उसमे बडे अनुसधान के पश्चात् बिहारीलालजी को घरवारी लिखा है।

बूँदी के राजकवि प० अमरकृष्णजी घरवारी माथुर चौबे हैं। उनसे निम्न-लिखित बातों का पता चलता है—

बिहारीलालजी घरवारी चौबे धौम्यगोत्र, आश्वलायन शाखा तथा त्रिप्रवर (कश्यप, अत्रि और सारण्य) थे। उनके पिता का नाम केशवराय था, और उनकी कुलदेवी महाविद्या थी। बिहारीलालजी दो भाई थे। उनके स्वय कोई स तान नहीं थी, अतः अपने भतीजे 'निरजन'जी को उन्होंने अपना पुत्र माना। उन्हीं से उनकी वश-परपरा चली। बिहारीलालजी ब्रह्मपुरी (जयपुर) मे रहते थे। प० अमरकृष्णजी के पिता प० बालकृष्णजी बूँदी के राजकवि हो गए थे। बूँदी के प्रधान कवि चारण सूर्यमल्लजी ने अपने सुप्रसिद्ध प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्र थ 'वंश-भास्कर' मे लिखा है—

कवि विप्र बिहारी बंश जात। कवि बालकृष्ण प्रभु अन्नपात।

प० बालकृष्णजी ने अपने वंशजों की नामावली निम्न-लिखित छंद में दी है—

प्रथम बिहारीलाल प्रकट जिन सप्तसती-कृत,
तनय निरंजन तासु भयो विख्यात सुद्धमत।
तिनके गोकुलदास तनय तिहि खेमकरनि भनि;
दयाराम सुत तासु भयौ तिनके मानिक मनि।
पुनि भे गनेस तिनके तनय बालकृष्ण तिनके भयो;
गुन-निपुन चतुर-जन-माल मनि कविता-तिय-नायक कह्यो।

यह वंशावली उन्होंने सोरों-घाट के एक पंडा की बही में नाम देखकर बनाई है। प० अमरकृष्णजी ने भी अपने वंश का परिचय देते हुए लिखा है—

प्रथम बिहारीलाल प्रकट जिन सप्तसती-कृत;
प्रकट ज्ञान के धाम कहूँ लवलेस न दुरमत।
तिनके गोकुलदास तनय तिहि खेमकरन गुनि;
दयाराम सुत जासु बहुरि तिनके मानक मनि।
भे गनेस तिनके तनय बालकृष्ण तिनके भएउ;
गुन-निपुन चतुरता-सदन सो कविता-तिय-नायक कहेउ।
तिनके भो अति मंद-मति कवि-जन-किंकर जानि,
विद्या-विमल-विवेक-बिनु अमरकृष्ण पहिचानि।

अत: बिहारीलाल जी घरबारी थे। उनके पिता का नाम केशवराय था, जैसा बिहारीलालजी ने स्वयं अपने निम्न-लिखित दोहे में कहा है—

जनम लियो द्विजराज-कुल, स्वबस बसे ब्रज आय;
मेरे हरौ कलेस सब केसव केसवराय।
(वि० सं० ६९९)

इस दोहे में हरि भगवान् श्रीकृष्ण और अपने पिता केशवराय

से अपने क्लेश-हरण की प्रार्थना करता है। पिता से प्रार्थना करने का कारण सभवतः यह जान पडता है कि बिहारीलालजी के पिता केशवराय बडे ही धर्मनिष्ठ महात्मा थे, और बिहारीलालजी सत्पुत्र के समान उन्हें ईश्वर-तुल्य समझते थे। इससे बिहारीलालजी की पितृ-भक्ति का पता चलता है। भगवान् केशव की प्रार्थना ठीक ही है। दोहा श्रेष्ठ है। देखिए —

भावार्थ - "जिन्होंने द्विजराज-कुल [(१) द्विजराज = चद्र, कुल = वश। इस प्रकार द्विजराज-कुल से चद्र-वश का अर्थ निकलता है, और श्रीमद्भागवत से यह स्पष्ट है कि यादव चद्र-वशी थे, इस प्रकार इसका अर्थ यदु-कुल निकलता है, एव भगवान् श्रीकृष्ण का यदुकुल मे उत्पन्न होना प्रसिद्ध ही है। (२) द्विजराज-कुल से द्विज अर्थात् ब्राह्मण और राज से श्रेष्ठत्व का बोध होकर द्विजराज-कुल से 'श्रेष्ठ ब्राह्मण-कुल' का अर्थ स्पष्ट है।] अर्थात् यदु-कुल और श्रेष्ठ ब्राह्मण-कुल में जन्म लिया, और जो स्ववश अर्थात् अपनी ही इच्छा से [(१) भगवान् श्रीकृष्ण राक्षसों का नाश एव साधु पुरुषों का परित्राण करने के अर्थ अपनी ही इच्छा से अवतार धारण कर वृज मे बसे। (२) बिहारी के पिता केशवराय भी अपनी ही इच्छा से भक्ति में डूबकर (किसी आर्थिक कष्ट आदि के कारण नहीं) पुण्य भूमि वृज मे वास करने लगे थे।] वृज मे आकर बसे। ऐसे भगवान् केशव और मेरे ईश्वर-तुल्य पूज्य पिता महात्मा केशवराय मेरे सपूर्ण (भव-भय-जनित) क्लेशों को दूर करो।"

श्रीयुत मिश्रबधु लिखते हैं —"परतु दोहे पर गौर करने से प्रकट होता है कि केशवराय शब्द श्रीकृष्ण के लिये आया है, न कि कवि के पिता के लिये।" (हिंदी-नवरत्न द्वितीय सस्करण, पृ०-स० २७६) यह श्रीमिश्रबधुओं की भूल है। 'दोहे पर ग़ौर करने से' यह स्पष्ट है

कि 'केशव' श्रीकृष्ण के लिये और 'केशवराय' बिहारीलालजी कवि के पिता के लिये आया है।

बिहारी-सतसई के सर्व-प्रथम टीकाकार कृष्णलाल कवि, जो बिहारी-सतसई की पद्यात्मक टीका लिखनेवाले कृष्णदत्त कवि से सर्वथा भिन्न हैं, बिहारीलालजी के समकालीन थे। वह उपर्युक्त दोहे की टीका में लिखते हैं—

केसोराइ जो मेरो पिता और केसोराय जो श्रीकृष्णजू।

इससे बिहारीलालजी के पिता का नाम केशव होना स्पष्ट है। वह टीका संवत् १७२१ के लगभग समाप्त हुई थी, अतएव इसका कथन विशेष प्रामाणिक है। फिर यही बात अनवर-चंद्रिका के इस वाक्य से भी सिद्ध होती है—"केशव, केशवराइ बिहारी के बाप को नाम है।" इसी प्रकार रसचंद्रिका, हरिप्रकाशटीका और लालचंद्रिका से भी बिहारीलालजी के पिता का नाम केशव होना पाया जाता है।

बिहारीलालजी का जन्म संवत् १६५२ में, ग्वालियर में, हुआ था, जैसा निम्न-लिखित दोहे से स्पष्ट है—

संवत जुग२ सर५ रस६-सहित भूमि१ रीति गिन लीन्ह ;
कातिक सुदि बुध अष्टमी जन्म हमहिं विधि दीन्ह।
(बिहारी-विहार)

जान पड़ता है, बिहारीलालजी के पिता केशवरायजी महात्मा होने के साथ-साथ अच्छे सुकवि भी थे। इसी से हिंदी के सुप्रसिद्ध, कवि-श्रेष्ठ और आचार्य श्रीकुलपति मिश्रजी ने अपने ग्रंथ 'संग्राम-सार' के आदि में ही उनकी स्तुति करते हुए लिखा है—

कविवर माता यह सुमिरि, केशव केशवराय ;
करौं कथा भारत्थ की भाषा छंद बनाय।

बिहारीलालजी के एक भाई और एक बहन भी थी। इनके पिता

किसी कारण-वश ग्वालियर से ओरछे चले आए। उस समय ओरछे की गद्दी पर राजा रामशाहजी थे, जो संवत् १६४९ में, महाराज मधुकरशाह के स्वर्गगामी होने पर, राज्य के अधिकारी हुए थे। उस समय वह उतरती अवस्था के थे, इसलिये उन्होंने अपने प्रिय सहोदर भ्राता इन्द्रजीतसिंह को राज्य-काज चलाने का भार सौंपा। इन्द्रजीतसिंह कार्य-कुशल, नीतिज्ञ और प्रकृत वीर होते हुए भी साहित्य और संगीत के बड़े प्रेमी थे। उनके यहाँ कवियों, गवैयों और नर्तकियों का जमघट रहता था। उन्हीं के यहाँ आचार्य केशवदासजी थे, जिनका वह बड़ा सम्मान करते थे। बिहारीलालजी के पिता तथा कुलपति मिश्र के मातामह केशवरायजी भी अच्छे कवि थे। वहाँ वह केशवदासजी से मिले। जान पड़ता है, केशवदासजी ने बालक बिहारी की प्रखर बुद्धि देखकर उन्हें साहित्य पढ़ाया था। बिहारीलालजी की सतसई से भी उनका केशवदासजी के ग्रंथों का अच्छी तरह पढ़ना विदित होता है।

वहाँ उस समय दसान-नदी के किनारे 'गुढौ' ग्राम में एक सुप्रसिद्ध महात्मा रहते थे, जिनका नाम श्रीनरहरिदासजी था। बिहारीलालजी के पिता इन महात्मा के पास बहुधा आया-जाया करते थे। श्रीस्वामी हरिदासजी के संप्रदाय के यह महात्मा महंत हो गए थे। इस संप्रदाय के ग्रंथ – 'निज-मत-सिद्धांत' – से निम्न-लिखित बातों का पता चलता है –

"श्रीनरहरिदेव अथवा नरहरिदासजी उक्त संप्रदाय के एक बड़े प्रसिद्ध महात्मा थे। संवत् १६८३ से संवत् १७४१ तक निधिवन की गद्दी पर रहे। उनके पिता का नाम विष्णुदास और माता का उत्तमा था। वह बुंदेलखंड में दसान-नदी के किनारे 'गुढौ' ग्राम में रहते थे। उनका जन्म सं० १६४० में हुआ, और वह बाल्यावस्था ही से साधु-संतों की सेवा करने लगे, और सिद्ध तथा महात्मा प्रसिद्ध

हो गए। संवत् १६६५-६६ में सरसदेवजी, जो वृंदावन में निम्बार्क के महंत थे, देशाटन करते हुए बुंदेलखंड गए, और नरहरिदासजी को अपना शिष्य कर आए। संवत् १६७५ में नरहरिदासजी अपने गुरु के पास वृंदावन चले आए। संवत् १६८३ में वह अपने गुरु की गद्दी पर बैठे, और संवत् १७४१ तक, १०१ वर्ष की आयु तक, विद्यमान रहे।

(देखो 'निज-मत-सिद्धांत')

ऐसा जान पड़ता है, इसके बाद बिहारीलालजी के पिता केशवरायजी इन महात्मा के शिष्य हो गए, एवं बिहारीलालजी को भी इन्हीं से मंत्रोपदेश दिलाया*। श्रीनरहरिदासजी प्रसिद्ध महात्मा तो थे ही, इससे महाराज इंद्रजीत और महाकवि केशवदासजी भी उनके दर्शनों को आते थे। नरहरिदासजी के पिता से ओरछे के राजा का व्यवहार होना 'निज-मत-सिद्धांत'-नामक ग्रंथ से विदित भी होता है। यही श्रीनरहरिदासजी ने महाकवि केशवदासजी से बिहारीलालजी को ध्यान से पढ़ाने का अनुरोध किया। केशवदासजी बिहारीलालजी की प्रखर बुद्धि देखकर उन्हें पुत्रवत् स्नेह से पढ़ाने लगे।

बिहारीलालजी को केशवदासजी के पास अध्ययन करने का समय बहुत ही थोड़ा मिल सका। क्योंकि संवत् १६६४ के पूर्व ही महाराज इंद्रजीत का अखाड़ा अस्त-व्यस्त हो गया, और महाकवि केशवदासजी को छोड़कर उसके शेष सब लोग नष्ट-भ्रष्ट हो गए। यह घटना बुंदेलखंड में अत्यंत प्रसिद्ध है। अद्यावधि लोग इस घटना को 'प्रेत-यज्ञ' कहते हैं। इसी समय बिहारीलालजी के पिता केशवराय इस घटना के कारण अत्यंत विरक्त हुए, और अपना शेष जीवन श्रीवृंदावन-धाम

---

* 'निज-मत-सिद्धांत' में नरहरिदासजी के एक शिष्य का नाम केशवराय लिखा है।—लेखक

में, परमात्मा श्रीकृष्ण के आराधन में, व्यतीत करने की इच्छा से सकुटुंब बृज में चले आए।

वृंदावन में उस समय श्रीनरहरिदासजी के दीक्षा-गुरु श्रीसरसदेवजी निधिवन की गद्दी पर थे। केशवराय और विहारीलालजी का परिचय उनसे नरहरिदासजी के आश्रम गुडा गाँव में हो ही चुका था, और केशवराय महात्मा एवं सुकवि थे ही। इससे महात्मा श्रीसरसदेवजी उन्हें अत्यंत प्रेम की दृष्टि से देखने लगे थे। उन्होंने इन्हें सादर लिया, और अपने ही पास ठहराया। श्रीसरसदेवजी के एक और शिष्य नागरीदासजी थे। वह टट्टियों की कुटिया बनाकर कुछ और वैष्णवों के साथ यमुनाजी के तट पर निवास करते थे। वह भी प्रसिद्ध महात्मा थे। केशवरायजी सकुटुंब यहीं रहने लगे। बिहारीलालजी की माता का देहांत बहुत पहले हो ही चुका था, इससे अब केशवरायजी को केवल दो पुत्रों और एक पुत्री की चिंता थी। पुत्री की अवस्था उस समय बारह वर्ष की हो चुकी थी, अतएव उस समय की प्रथा के अनुसार उसके विवाह करने की उन्हें चिंता हुई। पिता तो संतान के विवाह की चिंता में लगे, और विहारीलालजी विद्या सीखने लगे।

श्रीस्वामी हरिदासजी के संप्रदाय के महंत सदा से संगीत तथा काव्य के पूर्ण ज्ञाता होते आए हैं। इस संप्रदाय में अनेक प्रसिद्ध कवि और गायक थे। श्रीस्वामी हरिदासजी स्वयं संस्कृत और हिंदी के महान् कवि थे। गायन में उनकी निपुणता विश्व-विख्यात थी। श्रीस्वामी जी महाराज का गायन सुनने के लिये, वेष बदलकर, प्रतापी मुगल-सम्राट् अकबर के जाने की आख्यायिका प्रसिद्ध ही है, और श्रीसरसदेवजी के गुरु श्रीबिहारिनिदासजी के हजारों पद आज भी उनके संप्रदाय के स्थानों में विद्यमान हैं। नागरीदासजी भी साहित्य-संगीत-कला के प्रेमी थे। इस स्थान में रहकर भी बिहारीलालजी ने कुछ दिनों श्रम-

पूर्वक विद्याध्ययन तथा काव्याभ्यास किया और संगीत-विद्या में भी निपुणता प्राप्त की।

श्रीसरसदेवजी का व्रजमंडल में बहुत महत्त्व था। उन्हें व्रज के सब लोग मानते थे। माथुर-वंश के तो प्राय सभी लोग इसी संप्रदाय में दीक्षित थे अतएव वे उन्हें मानते और सदा उनके दर्शनों को आते थे। उसी समय व्रज में हरिकृष्ण मिश्र-नामक एक माथुर चौबे थे, जो महंतजी के यहाँ आते थे। उनके परशुराम-नामक पुत्र था। वह बड़ा ही विद्वान् था। श्रीसरसदेवजी की अनुमति से बिहारीलालजी की बहन का विवाह उक्त परशुरामजी मिश्र से हो गया। हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान्, कवि और आचार्य कुलपति मिश्र इन्हीं परशुरामजी के पुत्र और बिहारीलालजी के भांजे थे। अपने वंश के आदि पुरुष के विषय में कुलपति मिश्र ने निम्न-लिखित पद्य कहा है—

माथुर-वंस प्रसिद्ध मिश्रकुल अभयराज भय,
सब बिद्या-परवीन बेद-अध्ययन तपोमय।

कुलपति मिश्रजी के वंशज पं० बद्रीप्रसादजी चतुर्वेदी 'चौंदीकुई' में हैं। उनका परंपरागत कथन यह है कि बिहारीलालजी माथुर चौबे और कुलपति मिश्र के मामा थे। पिता ने कन्या के विवाह के उपरांत बिहारीलालजी का विवाह भी मथुरा में, एक धनाढ्य माथुर चौबे के यहाँ, उसकी रूपवती कन्या से, कर दिया। बिहारीलालजी के भाई का विवाह भी कदाचित् इसी लग्न, मैनपुरी में, कर दिया। साहित्याचार्य पं० अंबिकादत्तजी व्यास ने 'बिहारी-बिहार' की भूमिका में जो बिहारीलालजी के वंशजों का होना लिखा है वे बिहारीलालजी के इन्हीं भाई के वंशज होंगे, क्योंकि बिहारीलालजी के निज वंशज बूँदी, काली पहाड़ी तथा कामवन में हैं। सतानों के विवाह के बाद बिहारीलालजी के पिता केशवरायजी वैरागी

हो गए। उस समय बिहारीलालजी सपत्नीक उनके पास नहीं रह सकते थे, क्योंकि वह आश्रम में रहते थे, इससे बिहारीलालजी मथुरा में, अपनी ससुराल में, रहने लगे। पर वह महात्मा नागरीदासजी के यहाँ, उनके दर्शन करने एव साहित्य-सगीत सुनने-सुनाने, सदैव आया-जाया करते थे।

इसी समय, सवत् १६७५ में, श्रीनरहरिदासजी भी बुदेलखड से श्रीवृदावन-धाम चले आए, और श्रीनागरीदासजी के स्थान पर ही ठहरे। बिहारीलालजी अब अपने गुरु श्रीनरहरिदासजी के पास नियम से आने लगे। उनका माहात्म्य तो पहले से ही प्रसिद्ध था। अब वृंदावन आने पर उनकी ख्याति और भी बढी। बडे-बडे विद्वान् और कुलीन एव धनी लोग उनके पास आने लगे। बादशाह जहाँगीर गद्दी पर था, और शाहजहाँ यद्यपि युवराज था, पर बादशाह ने उसे सुल्तान का खिताब (पद) दे दिया था। उस समय तक मुसलमान बादशाह हिंदुओं के सत-महतों के पास बडी श्रद्धा से जाते, और उनके दर्शन करके उनके उपदेश एवं आशीर्वाद से लाभ उठाने की अभिलाषा रखते थे। 'तुजके-जहाँगीरी' मे जहाँगीर बादशाह का सवत् १६७५ मे वृदावन जाना और चिद्रूप-नामक महात्मा का दर्शन करना लिखा है। इस यात्रा मे बादशाह जहाँगीर के साथ सुल्तान शाहजहाँ भी था। सुल्तान शाहजहाँ श्रीनागरीदास की टट्टी मे उनके दर्शनों को गया, और उसने वहाँ श्रीनरहरिदासजी से भी भेंट की। इस समय बिहारीलालजी भी महात्मा नरहरिदासजी के दर्शनों को गए थे। इस समय तक बिहारीलालजी की कीर्ति फैल गई थी। वह सगीत और काव्य एव सस्कृत तथा हिंदी के मर्मज्ञ विद्वान् समझे जाने लगे थे। बिहारी-बिहार में लिखा है—

> बिद्या-काव्य अनेक बिधि पढ़ी परम सचुपाय।
> स्वामी की आसीस सों भए सब पूरन काम;

गान-ताल सब सीखियो जपत रहे हरि-नाम।
निज भाषा अरु संस्कृत पढ़ि लीन्हीं बहु भाँति;
सुखी भए माता-पिता, सगा, मित्र अरु जाति।
एक समय सरताजजू साहजहाँ सुलतान;
आए इहि अस्थान में कीन्हो बहु सनमान।
राग-रागिनी सुनि लिए पंच सब्द परकार;
तब कविता की कहु दई स्वामी गुन-आगार।
हम उनकी कविता करी, भए प्रसन्न बड भाव:
चलत कही हमसों तबहि अर्गलपुर मे आव।

इस प्रकार शाहजहाँ की आज्ञा से बिहारीलालजी आगरे पहुँच गए। वहाँ शाहजहाँ ने उन्हें आदर से रख लिया। शाहजहाँ फारसी, संस्कृत और हिंदी का जाननेवाला एवं बड़ा ही कविता-प्रेमी था। इसी के दरबार में पंडितराज जगन्नाथ त्रिशूली, महाकवि राय सुंदर, कवि-श्रेष्ठ आचार्य कुलपति मिश्र, कविवर दूलह आदि अनेक प्रसिद्ध महाकवि और आचार्य थे। बिहारीलालजी बहुत दिनों तक वहाँ संगीत और साहित्य सुनाते हुए शाहजहाँ के आश्रय में रहे। वहीं उन्होंने फारसी और उर्दू-साहित्य का अध्ययन मनोयोग-पूर्वक किया। कुछ दिनों बाद शाहजहाँ के पुत्र उत्पन्न हुआ। इस समय आगरे में बड़ा उत्सव मनाया गया। इस उत्सव में भारत के ५२ नृपति पहुँचे थे। 'बिहारी-विहार' में लिखा है—

मध्य आगरे जमुन-तट दुर्ग अगम आगार,
बसे तहाँ बहु काल पुनि करि कविता-बिवहार।
पढ़ी पारसी साह की गजल, गीत अरु सेर;
गान सुनत सो रात को दिवस गए बहुतेर।
पुत्र जु जनम्यो साह के बजी बधाई देस,
दीप दीप में बढ़ हरख रावत, राव, नरेस।

ताहि समय बावन नृपति भारत के तहँ आय;
साहंसाह हमें कही कविता सबहिं सुनाय।
तब रचि-पचि कविता करी साह सराही ताहि,
रहे भूप-दरबार में मन में सब हरषाहि।
साहजहाँ की साहिबी लालबिहारी मान;
धन-मनि-भूषन को गने, पायो बहु सनमान।
भारत के बावन नृपति रहे आगरे माहिं;
सनद दिवाई सबन सों साहिब आपु सिहाहि।
वर्षासन सबने करे जथासक्ति सुभ काम।

आगरे में रहना बिहारीलालजी को बड़ा लाभदायक हुआ। वहाँ उन्होंने फारसी-उर्दू भी पढ़ी, और उसमें कविता करने का भी अभ्यास किया। उस समय आगरा राजधानी होने के कारण लक्ष्मी का आगार था। शाहजहाँ के कृपा-पात्र होने के कारण छोटे-बड़े सभी सामंत, सरदार, साहूकार और धनी-मानी लोगों के यहाँ बिहारीलालजी का आदर होने लगा। वह भी काव्य-व्यवहार करते हुए वहाँ सुख से जीवन व्यतीत करने लगे। पुत्रोत्पत्ति पर शाहजहाँ ने बिहारीलालजी को बहुत सम्मान-पूर्वक धन, मणि और आभूषण देकर अत्यत संतुष्ट किया, और शाह-जहाँ के कहने से एव उसका कृपा-पात्र जानकर उन बावन राजाओं ने भी दान-सम्मान से बिहारीलालजी को सतुष्ट किया, एव वर्षाशन (भोजन के निमित्त कुछ सालाना बधान) बाँध दिया। इसी समय आगरे मे बिहारीलालजी प्रसिद्ध कवि और दानी खानखाना नवाब अब्दुलरहीम से मिले। उनकी सभा में उन्होंने निम्न-लिखित दोहे सुनाए—

जनमु ग्वालियर जानिए, खंड बुँदेलैं बालु,
तरुनाई आई सुघर बसि मथुरा ससुरालु।

श्रीनरहरि नरनाह को दीन्हीं बाँह गहाय;
सुगुन-आगरें आगरें रहत आय सुख पाय।

फिर रहीम की प्रशंसा में एक दोहा सुनाया। ध्यान रहे, रहीम ने महाकवि गंग को एक पद पर प्रसन्न होकर ३६ लाख मुद्राएँ दी थीं। यह घटना साहित्य में अत्यंत प्रसिद्ध है। बिहारीलालजी ने रहीम की प्रशंसा करते हुए कहा—

गंग गोछ, मोछैं जमुन, अधरन सरसुति-रागु;
प्रकट खानखानान कैं कामद बदन प्रयागु।

इस पर प्रसन्न होकर एवं बिहारी के काव्य एवं संगीत की अभिज्ञता जानकर खानखाना रहीम ने बिहारीलालजी का बड़ा सम्मान किया, और उन्हें कई हजार स्वर्ण-मुद्राएँ दीं।

डुमराँव-निवासी पं० नकछेदी तिवारी ने कवियों के विषय में बड़ी खोज की है। तिवारीजी ने भारत-जीवन-प्रेस, बनारस से प्रकाशित रहीम के 'बरवै नायिका-भेद' के आदि में रहीम का जो परिचय दिया है, उसमें लिखा है—

"खानखानाजी पंडित, कवि, मुल्ला, शायर, ज्योतिषी, गवैया, बजवैया, तीरदाज, बरकदाज इत्यादि सब गुणवान् मनुष्यों के बड़े कद्रदान थे। इनकी सभा अहर्निश विद्वज्जनों से भरी-पुरी रहती थी। इन्हीं महाराज ने सतसईकार बिहारीलालजी को, एक दोहे पर, खड़ा करा-के अशर्फियों से तोपवा दिया था। एक छप्पय पर गंग को छत्तीस लाख रुपया दिया था।"

इसी समय बिहारीलालजी उन बावन राजाओं के यहाँ आने-जाने लगे। वहाँ वह वर्षाशन एवं पुरस्कार प्राप्त करते रहे। पर उनका मुख्य निवास-स्थान आगरे में ही रहा। इसी समय, संवत् १६७८ के लगभग, बादशाह जहाँगीर का, नूरजहाँ बेगम के कहने से, शाहजहाँ पर कोप हुआ। नूरजहाँ का उद्देश्य बादशाह जहाँगीर के दूसरे लड़के शहर-

थार को, जिससे नूरजहाँ ने अपनी शेर अफगान से पैदा हुई लड़की का विवाह कर दिया था, बादशाह के बाद गद्दी पर बैठाने का था। नूरजहाँ की चालबाजियो के कारण जब शाहजहाँ रुष्ट हो गया, तब उसने बादशाह जहाँगीर के खिलाफ बगावत कर दी। इसमें उसे आगरा छोड़ना पड़ा। इस समय बिहारीलालजी कभी आगरा और कभी मथुरा मे रहे, एव अपना नियत वर्षाशन लेने के लिये भारत के अन्य राजाओं के दरबारों मे आते-जाते रहे। अनुमान मे यह विदित होता है कि इसी समय बिहारीलालजी का ध्यान एक सुशृखल तथा प्रयोग-साम्य साहित्यिक ब्रजभाषा का ढाँचा स्थिर करने की ओर आकृष्ट हुआ। और, वह इसी मे दत्त-चित्त रहे। संवत् १६७८ से १६९१ तक का समय बिहारीलालजी ने अध्ययन तथा ब्रजभाषा का साहित्यिक ढाँचा स्थिर करने मे लगाया। इसी समय वह जोधपुर एव बूँदी आदि दरबारों में गए, क्योंकि सभवतः यहाँ के राजा भी उन ५२ नृपतियों मे से थे, जिनसे बिहारी को वर्षाशन मिलता था।

उस समय महाराज जसवतसिंहजी जोधपुर की गद्दी पर थे। यह महाराज स्वय साहित्य-मर्मज्ञ और सुकवि थे। कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि जसवतसिंहजी का भाषा-भूषण-नामक सुप्रसिद्ध एव आचार्यत्व प्रकट करनेवाला विशद ग्रथ महाकवि बिहारीलालजी का ही रचा हुआ है। यद्यपि भाषा-भूषण के दोहे बड़े ही उच्च कोटि के तथा रचना-लाघव के आदर्श कहे जा सकते हैं, एव उनकी भाषा बहुत ही सुथरी हुई है, तथापि उसमे वैसी टकसाली भाषा नहीं है, जैसी सतसई मे है। इससे यह विदित होता है कि बिहारीलालजी ने यदि भाषा-भूषण की रचना की हो, तो उसका समय सतसई के पूर्व का मानना सगत प्रतीत होता है। सुनने मे आया है कि जोधपुर में 'दूहा-सग्रह'-नामक १५-१६ सौ दोहों का एक ग्रथ

है, जिसमें बिहारी-सतसई के भी कुछ दोहे हैं। इनके बिहारीलालजी का [illegible] में कुछ समय तक रहना एवं [illegible] बहुत समय प्रतीत होता है। ऐसा [illegible] है, उक्त [illegible] बिहारीलालजी ही के [illegible] थे, क्योंकि बिहारी-सतसई पर देवकी-नंदन की [illegible] टीका में [illegible] चौदह सौ दोहों का उल्लेख है, [illegible] में भी बिहारी की पुत्र-वधू का [illegible] होना लिखा है। [illegible] टीका में लिखा है—

चौदह सौ दोहा किए तिहि तिय परम प्रवीन।

अस्तु। यह ग्रंथ अभी देखने में नहीं आया।

बिहारीलालजी वर्षाशन लेने आमेर आते-जाते थे। इस समय शाहजहाँ बादशाह हो चुका था। सन् १६६१ या १६९२ के लगभग बिहारीलालजी वर्षाशन लेने के लिये आमेर गए थे। महाराज जयसिंह उस समय एक नवीन रानी ब्याह लाए थे। वह उसके सौंदर्य और वय:संधि की छटा पर ऐसे मुग्ध हो गए थे कि रात-दिन उसी के महल में पड़े रहते थे। वह राज-काज की सुधि भूल गए थे। उन्होंने यह आज्ञा भी निकाल दी थी कि जो राज-काज की चर्चा से हमारे रंग में भंग करेगा, उसका अंग-भंग कर दिया जायगा। इस आज्ञा से भयभीत होकर कोई उन्हें चेतावनी देने का साहस नहीं कर सकता था। महाराज जयसिंह की मुख्य महारानी—जो करौली के सरदार श्यामदास चौहान की पुत्री थीं, और चौहानी रानी कहलाती थीं—उस समय गर्भवती थीं। उन्हें महाराज के नवीन रानी के फंदे में इस प्रकार फँसने का बड़ा ही दुःख था। इसमें राज्य-हानि और सौतिया-डाह दो कारण थे।

बिहारीलालजी ने राजा के पास तक पहुँचने का उद्योग किया, पर वह जब कृतकार्य न हुए, तब आमेरगढ़ के पास ब्रह्मपुरी में, ब्रह्ममंडली

के बीच ठहर गए। उन्हें आशा थी कि राजा शीघ्र ही उन्हें बुलावेंगे, केवल उनके आगमन की सूचना राजा तक पहुँचाने-भर की देर है। दूसरे, वह इतनी दूर का आगमन निष्फल नहीं जाने देना चाहते थे। बिहारीलालजी के आगमन की सूचना पाकर महाराज के शुभ-चिंतक मंत्रियों, कर्मचारियों तथा चौहानी रानीजी ने, जो बड़ी बुद्धिमती थीं, यह विचार किया कि बिहारीलालजी बादशाह के कृपा-पात्र और दरबारी कवि हैं। यदि यह महाराज जयसिंह को कोई चेतावनी दें, तो दे सकते हैं, क्योंकि महाराज रुष्ट होकर भी इन्हें दंडित करना उचित नहीं समझ सकते। यह विचारकर एक सभा उन लोगों ने की, और बिहारीलालजी को वहाँ बुलवा भेजा। जब वह वहाँ पहुँचे, तो मंत्री ने आगे बढ़कर उन्हें सादर लिया, और उनसे राजा की स्थिति सुनाकर राजा को कोई चेतावनी देने की प्रार्थना की।

महाकवि बिहारीलालजी मनुष्य-स्वभाव के पारखी तो थे ही, अत. उन्होंने पूर्वापर विचार करके एक दोहा लिखा, जो शृंगारात्मक था। रंगमहल में शृंगारिक कविता पहुँचाने का कोई निषेध नहीं था, अतएव एक दासी के द्वारा बिहारीलालजी के आगमन की सूचना-सहित वह दोहा भेजा गया। वह दासी बिना किसी विघ्न-बाधा के उस दोहे को ले गई, और उसे महाराजा के हाथ में दे दिया। वह दोहा यह है—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहिं काल ;
अली कली ही सौं बँध्यौ, आगैं कौन हवाल ?
(बिहारी)

जब महाराज जयसिंह के पास बिहारीलालजी के आगमन की सूचना-सहित यह अन्योक्ति-गर्भित, सरस, उपदेश-पूर्ण दोहा पहुँचा, तब उन्होंने दोहे को ध्यान से पढ़ा। दोहा पढ़ते ही महाराज जयसिंह

का विलास-मद उतर गया। महाराजा जयसिंह को अली (भ्रमर) और मुग्धा रानी को कली बनाकर, कितनी विदग्धता से, कैसे अनूठे ढंग से, यह दोहा कहा गया है, इसे मर्मज्ञ देखें। इसमें अपने भौंरे की हित-कामना का बहुत ही गंभीर और हृदय-तल को हिला देने-वाला भाव है। अपने विषयासक्त, कामांध, उपकारी मित्र के भावी अनर्थ की चिंता से अत्यंत व्याकुल होनेवाले कृतज्ञ मित्र की कातरोक्ति का विशद चित्र इस दोहे में अनुपम है। इस दोहे के विषय में पं० पद्मसिंह शर्मा ने सर्जीवन भाष्य के भूमिका-भाग में ठीक ही कहा है—"कहनेवाले की एकांत हितचिंता, परिणामदर्शिता और विषया-सक्त मित्र के उद्धार की गंभीर चिंता के भाव इससे अच्छे ढंग पर किसी प्रकार प्रकट नहीं किए जा सकते।"

इस दोहे का प्रभाव भी खूब ही पड़ा। जिस कार्य को बड़े-बड़े धुरंधर राजनीतिज्ञ मंत्रियों के विवेक-पूर्ण प्रयत्न न कर सके, उसे बिहारीलालजी ने अपनी कविता के जादू से कर दिखाया। इस दोहे से जयसिंह की आँखें खुल गईं, और फिर शाहजहाँ के ध्यान के धक्के तथा राज्य-काज की चिंता से उनका वह मद उतर गया। उन्होंने सोचा, यदि महाकवि बिहारीलाल यहाँ से मेरी यह दशा देखकर निरादर-पूर्वक लौट जायँगे, तो शाहजहाँ रुष्ट हो जायगा। उस समय राज को खालसा से छूटे थोड़ा ही समय हुआ था। ध्यान रहे, आमेर-पति वीरवर महाराजा मानसिंह के वंश में जब कोई नहीं रहा, तब जहाँगीर ने जोधबाई के अनुरोध से आमेर की गद्दी और मिर्जा राजा की उपाधि मानसिंह के भाई के पोते जयसिंह को दी थी। गद्दी पाने के कुछ दिनों बाद ही उन्होंने मुग्धा रानी से नवीन विवाह किया था। दोहे के 'आगै कौन हवाल' पद के गूढ़ार्थ का भी राजा पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा, और उन्हें बिहारीलालजी को संतुष्ट कर लेना ही उपयुक्त जँचा। महाराज रंगमहल से बाहर निकल आए। उन्होंने

बिहारीलालजी का बड़ा आदर-सत्कार किया, और उन्हें इस सुंदर दोहे पर एक 'पसर' स्वर्ण-मुद्राएँ दीं। इतिहासों से भी यह भली भाँति प्रकट है कि महाराजा जयसिंह जैसे वीर थे, वैसे ही नीति-कुशल और देश-काल के जाननेवाले भी। उन्होंने सोचा, यदि बिहारीलालजी उनके यहाँ से जायँगे, तो वह उनकी स्त्रैणता एवं राज्य-काज-संबंधी उदासीनता का संवाद स्वयं बादशाह तथा अन्यान्य नृपतियों को सुनाते फिरेंगे। अत. महाराज ने बिहारीलालजी की काव्य-प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए उनसे कहा, यदि वह कुछ दिन आमेर में रहें, और ऐसे ही उत्कृष्ट दोहे बनावें, तो उन्हें प्रति दोहा एक मोहर भेंट की जायगी।

इसी समय चौहानी रानी भी राजा को अपनी सौत के वश से मुक्त एवं राज्य-काज में लगे हुए देखकर अत्यंत प्रसन्न हुईं। उन्होंने बिहारीलालजी को अपनी ड्योढ़ी पर बुलवाया, और बहुत-सा पारितोषिक तथा 'काली पहाड़ी' ग्राम उन्हें पुरस्कार में दिया। साथ ही यह भी कहा कि आप हमारी ड्योढ़ी के कवि होकर आमेर में ही निवास करें। चौहानी रानी ने उक्त घटना-संबंधी बिहारीलालजी का चित्र भी बनवाया, जो अभी तक जयपुर के एक महल में विद्यमान है। उस चित्र से उक्त घटना का समाचार सं० १६९२ का प्रतीत होता है। इससे सतसई-निर्माण आरंभ करने का काल भी विदित हो जाता है। इस चित्र से बिहारीलालजी की अवस्था ४० वर्ष के लगभग जान पड़ती है, अत' उनका जन्म संवत् १६५२ में मानना उपयुक्त जान पड़ता है। बिहारीलालजी भी राजकर्मचारियों, मंत्रियों, महाराज एवं महारानी द्वारा समादृत होकर वहाँ रहने और सतसई-निर्माण करने लगे।

उक्त घटना के दो-तीन मास के अनंतर चौहानी रानी के गर्भ से महाराज जयसिंह के उत्तराधिकारी कुँवर रामसिंह का जन्म हुआ।

इस अवसर पर जयपुर में बड़ा उत्सव मनाया गया। महाराज जयसिंह तथा चौहानी रानी ने बिहारीलालजी को भी इस अवसर पर बहुत-सा पुरस्कार देकर सन्तुष्ट किया। कहते हैं, इसी समय बिहारी-लालजी ने जयसिंह की प्रशंसा में यह दोहा कहा था—

चलत पाय निगुनी-गुनी धन-मनि-मुकुता-माल;
भेट भए जयसाह सों भाग चाहियतु भाल।

इसमें जयसिंह द्वारा बेशुमार धन लुटाए जाने का वर्णन है। उनके पास इस समय जो गया, वह खाली हाथ नहीं लौटा। हाँ, केवल भाग्यवान् ही उन तक पहुँच सके।

इसी सुअवसर के उपलक्ष्य में कुछ दिनों के उपरांत 'शीश-महल' में एक विशाल दरबार हुआ। इसमें महाराज ने बिहारीलाल-जी से कविता सुनाने के लिये कहा। महाकवि बिहारीलालजी ने उस समय की महाराज जयसिंह की शोभा का वर्णन करते हुए कहा—

यों राजत जयसाह दुति, दीपति दरपन-धाम,
सब जग जीतन को कियो काय-व्यूह मनु काम।

इस अवसर पर भी बिहारीलालजी को यथेष्ट पुरस्कार प्राप्त हुआ। महाराज जयसिंह शाहजहाँ के राजत्व-काल के आरंभ में खानजहाँ लोदी के साथ दक्खिन में थे। फारसी के इतिहास 'मआसिरुल उमरा' से एक लक्खी जादो * का पता चलता है, जो दक्खिन में दौलताबाद-सरकार के सदखेर का देशमुख और निज़ामशाही राज्य का एक बड़ा मनसबदार था। यही लक्खी जादो छत्रपति महाराज शिवाजी का नाना था। संभवतः इससे और महाराज जयसिंह से युद्ध हुआ था; और महाराज जयसिंह ने इसे परास्त किया था।

---

* मराठी इतिहासकारों ने इसका नाम लखूजी जादो लिखा है।

जब इसे परास्त कर महाराज जयपुर (आमेर) आए, तब बिहारीलालजी ने इस जीत के उपलक्ष्य में उन्हें यह दोहा सुनाया—

रहति न रन जयसाहि-मुख लखि लाखनु की फौज ;
जाँचि निराखरऊ चलैं लै लाखन की मौज।

इस दोहे से ज्ञान पड़ता है कि इस विजय की खुशी में जयसिंह ने ने खूब द्रव्य लुटाया था। इस अवसर पर बिहारीलालजी ने भी अवश्य ही बहुत-सा पुरस्कार प्राप्त किया होगा। बिहारीलालजी इस प्रकार समयानुकूल दोहे बनाते हुए सतसई का भी निर्माण करते रहे, जिसके दोहे वह समय-समय पर महाराज जयसिंह को सुनाते रहे, और उन्हें प्रति दोहा एक मोहर के हिसाब से पुरस्कार मिलता रहा।

इसी समय, संवत् १७०० के कुछ पूर्व ही, कुमार रामसिंह का विद्यारम्भ कराया गया। बिहारीलालजी चौहानी रानी के कृपा-पात्र और आदरणीय थे ही, अतएव वह कुमार रामसिंह के शिक्षक नियत हुए। इन्हीं कुमार रामसिंह के पढ़ाने के निमित्त बिहारीलालजी ने दोहों का एक संग्रह बना दिया। इसमें आदि में ५०० दोहे तो उन्होंने अपने रक्खे थे, और शेष अन्य कवियों की कविता थी। इस पुस्तक में बिहारी-सतसई के अतिरिक्त उनके पाँच दोहे और मिलते हैं, जिनमें से तीन ये हैं—

श्रीरानी चौहानि को करतब देखि रसाल,
फूलति है मन में सिया पहिरि फूल की माल।
दान ग्यान हरि-ध्यान कौ सावधान सब ठौर,
श्रीरानी चौहानि है रानिनु की सिर-मौर।
नित असीस हौं देत हौं, उर मनाइ जगदीस,
रामकुँवर जयसिंह को जीयौ कोरि बरीस।

ज्ञान पड़ता है, बिहारीलालजी ने सतसई का निर्माण जयसिंह

के कहने से ही किया था। यह बात विहारीलालजी के इस दोहे से भी प्रकट होती है—

हुकुम पाइ जयसाहि को हरि - राधिका - प्रसाद ;
करी विहारी सतसई भरी अनेक सवाद ।

संवत् १७०४ में महाराज जयसिंह औरंगजेब के साथ बलख की चढाई पर गए थे, और वहाँ से बडी चतुरता तथा वीरता से बादशाही सेना को पठानों तथा बर्फ से बचा लाए थे। इस पर उनका आगरे मे बडा सम्मान किया गया। उनके आमेर लौटने पर वहाँ भी बडा उत्सव मनाया गया। इस समय विहारी-सतसई के दोहे पूरे हो चुके थे, अत विहारीलालजी ने इसी घटना की प्रशंसा में निम्न-लिखित तीन दोहे और रचे, एवं सतसई में इन्हें जोड दिया—

सामाँ सेन सयान की सबै साहि के साथ ,
बाहु - बली जयसाहिजू फतै तिहारै हाथ ।
यौं दल काढ़े बलख तैं, तैं जयसाह भुवाल ;
उदर अघासुर के परे ज्यों हरि - गाय - गुवाल ।
घर - घर तुरकिनि हिंदुनी देति असीस सराहि ,
पतिनु राखि चादर - चुरी तैं राखी जयसाहि ।

इस प्रकार सतसई पूर्ण कर इसी अवसर पर विहारीलालजी ने उसे महाराज जयसिंह को समर्पित किया, और पुरस्कार एवं सत्कार प्राप्त किया।

विहारीलालजी आमेर में रहते हुए बादशाह शाहजहाँ के दरबार में जाते थे। वहीं उन्होंने पंडितराज जगन्नाथ त्रिशूली से अपने भांजे कुलपति मिश्र को पढाने के लिये कहा, जिसे पंडितराज ने सहर्ष स्वीकार कर लिया, और भले प्रकार कुलपति मिश्र को पढाया। सतसई समाप्त होने तक विहारीलालजी की स्त्री का देहांत हो चुका था, अतएव उन्होंने अपने गोद लिए पुत्र निरंजनकृष्ण (जो कृष्णलाल भी कह-

लाते हैं) को जयसिंह तथा रामसिंह के पास छोड़ा, और आप विरक्त होकर श्रीवृंदावन-धाम, अपने दीक्षा-गुरु श्रीनरहरिदासजी के पास, चले आए। कुँवर रामसिंह के कहने से कृष्णलाल ने बिहारी-सतसई पर एक गद्यात्मक टीका लिखी, जो संवत् १७१९ में पूर्ण हुई। इसी की समाप्ति का यह दोहा है—

संबत ग्रह ससि जलधि छिति छठि तिथि बासर चंद,
चैत मास पख कृष्ण मे पूरन आनँद-कंद।

कई लोग इसे बिहारी-सतसई की समाप्ति का काल बतलानेवाला मानते हैं, पर यह भ्रम है। यदि सतसई की समाप्ति का यह दोहा होता, तो प्राचीन टीकाओं और क्रमों मे इसका उल्लेख अवश्य होता। पर यह केवल लालचंद्रिका और एक अन्य अर्वाचीन गद्य टीका में है। लल्लूलालजी ने आज़मशाही क्रम अपनाया है, पर आजमशाही क्रम की किसी प्राचीन प्रति में यह नहीं पाया जाता। हाँ, एक गद्य टीका में—जो प्राचीन है, एव जिसकी प्रति पर लेखक का नाम नहीं है—यह पाया जाता है। यह प्रति श्रीयुत जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के पास थी। वह इसे कृष्णलाल की टीका कहते थे। अस्तु। यह कृष्णलाल मिर्ज़ा राजा जयसिंह के साथ औरंगज़ेब के दरबार में भी आया-जाया करते थे। यह बात उनके निम्न-लिखित छंद से, जिसे उन्होंने औरंगज़ेब की प्रशसा मे कहा है, विदित होती है। वह छंद यह है—

काँपत अमर खलभल मचै भुवलोक,
उडुगन-पति अति संकनि सकात हैं;
देस के दिनेस के गनेस सब काँपत हैं,
सेस के सहस फन फैलि-फैलि जात हैं।
आसन डिगत पाकसासन सुकृष्ण कवि,
हालि उठैं दुग्ग बड़े गंध्रप के ख्यात हैं;

चढ़ें तें तुरंग नवरंग साह बादसाह,
जिमीं आसमान थर-थर थहरात हैं।

विहारीलालजी को सतसई रचने के उपरात कविता से भी विरक्ति हो गई थी। विहारी-विहार में लिखा है—

डोरी लागी प्रेम की वृंदावन के माँहिं,
आए स्वामी-थान मे सुख-युत जनम सिराहिं।
कविता सों मन हटि गयो, लग्यो कान्ह सों ध्यान;
लाल विहारी ह्वै गए दास विहारी मान।

इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण का भजन करते हुए विहारीलालजी सवत् १७२१ मे परमधाम को सिधारे।

इस प्रकार बाल्यावस्था से ही धुरधर विद्वान्, प्रकाड पडित और बडे-बडे प्रसिद्ध महात्माओं का सत्सग प्राप्त कर, संस्कृत, फारसी, हिंदी, प्राकृत एव उर्दू आदि भाषाओं का पूर्ण अध्ययन कर, साहित्य एव सगीत मे पूर्णता प्राप्त कर, सम्राट्, महाराजा, राजा, राव, उमराव, मन्त्री, सरदार, विद्वान् एव महात्मा लोगों से अश्रुत-पूर्व सत्कार और पुरस्कार प्राप्त कर महाकवि श्रीविहारीलालजी ने अपनी जीवन-लीला सवरण की। विहारीलाल प्रेमी, उदार एव आत्माभिमानी कवि थे। उनमें जातीय प्रेम भी था। वह हिंदुत्व के अभिमानी थे। उन्होंने जीवन-भर किसी की अनुचित प्रशसा नहीं की। उनका जातीय प्रेम इसी से प्रकट है कि उन्होंने अपने महान् सरक्षक मिर्जा राजा जयशाह की उस विजय पर उनकी कुछ भी प्रशसा नहीं की, जो उन्हें औरगजेब की ओर से शिवाजी से लडने पर प्राप्त हुई थी।

विहारीलालजी के विषय में मिश्रबंधुओं ने भी लिखा है—

"विहारी ने शिवाजी की पराजय का हाल स्पष्ट नहीं लिखा, यद्यपि स्वयं मिर्जा राजा जयशाह ने उन्हें हराया था। इससे जान पडता है कि मुगलों की ओर से जयसाहि का शिवाजी से लडना इन्हें

भला नहीं लगा। इस बात से प्रच्छन्न रूप मे इनका जातीय प्रेम भी देख पड़ता है।"

(हिंदी-नवरत्न द्वि० सं०, पृ० स० ३०४)

बिहारीलालजी ने एक अन्योक्ति द्वारा मिर्ज़ा राजा जयशाह को शिवाजी पर चढ़ाई करने से रोकने की भी चेष्टा की थी। वह दोहा यह है—

स्वारथ-सुकृत न, श्रम बृथा, देख बिहंग, बिचारि ,
बाज पराए पानि पर तू पच्छीनु न मारि।

(बिहारी)

भावार्थ—हे बलवान् पक्षिराज बाज़ ! दूसरे (विजातीय) के वश मे होकर तू अपने स्वजातीय पक्षियों को न मार। हे स्वच्छंद विहारी, दूरदर्शी, विहग ! तू अपने मन में थोड़ा विचार करके तो देख। इस काम मे न तो तेरे किसी स्वार्थ की सिद्धि होती है, और न यह कार्य सत्कार्य ही है, जिससे यश और पुण्य प्राप्त हो। इसमें श्रम करना तुझे व्यर्थ है।

जयसिह पर इस दोहे का भी अच्छा प्रभाव पड़ा था, और वह शिवाजी से सधि कर उन्हे बादशाह औरंगज़ेब के पास मनसबदारी दिलवाने के लिये किस प्रकार ले आए थे, यह घटना इतिहास में अत्यंत प्रसिद्ध है। इस पर अधिक लिखना यहाँ अप्रासगिक जान पड़ता है। बिहारीलालजी मे जातीय भावना थी, इसके एकाधिक प्रमाण प्राप्त होते है। हिंदू-धर्म और हिंदू-सभ्यता के प्रबल शत्रु, अध-भक्त, मुस्लिम-पक्षपाती और अत्याचारी औरगज़ेब बादशाह के हिंदुत्व-विनाशक अत्याचारों का प्रभाव सहृदय महाकवि बिहारीलाल-जी पर अवश्य ही पड़ा था। उन्होंने ने महाराजा मानसिंह का जो चित्र अकित करके अपने निम्न-लिखित कवित्त में रक्खा है, उससे यह पता चलता है कि वह मानसिंह को हिंदू-हित-

रक्षक की दृष्टि से भी देखते थे। वह मानसिंह को उन हिंदुओं में से समझते थे, जो अवसर देखकर बादशाह से मिल गए थे, पर भीतर-ही-भीतर विदेशी मुसलमानों से द्वेष करते थे। वह अवसर प्राप्त होते ही बादशाह से मिलकर मुसलमानों को निर्बल करने का प्रयत्न करते थे। इतिहास से भी यह पता चलता है कि मानसिंह ने काबुल के मुसलमानों का बल तोड़ा था, और बंगाल के पठानों को बड़ी तेजी से कुचलने में अतुल शौर्य दिखाया था। स्वयं बादशाह अकबर भी मानसिंह को सशंक दृष्टि से देखता था। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कर्नल टॉड ने अपने Anna's of Rajasthan-नामक ग्रंथ में लिखा है "अकबर ने मानसिंह से डरकर उसे ज़हर देने का प्रयत्न किया था, जिसे भूल से खुद खा गया, और इसी कारण उसकी मृत्यु भी हुई।" अस्तु। जो हो, पर बिहारीलालजी ने मिर्जा राजा जयसिंह तथा उनके उत्तराधिकारी महाराज कुमार रामसिंह के सम्मुख उनके प्रबल प्रतापी पूर्व-पुरुष महाराज मानसिंह के चरित्र के जिस आदर्श को प्रशंसात्मक समझकर उपस्थित किया था, वह निम्न-लिखित कवित्त में है। बिहारीलालजी लिखते हैं –

महाराजा मानसिंह पूरब पठान मारे,
सोनित की सरिता अजौं ना सिमिटत है;
'सुकवि 'बिहारी' अजौं उठत कबंध कूदि,
आजु लगि रन तैं रनोही ना मिटत है।
आजु लौं पिसाचन की चहलन तैं चौंकि-चौंकि
सची-मघवा की छतियाँ सों लपिटत है;
आजु लगि ओढ़ैं हैं कपाली आली-आली खालैं,
आजु लगि काली-मुख लाली ना मिटत है *।

---

* सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ और विद्वान् स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसादजी जोधपुरी ने बड़े परिश्रम और खोज से राजपूताने के कवियों के विषय में जो

तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी मे जातीयता थी, एव उन्होंने अपने प्रिय शिष्य कुमार रामसिंह मे भी जातीय भावना भरी थी। यह बिहारीलालजी की ही शिक्षा का फल था कि महाराज रामसिंह के समय मे जब हिंदुओं के जातीय महाकवि भूषण त्रिपाठी आमेर गए, तब भूषण का यथोचित आदर-सत्कार हुआ, और उन्हें पुरस्कार भी दिया गया। उस समय भूषण ने उनके वश की प्रशसा मे निम्न-लिखित छद कहा था—

अकबर पायो भगवंत के तनै सों मान,
बहुरि जगतसिंह महा मरदाने सों,
'भूषन' यो पायो जहाँगीर महासिहजू सों,
शाहजहाँ पायो जयसिंह जगजाने सों।
अब अवरगजेब पायो रामसिंहजू सों,
औरौ दिन दिन पै है कूरम के माने सो;
केते रावराजा मान पावैं पातसाहन सो,
पावै पातसाह मान मान के घराने सों।

खैर, जो हो, पर यह स्पष्ट है कि बिहारीलालजी मे जातीय प्रेम और हिंदुत्व की भावना थी। तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी प्रखर-प्रतिभा-सपन्न कवि थे, जिन्हें अनेक विद्याओं और कलाओं का अच्छा ज्ञान था। वह प्रेमी पुरुष थे। भारत-प्रसिद्ध महात्माओं से लेकर सम्राट् तक उनका आदर करते थे। वह बहुदर्शी तथा देश-कालज्ञ महाकवि थे। उनका पाडित्य और अनुभव बेहद बढा-

---

'कविरत्न-माला' नाम की पुस्तक लिखी है, उसमें [illegible] बिहारी-लालजी का यह कवित्त मिर्जा राजा जयशाह के दादा महाराज मानसिंह की प्रशसा मे कहा गया लिखा है। इस कवित्त को कवि राजा मुरारिदान-जी ने भी अपने 'जसवन्तजसोभूषण' में [illegible] का ही माना है।

चढा था। काव्यानंद में मस्त रहना ही उनके जीवन का एकांत उद्देश्य था। इसी से उनकी कविता रस से सराबोर है। उसमें कला की प्रधानता है, उदेश की नहीं। हाँ, उत्तम कला के साथ कवि के अनुभव और ज्ञान का निचोड़ उसकी रचना में है, पर उसमें भी प्रधानता काव्य की है. वह तो आपसे आ गया है।

सतसई-परिचय

हिंदी-काव्य-शिरोमणि और सहज-रसीली ब्रजभाषा के पीयूषवर्षी महाकवि श्रीबिहारीलालजी की एकमात्र रचना उनकी सतसई है। इसमें सब मिलाकर सात सौ उन्नीस दोहे हैं। इसकी रचना मुक्तकों में हुई है, और मुक्तक-रचना मे जो गुण होना चाहिए, वह बिहारी की सतसई में अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त है, यह निस्संदेह है। इसका प्रत्येक छंद स्वतंत्र है। इसी से सतसई का कोई क्रम नहीं है। मुगल-सम्राट् औरंगज़ेब के पुत्र आजमशाह ने इसका एक क्रम स्थिर कराया था, जो आज़मशाही क्रम कहलाता है। सतसई के अनेक टीकाकारों ने इसी क्रम को अपनाया है। इस अनूठी, अप्रतिम काव्य-मजूषा सतसई में महाकवि बिहारीलालजी ने जिन दोहा-रत्नों को यत्र-तत्र बिखेरकर रक्खा है, उनकी चमक-दमक पर काव्य-रसिक और साहित्य-मर्मज्ञ सदियों से हृदय न्योछावर करते आए हैं। उनकी-सी लोकोत्तर-आनददायिनी कवि-कल्पना, उनकी-सी दूरदर्शिता, उनकी-सी बाह्य और अतरंग प्रकृति-पर्यवेक्षण-चातुरी, उनकी-सी भाव-माधुरी, उनकी-सी सजीव भाव-प्रतिमा, उनकी-सी व्यापक-ज्ञान-गरिमा, उनकी-सी व्याकरण-विशुद्ध, परम-परिमार्जित, अर्थ-गांभीर्य-पूर्ण, प्रसाद-गुणमयी, भाव-प्रवाहिका, सजीव अलंकृत, मधुर, प्रांजल भाषा, उनकी-सी सजीव-शब्द-चित्र-निर्माण-कारिणी कुशलता और उनकी-सी भाव-पूर्ण पद-स्थान-प्रणाली काव्य-जगत् के विरले ही महाकवियो की श्रेष्ठतम रचनाओं की इनी-गिनी सूक्तियों में कठिनता से प्राप्त हो सकती है।

बिहारी-सतसई में रस का सागर लहराता है। मनुष्य के मन-सागर की भावना-तरंगों के सहज-सुकुमार सजीव चित्र खींचने में बिहारीलाल-जी की प्रतिभा अप्रतिम है। मानव-जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर, प्राकृतिक तारतम्य का साम्य मिलाकर, अर्थ-गांभीर्य-पूर्ण, भावानु-गामिनी, सरल भाषा में मंजुल भावों की सजीव कल्पना-मूर्तियों को ललित-मधुर काव्य-कला के क्षेत्र में उपस्थित करने में बिहारीलालजी अद्वितीय ही हैं। इस सिद्ध सारस्वतीक महाकवि ने कुल ७१९ दोहों में अपने प्रगाढ़ पांडित्य, व्यापक ज्ञान, सर्वतोमुखी प्रखर प्रतिभा और परमोत्कृष्ट काव्य-कला-कुशलता का परिचय पूर्णरूपेण दे दिया है। इसमें नव रस, तेंतीस संचारी भाव, नव स्थायी भाव, संपूर्ण कायिक, मानसिक और सात्त्विक अनुभाव, नायक-भेद, नायिका-भेद, हाव, सखी, दूती, संयोग, विरह, विरह-निवेदन, मान, परिहास, दान, नख-शिख, छ ऋतु, भक्ति, धर्म-नीति, सामान्य नीति, राजनीति, अन्योक्ति, संपूर्ण अर्थालंकार, संपूर्ण शब्दालंकार, ध्वनि और व्यंग्य आदि के साथ-साथ सांसारिक विशाल अनुभव के सैकड़ों अनुभूत विषयों का प्रकृष्ट वर्णन देखकर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है। सतसई में काव्यांगों के ऐसे-ऐसे विशद उदाहरण भरे पड़े हैं, जिनकी जोड़ के उत्कृष्ट और साफ़ उदाहरण श्रेष्ठतम साहित्य-रीति-ग्रंथों में भी ढूँढ़े नहीं मिल सकते।

बिहारी-सतसई में शृंगार-रस का वर्णन प्रधान है। कारण यह है, शृंगार विश्व का आदि रस है। इसी रस की झलक हमें इस सृष्टि के रचयिता ब्रह्म की 'एकोऽहं बहु स्याम्' की भावना के अंतस्तल में दृष्टिगोचर होती है। यही एक ऐसा रस है, जिसमें संपूर्ण मनोभावों का वर्णन हो सकता है। इसी के द्वारा मनुष्य-जाति ने जीवन और उत्कर्ष प्राप्त करके अपनी परंपरा कायम रक्खी है, और उदार-हृदय होकर अनेक कलाओं तथा विद्याओं को प्रकट किया है। इसके स्थायी

भाव प्रेम के विषय में कहा ही क्या जा सकता है। यह निश्चित है कि प्रेम-भाव की समता का कोई भी भाव इस विश्व में नहीं है। प्रेम के आकर्षण सूत्र से ही इस संसार का सपूर्ण कार्य चलता है। फिर जिस रस का स्थायी भाव ही प्रेम हो, उसकी भावोत्कृष्टता और श्रेष्ठता के विषय में संदेह ही कैसे किया जा सकता है। इसी प्रेम से उदार-हृदय होकर ससार के भक्तों और दार्शनिकों ने परमात्मा के प्रति जीवात्मा के प्रेम का परिचय प्राप्त किया है। यही कारण है कि सपूर्ण विश्व के संपूर्ण प्रतिभाशाली महाकवियों की रचनाओं में शृंगार-रस के वर्णन प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। फिर इस रस का विस्तार भी सर्वापेक्षा अधिक है, और जितने भेदों तथा उपभेदों के साथ जितने मनोभावों का वर्णन इस रस में एव इसके साथ हो सकता है, उतना अन्य रस के साथ स्वप्न में भी सभव नहीं। इसी से यह कहा जाता है—"शृंगारी चेत्कविः काव्ये जात रसमय जगत्।" यदि कवि शृंगारी हो, तो उसकी रचना ससार को रसमय करने में पूर्ण समर्थ होती है। महाकवि बिहारीलालजी ने भी भाव-धारावाले साहित्य अर्थात् काव्य के प्रधान एव सर्वश्रेष्ठ मनोभाव प्रेम का वर्णन अद्वितीयप्राय किया है। इसमे भी मानवीय शृंगार और भक्ति-शृंगार के आर्य-साहित्य में जो दो प्रधान भेद माने गए हैं, उन दोनो का सतसई मे श्रेष्ठतम वर्णन पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त सतसई में जो कुछ रचना है, वह भी ऐसी उत्कृष्ट है कि उसे देखकर स्तमित होना पड़ता है। सच तो यह है कि इस महाकवि का प्रत्येक दोहा साहित्याकाश का समुज्ज्वल, प्रभा-पूर्ण नक्षत्र है। बिहारीलालजी ने सतसई मे जिस विषय को लिया है, उसका वर्णन इतना उत्कृष्ट किया है कि वहाँ तक अन्य कोई भी कवि, प्रयत्न करने पर भी, नहीं पहुँच सका। इस महाकवि ने भाषा और भाव का ऐसा अद्भुत मेल मिलाया है कि उसकी प्रशसा शब्दो में नहीं की

जा सकती। मानव-प्रकृति के कोमल-से-कोमल मनोभावों का वर्णन—काव्य-रीति का पूर्ण पालन करते हुए, बाह्य और आभ्यंतर प्रकृति के सामञ्जस्य के साथ, ध्वनि-काव्य में, शब्द और अर्थ के मनोहर अलंकारों में—जिस विदग्धता से इस महाकवि ने किया है, वह सर्वथा अवर्णनीय है।

'सतसई' या 'सतसैया' शब्द संस्कृत-भाषा के सप्तशती या सप्तशतिका शब्दों के रूपांतर हैं जिनका अर्थ 'सात सौ पद्यों का संग्रह' होता है। सतसई की रचना के पूर्व ही प्राकृत और संस्कृत में गाथा-सप्तशती (श्रीसातवाहन-संगृहीत) और आर्या-सप्तशती की रचना हो चुकी थी। महाकवि श्रीबिहारीलालजी ने सतसई की रचना प्रारंभ करने के पूर्व इन ग्रंथों का अध्ययन बारीकी से कर लिया था, और फिर इन्हीं आदर्श ग्रंथों के समान ब्रज-भाषा में सतसई की रचना की। बिहारी के पूर्व हिंदी में दोहों में सतसई लिखनेवालों में गोस्वामी तुलसीदासजी और कवि-श्रेष्ठ सम्माननीय दोहाकार रहीम ने मुक्तक-रचना के अच्छे चमत्कार दिखलाए हैं, पर विश्व-प्रसिद्ध महाकवि तुलसीदास की तुलसी-सतसई भी बिहारी-सतसई से बहुत नीचे रह गई है। बिहारी के बाद तो फिर ऐसी सतसइयों का एक ताँता लग गया। इनमें मतिराम-सतसई, शृंगार-सतसई, वृंद-सतसई, रतन-हजारा एवं विक्रम-सतसई आदि अच्छी रचनाएँ मानी जाती हैं। पर इनमें से एक भी उसे नहीं छू सकती। जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य में श्रीमद्भगवद्गीता का जैसा आदर हुआ, वैसा फिर राम-गीता, देवी-गीता, अष्टावक्र-गीता आदि को कभी न मिला। जिस प्रकार केवल 'गीता' कहने से श्रीमद्भगवद्गीता का बोध हो जाता है, उसी प्रकार हिंदी-साहित्य में 'सतसई' कहने से बिहारी-सतसई का बोध हो जाता है। विश्व-विख्यात महाकवि स्वगोसाईजी का आसन उनके महाकाव्य रामायण के कारण कितना

ही उच्च क्यों न हो, पर मुक्तक-रचना की दृष्टि से वह भी महाकवि विहारीलालजी के सामने नहीं ठहरते। विहारीलालजी की सतसई गाथा-सप्तशती, आर्या-सप्तशती और अमरुकशतक के समान ही नहीं, किंतु कई अंशों में उनसे भी श्रेष्ठ—बहुत श्रेष्ठ है।

सतसई के प्रारंभ काल से लेकर आधुनिक काल तक उसका एक-सा परमोच्च सम्मान सहृदय काव्य-मर्मज्ञों एवं साहित्य-मर्मज्ञ, ग्रंथकार महाकवियों तथा रीति-ग्रंथों में रहा है। इसकी प्रशंसा में निम्न-लिखित दोहे प्राचीन काल से ही अत्यंत प्रसिद्ध हैं, और अद्यावधि साहित्य-मर्मज्ञों में प्रमाण माने जाते हैं—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर;
देखत में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर।
ब्रजभाषा बरनी सबै कबिबर बुद्धि-बिसाल,
सबको भूषन सतसई रची बिहारीलाल।
जो कोऊ रस-रीति को समुझो चाहै सारु,
पढ़ै बिहारी-सतसई कबिता को सिंगारु।
उदै-अस्त लौं अवनि पै सबको याकी चाह,
सुनत बिहारी-सतसई सबहिं सराह-सराह।
भाँति-भाँति के बहु अरथ यामें गूढ़-अगूढ़,
जाहि सुनै रस-रीति को मग समुझत अति मूढ़।
बिबिध नायिका-भेद अरु अलंकार नृप-नीति;
पढ़ै बिहारी-सतसई जानै कबि रस-रीति।
करे सात सौ दोहरा सुकबि बिहारीदास,
सब कोऊ तिनको पढ़ै, सुनै, गुनै सबिलास।

सतसई के रचना-काल से ही इस अनुपम काव्य-कोष का अश्रुत-पूर्व गौरव रहा है। उसी समय से साहित्यिक महारथी इस गागर में भरे सागर की लहरों पर काव्य-मर्मज्ञता का पोत लिए भटकते फिरे

हैं। इनमें बड़े-बड़े महाकवि और साहित्य-शास्त्र-निष्णात विद्वद्वृंद-वंदित महापुरुष भी रहे हैं। हम देखते हैं, सतसई की रचना पूर्ण होते ही उस पर मानसिंह और कृष्णलाल कवि की गद्य-टीकाओं एवं कृष्ण कवि की पद्यात्मक टीका की रचना होती है। फिर उस समय से आज तक न-जाने कितनी गद्य-पद्यमयी टीकाएँ लिखी गईं और लिखी जा रही हैं। स्वर्गवासी जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'बिहारी-रत्नाकर' में अपने पास ५० टीकाओं का होना एवं उन्हें पढ़कर फिर 'रत्नाकरी' टीका लिखना स्वीकार किया है। पर यह संख्या ठीक नहीं है। मुझे 'मध्यप्रांतीय हिंदी-साहित्य का इतिहास' लिखने के संबंध में अपने प्रांत में बिहारी-सतसई की अनेक टीकाओं का पता लगा है, जिनका उल्लेख श्रीरत्नाकर एवं श्रीमिश्रबंधुओं ने नहीं किया है। इनमें चार पद्यात्मक टीकाएँ मेरे देखने में आई हैं, जिनमें साहित्यिक छटा का मनोरम रूप है। मेरा विश्वास है, हिंदी-साहित्य की खोज में उतनी टीकाएँ तो निश्चित रूप से मिल ही जायँगी, जितनी वर्ष आज बिहारी-सतसई की रचना को हुई हैं। इतनी टीकाएँ हिंदी-भाषा के किसी भी काव्य-ग्रंथ की नहीं हुईं। इन टीकाकारों में कविवर कृष्णलाल, कृष्ण कवि, कविवर सूरति मिश्र, कविवर ठाकुर, लल्लूलालजी, पठान सुल्तान, भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, कविवर प्रतापसाहि, अंबिकादत्त व्यास, घटिकाशतक, हरिप्रसाद शास्त्री, कविवर परमानंद, पं० पद्मसिंह शर्मा और बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की टीकाएँ अच्छी हुई हैं। इनका सम्मान भी है।

हिंदी-साहित्य का अध्ययन करनेवाले काव्य-मर्मज्ञों को यह भली भाँति विदित ही है कि महाकवि श्रीबिहारीलालजी के भाव हिंदी के जितने कवियों ने अपनाए हैं, उतने अन्य किसी के भी नहीं अपनाए। सतसई की भावोत्कृष्टता के कायल हिंदी के सैकड़ों

ही सुकवि थे, और इनमें भी श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कलाकार कवीश्वरों ने बिहारी-सतसई के आगे भावों के लिये हाथ फैलाए हैं। पचासों गद्य-पद्यात्मक टीकाओं की रचना हो जाने पर भी साहित्य-मर्मज्ञ, कला-निष्णात कवीश्वरों को संतोष न हुआ, और उन्होंने भावापहरण किया। पर उन तक कोई भी नहीं पहुँच सका। यह हिंदी का सौभाग्य है कि इसमें ऐसा अप्रतिम, प्रतिभाशाली महाकवि पैदा हुआ। बिहारी-सतसई के दोहों का भावापहरण कर मुक्तक लिखनेवालों में महाकवि मतिराम, प्रसिद्ध कवि देव, महाकवि और आचार्य श्रीभिखारीदास, महाकवि पद्माकर, कविवर महंत शीतलदास, शृंगार-सतसईकार रामसहाय, कविवर तोष, कविवर गिरिधरदास, कविवर रसलीन, कविवर रसनिधि, कविराज सुखदेव मिश्र, वृंद-सतसईकार कविवर वृंद, विक्रम-सतसईकार महाराज विक्रमादित्य, सुकवि मंचित, महाकवि हरिनाथ, महाकवि घनानंद, कविवर दूलह, कविवर घासीराम, महाकवि कालिदास त्रिवेदी, महाराजा मानसिंह 'द्विजदेव', चिरंजीवी कवि और कविवर किशोर आदि महान् एवं सुप्रसिद्ध काव्य-कला-निष्णात कवीश्वर हुए हैं *। यथार्थ तो यह है कि बिहारीलालजी के बाद ब्रज-भाषा में लिखनेवाला कदाचित् ही कोई ऐसा कवि मिले, तो मिले, जिसकी रचना पर बिहारी-सतसई का अमिट प्रभाव न पड़ा हो।

मानो बिहारी-सतसई के पद्यात्मक टीकाकारों एवं सतसई के दोहों का भावापहरण कर नवीन छंद बनानेवालों को लक्ष्य कर पं० पद्मसिंह शर्मा लिखते हैं—

"जरा से दोहे में जो अर्थ सिमटा बैठा था, वह वहाँ से निकलते

---

* इस प्रकार के भावापहरण के उदाहरण मैंने सैकड़ों की संख्या में संग्रह किए हैं, पर यहाँ उन्हें विस्तार-भय के कारण उद्धृत करने में असमर्थ हूँ।

ही इतना फला कि कुंडलियों और टीकाओं के बड़े मैदान में नहीं समा सका। मानो गंगा का उमड़ा वेग प्रवाह है, जो शिवजी की लटों से निकलकर फिर किसी के काबू में नहीं आता। इंजीनियर लोग कारस्तानी कर हारे, पर भागीरथी के प्रवाह को किसी बड़े-से-बड़े गड्ढे में भरकर रोक रखना सामर्थ्य से बाहर की बात है। हो नहीं सकता—ऐसा हो नहीं सकता।

गद्यात्मक टीकाकारों को लक्ष्य कर वीर-सतसईकार श्रीवियोगी हरि लिखते हैं "इनका एक-एक दोहा टकसाली और अनमोल रत्न है। ये रत्न क्षीरसागर के रत्नों से कहीं अधिक चोखे और अनोखे हैं। बिहारी-सतसई के रत्नों की अनेक जौहरियों ने परख की, किंतु उनकी ठीक-ठीक कीमत कोई भी नहीं पड़ताल सका। कितनी टीकाएँ हुईं, कितनी युक्तियाँ पेश की गईं, पर यह कभी नहीं सुनाई पड़ा कि अमुक सोरठे का केवल यही अर्थ है। सच है—

लिखन बैठि जाकी सबिहि गहि-गहि गरब गुरूर,
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।
(बिहारी)

'नूतन-नूतन' पदे-पदे देखकर 'नेति-नेति' ही कहते बनता है।'

हिंदी-साहित्य के संपूर्ण इतिहासकार अपने ग्रंथों में बिहारी-सतसई का यशोगान करते आए हैं। हिंदी के साहित्य-शास्त्र-विवेचकों ने सतसई के अनेक दोहे ध्वनि, व्यंग्य, रस एवं अलंकार के उत्कर्ष के संबंध में अपने मान्य गवेषणात्मक ग्रंथों में उद्धृत करते आए हैं। कवि-राजा मुरारिदान के 'जसवंत-जसोभूषण' और श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार के 'काव्य-कल्पद्रुम' में ऐसे अनेक उदाहरण स्थल-स्थल पर मिलेंगे।

हिंदी-भाषा के सर्वश्रेष्ठ माननीय कोष-ग्रंथ 'हिंदी-शब्द-सागर' में बिहारीलालजी एवं उनकी सतसई के विषय में लिखा है—

"शृंगार-रस के ग्रंथों में जितनी ख्याति और जितना मान

'बिहारी-सतसई' का हुआ, उतना और किसी का नहीं। इसका एक-एक दोहा हिंदी-साहित्य में रत्न माना जाता है। बिहारी-सबंधी एक अलग साहित्य ही खड़ा हो गया है। इतने से ही इस ग्र थ की सर्व-प्रियता का अनुमान हो सकता है। ... यही एक ग्र थ बिहारी की इतनी बड़ी कीर्ति का आधार है। यह बात साहित्य-क्षेत्र के इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा कर रही है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिमाण के हिसाब से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है। मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए, वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमे कोई सदेह नहीं। मुक्तक में उत्तरोत्तर अनेक दृश्यो के द्वारा सघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी पूर्ण अग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि एक मर्मस्पर्शी खड दृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणो के लिये मत्र-मुग्ध-सा हो जाता है। इसके लिये कवि को अत्यत मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा-सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यत सक्षिप्त और सशक्त भाषा मे प्रदर्शित करना पड़ता है। अत. जिस कवि मे कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की शक्ति को छोटे-से स्थल मे कसकर भरने की जितनी ही अधिक क्षमता होगी, उतना ही वह मुक्तक की रचना मे सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्तमान थी। इसी से वह दोहे-ऐसे छोटे छद मे इतना रस भर सके हैं। इनके दोहे क्या हैं, रस की छोटी-छोटी पिचकारियाँ हैं। वे मुँह से छूटते ही श्रोता को सिक्त कर देते हैं। बिहारी की रस-व्यजना का पूर्ण वैभव उनके अनुभावों के विधान मे दिखाई पड़ता है। अनुभावो और हावों की ऐसी सु दर योजना कोई शृ गारी कवि नहीं कर सका है। ... "

(आठवाँ खड, पृष्ठ १३५-१३६)

बिहारी-सतसई के अनुवाद देव-वाणी संस्कृत, राजभाषा अँगरेज़ी,

उर्दू और गुजराती आदि प्रांतीय भाषाओं में प्राप्त होते हैं। संस्कृत में सतसई के गद्य-पद्यात्मक तीन अनुवाद हैं। यदि देव-वाणीवाले देवता लोग किसी हिंदी-ग्रंथ की साहित्यिक महिमा को मान सके हैं, तो वह बिहारी-सतसई है। इस ग्रंथ-रत्न के अतिरिक्त अन्य कोई हिंदी अथवा बँगला, मराठी या गुजराती आदि प्रांतीय भाषाओं का काव्य-ग्रंथ संस्कृत-भाषा में इस प्रकार अनुवादित नहीं हुआ। अँगरेजी-साहित्य के मर्मज्ञ, समर्थ अँगरेज़ी समालोचक भी इस ग्रंथ-रत्न पर लट्टू हो जाते हैं। इसकी चर्चा में अनेक विद्वान् अँगरेज़ समालोचकों ने बड़ी प्रशंसा गाई है। भारतवर्ष के Imperial Gazetteer-जैसे प्रामाणिक और मान्य ग्रंथ में हिंदी के केवल तीन अतिरथियों की चर्चा की गई है। इनमें तुलसी, सूर और बिहारी हैं। इसमें सतसई और बिहारी के विषय में लिखा है—

"Surdas had many successors, the most famous of whom was Biharilal of Jaipur, whose Satsaiya, or collection of seven hundred detached verses is one of the daintiest pieces of art in any Indian Language. Bound by the rules of metre each verse had a limit of forty-six syllables, and generally contained less Neverthless each was a complete picture in itself, a miniature description of a mood or a phase of nature, in which every touch of the brush is exactly the needed one, and not one is superfluous The successive compression necessitated renders the poems extremely difficult and he has been aptly named 'The

mine of the Commentators' but no one who reads them can resist admiring the appropriateness and elegance alike of his diction and his thoughts. He is particularly happy in his description of natural phenomena, such as the scent-laden breeze of an Indian Glooming, the wayworn pilgrim from the Sandal South, adust, not from the weary road, but from his pollen quest, brow-headed with rose-dew for sweat, and lingering, reath the trees, resting himself, and inviting others to repose........ ..."

(Imperial Gazetteer of India, Vol II, p 423)

पाश्चात्य और पूर्वीय साहित्य-मर्मज्ञ श्रीएफ्० ई० की महोदय अपने 'A History of Hindi Literature'-नामक ग्रंथ में बिहारी एवं उनकी सतसई के विषय में लिखते हैं—

"The most celebrated Hindi writer in connection with the art of poetry is Biharilal Choube... . .. ...Biharilal's fame as a poet rests upon his Satsai, which is a collection of approximately seven hundred 'Dohas' and 'Sorthas'. The majority of the couplets take the shape of amorous utterances of Radha and Krishna, but each couplet is complete in itself They are intended to illustrate figures of rhetoric and other constituents of a poem. ....

.. ..Tulsidas had written a Satsai before the time of Biharilal as well as other Hindi poets But Biharilal has undoubtedly achieved very great excellence in this particular line, and his work has had a large number of commentators and many imitators .. ..Each couplet had to be complete in itself, and yet in such a small space the poet must give an entire picture Conciseness of style was therefore an absolute necessity, and besides this all the different artifices of Indian rhetoric had to be illustrated in turn The work of Biharilal is a triumph of skill and of felicity in expression ' (Pages 44)

हिंदी-साहित्य के धुरंधर विद्वान् समालोचकों ने इस ग्रंथ-रत्न की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हिंदी-साहित्य में तुलनात्मक समालोचना के आविष्कर्ता पं० पद्मसिंह शर्मा का मत है—

"सहृदय पाठकगण! यह बात अति प्रसिद्ध है कि व्रज-भाषा के साहित्य में 'बिहारी-सतसई' का दर्जा बहुत ऊँचा है। अनूठे भाव और उत्कृष्ट शब्द-गुणों की यह खान है, व्यंग्य और ध्वनि का आगर है। संस्कृत-कवियों में कवि-कुल-गुरु कालिदास जिस प्रकार शृंगार-रस-वर्णन, प्रसाद-गुण, उपमालंकारादि के कारण सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, इसी प्रकार हिंदी-कवियों में महाकवि बिहारीलालजी का आसन सबसे ऊँचा है। शृंगार-रस-वर्णन, पद-विन्यास-चातुरी, माधुर्य, अर्थ-गांभीर्य, स्वभावोक्ति और स्वाभाविक बोलचाल आदि गुणों में ये अपना जोड़ नहीं रखते। व्रज-भाषा की मधुरता तो

जगत्प्रसिद्ध ही है, फिर उसमें बिहारी की कविता ! 'हेम्नः परमा मोदः' सोने और सुगंध का योग है ! अथवा रत्न-जटित स्वर्ण के कटोरे मे मिसरी का शर्बत, नहीं, अमृत-रस, भरा हुआ है, जिसका पान करते ही मन तन्मय हो जाता है। आलकारिकों ने जो काव्य-रस को 'रसानद सहोदर' माना है, उसकी सत्यता का साक्षी अतःकरण बन जाता है (पृष्ठ २४५)। बिहारी के पूर्ववर्ती, समसामयिक और परवर्ती हिंदी-कवियो की कविता मे और बिहारी की कविता में भी कहीं-कहीं बहुत सादृश्य पाया जाता है। पर ऐसे स्थलों मे बिहारी अपने पूर्ववर्ती कवियों को प्रायः पीछे छोड गए हैं, समसामयिकों से आगे रहे हैं, और परवर्ती उन्हें नहीं पा सके हैं (पृष्ठ १००)। बिहारी की कविता शृंगारमयी कविता है। यद्यपि इसमे नीति, भक्ति, वैराग्य आदि के दोहों का भी सर्वथा अभाव नहीं है, इस रग में भी बिहारी ने जो कुछ कहा है, वह परिमाण मे थोड़ा होने पर भी भाव-गांभीर्य, लोकोत्तर चमत्कार आदि गुणो मे सबसे बढा-चढा है। ऐसे वर्णनों को पढकर-सुनकर बडे-बडे नीति-धुरधर, भक्त-शिरोमणि और वीतराग महात्मा तक झूमते देखे गए हैं। • बिहारी की कविता जितनी चमत्कारिणी और मनोहारिणी है, उतनी ही गहरी, गूढ और गंभीर है। उसकी चमत्कृति और मनोहरता का प्रमाण इससे अधिक और क्या होगा कि समय ने समाज की रुचि बदल दी, पर वर्तमान समय के सुरुचि-सपन्न कविता-प्रेमियों का अनुराग उस पर आज भी वैसा ही बना हुआ है। . उसकी गभीरता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि समय-समय पर अनेक कवि-विद्वानों ने उस पर पद्य में, गद्य में, संस्कृत में, हिंदी में, टीका-तिलक किए, पर .. . गहराई की थाह नहीं मिलती। . कोई भी टीकाकार चितेरा अपने अनुवाद-चित्र द्वारा बिहारी की कविता-कामिनी के अलौकिक लावण्य-भरित भाव-सौंदर्य को यथार्थतया

अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हो सका। सब खाली खाके खींचकर ही रह गए।"

(सतसई-सजीवन-भाष्य भूमिका-भाग)

पं० रामचंद्र शुक्ल हिंदी-साहित्य के माननीय विद्वान्, समालोचक हैं। इन्होंने भी अपने 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' में महाकवि बिहारी और उनकी सतसई की भारी प्रशंसा की है। इनका मत हिंदी-शब्द-सागर का ही मत है, जो पहले दिया जा चुका है। हिंदी के सुप्रसिद्ध समालोचक श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने अपने 'हिंदी-नवरत्न' में बिहारीलालजी के गुणों में भी दोष देखे हैं और उन पर अनेक अनर्गल एवं निंद्य आक्षेप किए हैं, पर इन महानुभावों को भी अंत में विवश हो यह लिखना ही पड़ा है—

"इस एक छोटे-से ग्रंथ (सतसई) में इस कविरत्न ने मानो गागर में सागर भर दिया है। इन्हीं १४५२ पंक्तियों में मानो सब कुछ आ गया है। और, कविता का कोई अंग, सिवा पिंगल के, नहीं छूटा। काव्य का यह छोटा-सा खज़ाना पाठक को चकित और स्तंभित कर देता है। इतने छोटे-से ग्रंथ में इतना चमत्कार अन्य कोई भी हिंदी-कवि नहीं ला सका। जैसे एकाग्रता और श्रम से इस कविरत्न ने काव्य का प्रताप-पुंज या चमत्कार इस छोटे-से भाजन में भर रक्खा है, वैसे ही इनका आदर भी बहुत कुछ हुआ। सिवा गोस्वामी तुलसीदास की रामायण के और कोई भी भाषा-ग्रंथ इतनी लोकप्रियता नहीं पा सका, जितनी सतसई ने पाई है। . .. बिहारी की दृष्टि संसार-भर के सभी पदार्थों पर बड़ी पैनी पड़ती थी। . .. इस कविवर ने संसार और प्रकृति का भी निरीक्षण बहुत अच्छा किया है, विशेषकर मानुषी प्रकृति का। इनके प्रायः सभी दोहों में प्रकृति-पर्यवेक्षण देख पड़ता है। . इस कवि ने घंटे-घंटे-भर की बात-चीत एक-एक दोहे में भर दी है। . ... मानुषी प्रकृति के संबंध की

जितनी बातें इन महाकवि ने लिखी हैं, और जितने चाज निकालकर इन्होंने रख दिए है, उनके आधे भी शायद हिंदी-भाषा का कोई अन्य कवि नही कर सका होगा। इन सात सौ दोहों में खूबियाँ ठूँस-ठूँसकर भरी हुई है। . . . इन महाकवि ने रूप-वर्णन में सीधा-सादा सच्चा रूप ही दरसा दिया है। .....प्रकृति-निरीक्षण और उसके यथोचित वर्णन मे यह कविवर भाषा-साहित्य में सर्व-श्रेष्ठ हैं। . . अच्छे पद्यों के बाहुल्य ही से यह ग्रंथ रामायण के बाद सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है। ...इन्होंने अपने बहुत-से ऐसे ऊँचे और खास विचार लिखे है कि इनके चातुर्य की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता।"

(हिंदी-नवरत्न, द्वि० सं०, पृ० २७८ से २६६ तक)

ब्रज-भाषा-साहित्य के सुप्रसिद्ध समालोचक पं० कृष्णविहारी मिश्र ने यद्यपि महाकवि बिहारीलालजी के साथ अपने ग्रंथ 'देव और बिहारी' में घोर अन्याय किया है, और उन्हें येन केन प्रकारेण देव से हीन सिद्ध करने के लिये उनके विषय में बहुत कुछ निंदात्मक ढंग से लिखा है, तथा उनके गुणों में भी दोष देखे हैं ; पर इतना तो उन्हें भी स्वीकार करना ही पड़ा है—

"ब्रज-भाषा-काव्य के गौरव कविवर बिहारीलाल को हिंदी-साहित्य-संसार मे कौन नही जानता। हिंदी-कविता का प्रेमी ऐसा कौन-सा अभागा व्यक्ति होगा, जिसे जगत्प्रसिद्ध सतसई के दो-चार दोहे न स्मरण होंगे? यह बड़े ही आनंद का विषय है कि......एक बार फिर सतसई पर समयानुकूल प्रचलित भाषा मे विद्वत्ता-पूर्ण सटीक ग्रंथ लिखे जाने लगे हैं। एक बार फिर सतसई की कीर्ति-कौमुदी के शुभ्रालोक में साहित्य-संसार जगमगा उठा है, यह कितने अभिमान और संतोष की बात है। बिहारीलाल का एक-एक दोहा उनके गंभीर अध्ययन की सूचना देता है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों

के काव्य का बड़े ही ध्यान के साथ मनन किया है (पृष्ठ ३१६)। बिहारीलाल का ज्ञान भी परिमित न था। दुनिया के ऊँच-नीच का उन्हे पूरा ज्ञान था। उनका अनुभव बेहद बढ़ा हुआ था। उनकी अन्योक्तियाँ चमत्कार-पूर्ण हैं।.. वह परम प्रतिभावान् कवि थे (पृष्ठ १३६)।" [देव और बिहारी, द्वि० स०]

आधुनिक काल के ब्रज-भाषा-मर्मज्ञ, सफल मुक्तक-लेखक कवीश्वरों मे स्वर्गीय जगन्नाथदास 'रत्नाकर', श्रीवियोगी हरि और श्रीदुलारे-लालजी भार्गव सर्व-श्रेष्ठ माने गए हैं। 'रत्नाकर' महोदय ने तो अपने जीवन के अनेक वर्ष सतसई के अध्ययन मे लगाकर 'बिहारी-रत्नाकर'-नामक टीका लिखी है, श्रीवियोगी हरि की सम्मति हम पहले उद्धृत कर आए हैं, और श्रीदुलारेलाल भार्गव ने तो 'बिहारी-रत्नाकर' के सपादकीय निवेदन मे स्पष्ट ही लिखा है —

"गोस्वामी तुलसीदासजी के राम-चरित-मानस के बाद सतसई ही समस्त सुशिक्षित समाज मे सबसे अधिक समादृत हुई है। जितना शृ गार-रस-वाटिका के इस सुविकसित और सुगधित सुमन का सौंदर्य सहृदयों के चित्त में चुभा, और आँखों मे खुबा है, उतना औरो का नहीं। अन्यान्य अनेक कवियों की कविता-कामिनियाँ भी कमनीयता मे कम नहीं, किंतु सतसई-सु दरी की-सी सु दरता उनमे कहाँ ? इस सु दरी की सरस सूक्ति चितवनों के विषय मे तो मानो स्वय कवि ने ही कह दिया है—

'अनियारे दीरघ नयनि किती न तरुनि जहान,
वह चितवन औरै कछू जिहि बस होत सुजान।'

सतसई के सुविस्तृत सम्मान के प्रमाण में इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि इस पर पचासों टीकाएँ बन जाने पर भी यह क्रम अभी तक जारी है। शृ गारी कवियो मे बिहारी का स्थान अत्यत ऊँचा है। नीति, भक्ति, वैराग्य आदि के दोहे भी उन्होंने अवश्य लिखे हैं, किंतु

सतसई मे प्रधानता शृंगार-रस ही की है। प्रत्येक पद्य उनकी प्रशस्त प्रतिभा का परिचायक है। उच्च कोटि की काव्य-कला, व्याकरण-विशुद्ध, परम-परिमार्जित भाषा और वाक्य-लाघव मे बिहारी अपना जोड़ नहीं रखते (पृष्ठ ११)।" *

आधुनिक काल मे भारत में विदेशियो की सत्ता के प्रभाव एवं विश्व की नवीन प्रगति के आघात से हिंदी-साहित्य में काव्य की जो नवीन धारा प्रवाहित हुई है, इसके मनस्वी और यशस्वी हिंदी-कवियों में कविवर प० सूर्यकात त्रिपाठी 'निराला' और कविवर प० सुमित्रा-नदन पत अग्रगण्य हैं। मै जब गत वर्ष लखनऊ गया था, तब श्रीदुलारेलालजी के यहाँ, कवि-कुटीर में, इन दोनो विद्वान् कविवरो से मेरी भेंट हुई थी। उस समय वार्तालाप के सिलसिले मे इन कुशल, कलाकार कवियों ने स्पष्ट शब्दों मे बिहारीलालजी को अत्यत श्रेष्ठ कलाकार, महाकवि और सतसई को उच्च कोटि की काव्य-कला का अनूठा निदर्शन स्वीकार किया था। निष्कर्ष यह कि जगत्-प्रसिद्ध सतसईकार, महाकवि बिहारीलालजी विश्व के इने-गिने सम्माननीय, सर्वश्रेष्ठ कलाकारों मे से हैं, और उनकी कृति सतसई काव्य-कला के चरम उत्कर्ष का आदर्श है।

---

* श्रीराधाचरण गोस्वामी ने बिहारीलालजी की रचना के विषय में लिखा है—

"यदि 'सूर सूर, तुलसी शशी, उडुगन केशवदास' हैं, तो बिहारी पीयूष वर्षी मेघ है, जिसके उदय होते ही सबका प्रकाश आच्छन्न हो जाता है, फिर जिसकी वृष्टि से कवि-कोकिल कुहकने, मनोमयूर नृत्य करने और चतुर चातक चुहकने लगते हैं। फिर बीच-बीच मे जो लोकोत्तर भावों की विद्युत चमकती है, वह हृदयच्छेद कर जाती है।"

भाषा-विचार

किसी काव्य की उत्तमता की जाँच करने के लिये हमें केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त नहीं है कि उसमें विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से परिपुष्ट स्थायी भाव किस प्रकार रस बनकर काव्य में लोकोत्तर-आनंद प्रदान कर रहा है, वरन् यह भी आवश्यक है कि हम उस काव्य की भाषा को भी ध्यान-पूर्वक देखें। यह समझना भूल है कि व्यापारिक भाषा के समान काव्य की भाषा केवल भाव प्रकट करने का साधन है; क्योंकि यथार्थ में काव्य की भाषा का उद्देश्य भाव को मूर्तिमान् करने का है। भाषा का भावानुगामिनी होना अत्यत आवश्यक है। यदि भाव कविता का प्राण है, तो भाषा कविता का शरीर। सुंदर स्वभाववाली नारी, जिसका शरीर सुडौल न हो, रंग अच्छा न हो, मन को मोहने में सहसा समर्थ नहीं हो सकती। इसी प्रकार भाव-संपत्ति-युक्त कविता में यदि सुंदर भावानुगामिनी भाषा न हो, तो वह भी मनोमोहक नहीं होती। इस प्रकार की कविता अधिक प्रशसनीय भी नहीं होती।

सच्चा कवि भावावेश में लिखता है, अतएव सच्ची या उच्च कोटि की कविता में भाषा भी भावानुगामिनी होती है। भाव की चपलता या गंभीरता आदि पर भाषा की चपलता या गभीरता भी निर्भर है। जिस कविता में भावानुरूपिणी भाषा न हो, वह श्रेष्ठ कविता नहीं कहला सकती। अँगरेज़ी-भाषा में महाकवि पोप ने अपने समालोचना पर निबंध (Essay on Criticism) में लिखा है—

"It is not enough, no harshness gives offence,

The sound mustseem an echo to the sense"

"काव्य की भाषा में यही पर्याप्त नहीं है कि भाषा में कर्णकटुता न हो, पर यह भी आवश्यक है कि शब्दावली के उच्चारण-मात्र से अर्थ ध्वनित हो जाय।"

भाव के अनुरूप भाषा मे एक निराला प्रवाह होता है, जिसे हम भाषा का स्वाभाविक प्रवाह कह सकते हैं। इसके सिवा भाषा का शुद्ध और समुचित रूप से नियन्त्रित होना आवश्यक है। भाषा में सरलता या सुनते ही अर्थ व्यक्त करने का प्रधान गुण होने की व्यवस्था दी गई है। जिस प्रकार मनुष्य में सुंदरता, सत्यता एव उदारता आदि गुण हैं, उसी प्रकार काव्य की भाषा में भी माधुर्य, ओज और प्रसाद-गुण हैं। प्राचीन आचार्यों ने काव्य के इन गुणों को रस-उत्कर्ष का हेतु माना है, और इन्हें काव्य की भाषा के गुण न कहकर काव्य के ही गुण कहा है। काव्य मे गुण की आवश्यकता बतलाते हुए भगवान् वेदव्यासजी ने अग्निपुराण में कहा है—

अलङ्कृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्;
वपुष्यललितं स्त्रीणां हारो भारायते परम्।

"गुण-हीन काव्य अलकार-युक्त होते हुए भी प्रिय नहीं होता। नारी के सौंदर्य-रहित शरीर में हार केवल भार-स्वरूप होते हैं।"

मुख्य गुण तीन ही माने गए हैं। 'साहित्य-दर्पणकार' ने लिखा है—

गुणा माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा।

"माधुर्य, ओज और प्रसाद—ये तीन प्रकार के गुण हैं।"

माधुर्य-गुण

माधुर्य का शब्दार्थ 'माधुर्य सौम्यत्वे' के अनुसार सौम्यता है। सौम्यता से मन द्रवीभूत होता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि

जिस रचना के सुनने से मन द्रवीभूत होता है, वह रचना माधुर्य-गुण-युक्त होती है।

माधुर्य के विषय में श्रीमम्मटाचार्यजी 'काव्य-प्रकाश' में कहते हैं—

"आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्;
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।

"आह्लादकता माधुर्य है। यह द्रुति अर्थात् मन को द्रवीभूत करने का कारण है। यह शृंगार-रस में रहता है, और करुण, विप्रलंभ, शृंगार तथा शांति-रस में अतिशय रूप में होता है।" (माधुर्य गुण को वियोग-शृंगार में अतिशय-युक्त कहने से यह तात्पर्य है कि संभोग शृंगार में कभी कठोरता भी संभव है)।

साहित्य-दर्पणकार प० विश्वनाथजी भी कहते हैं—

चित्तद्रवी भावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते;
सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्।

"मन को द्रवीभूत करनेवाले आह्लाद को माधुर्य कहते हैं। यह गुण संभोग-शृंगार, करुण-रस, विप्रलंभ-शृंगार एवं शांति-रस में क्रम से अधिकाधिक रहता है।

यथार्थ में जिस रचना में ट, ठ, ड, ढ, ड़, ढ़ का अभाव हो, मीलित वर्णों का बाहुल्य न हो, लंबे-लंबे समास न हों, और अनुस्वार-युक्त वर्णों का बाहुल्य हो, एवं कोमल-कांत पदावली हो, वह माधुर्य-युक्त होती है। इसमें सानुनासिक वर्णों का आना शोभाकर है। जैसे—

अरुन बरन तरुनी चरन अँगुरी अति सुकुमार;
चुँवति सुरँग रँग सी मनौ चँपि बिछियन के भार।
(बिहारी-सतसई)

महाकवि बिहारी के इस दोहे में न तो ट, ठ, ड, ढ, ड़, ढ़ कटु वर्ण हैं, न लंबे समास हैं, और न दीर्घ वर्णों का बाहुल्य है। इसमें

अनुस्वार-युक्त वर्णों एवं सानुनासिक वर्णों का बाहुल्य है। मीलित या संयुक्त वर्णों का भी सर्वथा अभाव है। इसमें संगीत की-सी मधुर ध्वनि शब्दावली के उच्चारण-मात्र से ध्वनित होती है।

ओज-गुण

'ओजो दीप्तौ' के अनुसार ओज का अर्थ दीप्ति है। दीप्ति-युक्त वस्तु से, जैसे सूर्य आदि से, मन तेज-युक्त होता है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि जिस गुण से मन तेज-युक्त हो, उसे काव्य में ओज-गुण कहते हैं।

श्रीमम्मटाचार्यजी कहते हैं—

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः ;
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।
(काव्यप्रकाश)

"ओज दीप्ति है। यह मन को तेज-युक्त करने में कारण है। इस गुण की वीर-रस मे स्थिति है। बीभत्स और रौद्र रस मे क्रम से इसका आधिक्य रहता है।"

'आत्मविस्तृति' का अर्थ यहाँ मन का विस्तार है। तेज-युक्त मन का विस्तार होता ही है।

साहित्य-दर्पणकार कहते हैं—

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ;
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु।

"चित्त की विस्ताररूपिणी दीप्ति को ओज कहते हैं। वीर, बीभत्स और रौद्र रस मे इसका क्रमानुसार आधिक्य रहता है।"

यह वर्ग के प्रथम और द्वितीय वर्ण, ट, ठ, ड, ढ, ड, ढ़, श, ष अथवा रेफ, संयुक्त या मीलित वर्णों और लंबे-लंबे समासों के बाहुल्य से युक्त रचना मे होता है। इसमे वह घटना रहती है, जिसका वर्णन औद्धत्य-युक्त होता है। मेरे विचार से भकार का अधिक प्रयोग ओज-

गुण में भला लगता है। महाकवि भूषण त्रिपाठी की रचना में इसके उत्तम उदाहरण हैं। यहाँ इस गुण का उदाहरण देखिए—

डहडहे डंकन के सबद निसंक होत,
बहबही सत्रुन की सेना जोर सरकी;
'हरिकेस 'सुभट-बटान की उमंहि उत,
चंपत को नंद कोप्यो उमँग सम' की।
हाथिन की मड, मारू राग की उमंड त्यों-त्यों
लाली झलकति मुख छत्रसाल बर की,
फरकि-फरकि उठैं बाँहैं अस्त्र बाहिबे को,
करकि-करकि उठैं करी बखतर की।
(हरिकेश कवि)

प्रसाद-गुण

'प्रसादो नैर्मल्ये' के अनुसार प्रसाद का पर्यायवाची शब्द निर्मलता है। काव्य के भाव में बुद्धि को शीघ्र प्रवेश कराने की निर्मलता प्रसाद-गुण में रहती है। क्लिष्टत्व-दोष की मलिनता से यह रहित है। यह प्रसाद-गुण काव्य में प्रशसनीय है। कवि-कुल-कुमुद-कलाधर गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है—"सरल कबित कीरति बिमल तेहि आदरहिं सुजान।"

आचार्य-प्रवर श्रीमम्मट कहते हैं—

शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छे जलवत्सहसैव यः;
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थिति.।
(काव्यप्रकाश)

"सूखे ईंधन में अग्नि के समान, स्वच्छ वस्त्रादि में जल के समान जो शीघ्र ही दूसरे में व्याप्त होता है, वह प्रसाद-गुण है। इसकी स्थिति काव्य में सर्वत्र है।"

साहित्य-दर्पणकार इसी का अनुकरण करते हुए लिखते हैं—

चित्त व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ;
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।

"जो समस्त रसों और रचनाओं में चित्त को, सूखे ईंधन में अग्नि के समान, शीघ्र व्याप्त करे, वह प्रसाद-गुण है।"

मेरे विचार से जिस काव्य को बुद्धि शीघ्र ही ग्रहण कर ले, जो सुनते ही समझ में आ जाय, वह काव्य प्रसाद-गुण-युक्त है। यही उपर्युक्त मतों का तात्पर्य है। समर्थ महाकवियों की वाणी मे यह गुण अवश्य रहता है। साहित्य-दर्पण मे पं० विश्वनाथजी इस गुण के विषय में अपना यह मत देते हैं—

अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्ये गुणे नैव परिग्रहः ;
अर्थव्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थे समर्पणम्।

"प्रसाद नामवाले गुण में अर्थ व्यक्त करने का गुण होता है। इसमें पदो का तुरत ही अर्थ बोध कराना अर्थ-व्यक्ति है।"

इसका उदाहरण यह है—

राम-नाम-अवलंब बिन परमारथ की आस,
तुलसी बारिद-बूँद गहि चाहत चढ़न अकास।

इस प्रकार माधुर्य-गुण शृंगार, करुण और शांति-नामक रसों में, ओज-गुण वीर, बीभत्स और रौद्र-नामक रसों में एवं प्रसाद-गुण संपूर्ण काव्य में—नवों रसों में—अपेक्षित है। हास्य, भयानक और अद्भुत रस में किसी विशेष गुण का नियम नहीं। इनमे कभी माधुर्य और कभी ओज रहता है, जो वर्णित विषय के अनुकूल होता है।

यहाँ रसों मे गुणों का कथन करने से यह न समझना चाहिए कि रस-हीन निकृष्ट काव्य मे गुण नहीं होते, वरन् यह समझना चाहिए कि शृंगार, करुण और हास्य-रस में ओज-गुण नहीं आना चाहिए, और वीर, वीभत्स एवं रौद्र रस में माधुर्य नहीं आना चाहिए। यदि इसे न मानें, तो काव्य असुंदर और प्रभाव-हीन हो जायगा। पुत्र-

जन्म के उत्सव में रण-भेरी और मारू बाजे नहीं सुहाते। युद्ध के समय सितार की गति नहीं भाती। उपयुक्त वाद्य-विशेष उपयुक्त समय-विशेष में प्रभावोत्पादक होने से भले लगते हैं। माधुर्य और ओज की भी यही दशा है। शृंगारादि में माधुर्य और वीरादि में ओज ही सुहावना लगता है।

कई आचार्यों ने अनेक गुण माने हैं, पर उपर्युक्त तीन गुणों की प्रधानता सभी ने स्वीकार की है। संस्कृत में वामनाचार्य आदि और हिंदी में भिखारीदास आदि ने दस गुण माने हैं। वे ये हैं—(१) माधुर्य, (२) ओज, (३) प्रसाद, (४) श्लेष, (५) समता, (६) सुकुमारता, (७) समाधि, (८) कांति, (९) उदारता और (१०) अर्थ-व्यक्ति। भाषा के प्रसिद्ध आचार्य श्रीपति १० शब्द-गुण और ८ अर्थ-गुण, इस प्रकार कुल १८ गुण मानते हैं। वे ये हैं—१० शब्द-गुण—(१) उदारता, (२) प्रसाद, (३) उदात्त, (४) समता, (५) शांति, (६) समाधि, (७) उक्ति-प्रमोद, (८) माधुर्य, (९) सुकुमारता, और (१०) संक्षिप्त। ८ अर्थ-गुण—(१) भव्यकल्प, (२) पर्यायोक्ति, (३) सुधर्मिता, (४) शब्दता, (५) अर्थव्यक्त, (६) श्लेष, (७) प्रसन्नता और (८) ओज।

धाराधीश महाराज भोज ने सरस्वती-कंठाभरण में २४ गुण माने हैं, इनमें से दस तो वे ही हैं, जिन्हें वामनाचार्य आदि ने माना है, और शेष १४ के नाम (११) उदात्तता, (१२) और्जित्य, (१३) प्रेय, (१४) सुशब्दता, (१५) सूक्ष्मता, (१६) गांभीर्य, (१७) विस्तार (व्यास), (१८) संक्षेप, (१९) सम्मित, (२०) भाविक, (२१) गति, (२२) रीति, (२३) उक्ति और (२४) प्रौढोक्ति।

वैसे तो ये सभी गुण आवश्यक हैं, क्योंकि इनसे शब्द और अर्थ का सौंदर्य बढ़ता ही है, पर मेरे विचार से इतने गुण मानना केवल सूक्ष्मातिसूक्ष्म गहन भेद करके विस्तार बढ़ाना है। फिर इनमें से

अनेक गुण अर्थालंकारों व शब्दालकारों मे आ ही जाते हैं। यदि काव्य में कवि-भाव की उत्तमता के साथ-साथ भाषा मे प्रसाद, माधुर्य और ओज, इन तीनो गुणों का ध्यान रक्खे, और अपनी रचना में इन तीनो गुणों का विचार-पूर्वक समावेश करे, तो उपर्युक्त अनेक गुण उसकी कविता में स्वयमेव आ जायँगे। श्लेष का वर्णन अलंकार के पृथक् विषय से सबध रखता है। हिंदी-साहित्य के माननीय धुरधर साहित्याचार्य श्रीभिखारीदासजी का मत भी यही है। वह लिखते हैं—

माधुर्योज प्रसाद के सब गुन हैं आधीन,
तातें इनहीं कों गनें मम्मट सुकबि प्रबीन।
(काव्य-निर्णय)

इन्होंने भाषा में इन गुणों के अतिरिक्त अनुप्रासादि शब्दालकारों की आवश्यकता बतलाते हुए कहा है—

रस के भूषित करन तें गुन बरनें सुखदानि,
गुन भूषन अनुमान कै अनुप्रास उर आनि।

इसमें सदेह नहीं कि अनुप्रास गुण को चमका देते हैं। गुण रस के उत्कर्ष का हेतु बन जाता है। अनुप्रास गुण-विशेष को लगातार स्थिर रखकर रस को सुस्वादु और प्रभावशाली बना देता है। इससे अनुप्रास का होना आवश्यक है। पर यह ध्यान रहे कि रस के अनुकूल अनुप्रास हों, एव भाषा भावानुगामिनी तथा स्वाभाविक प्रवाह-युक्त बनी रहे। अनुप्रास लाने के लिये शब्दों की कपाल-क्रिया करना व्याकरण-हीन एव असमर्थ भाषा लिखना या भाषा की स्वाभाविकता नष्ट करना अर्थात् उसे स्वाभाविक प्रवाहमय न रहने देना कदापि प्रशसनीय नहीं है। अनुप्रास वही प्रशसनीय एव वांछनीय है, जो काव्य की भाव-राशि में बाधा न डाले।

इसके अतिरिक्त श्लेष भी भाषा-सौंदर्य का कारण है, पर उसके

कारण रचना में क्लिष्टत्व-दोष न आना चाहिए। श्लेष केवल ऐसे शब्दों का होना चाहिए, जिनके एक से अधिक अर्थ प्रचलित भाषा में हों, और जिन्हें लोग सहज ही समझ सकते हों। तात्पर्य यह कि श्लेष के शब्दों में अनेक अर्थ स्पष्ट भासित होना चाहिए, जिससे माथा-पच्ची करके अर्थ न निकालना पड़े; क्योंकि ऐसा श्लेष रस के प्रवाह में बाधक हो जाता है। भाषा भी सरल होनी चाहिए।

काव्य की भाषा में यमक की भी आवश्यकता है, क्योंकि यह भी भाषा की श्री-वृद्धि करता है। परन्तु यमक ऐसे ही शब्दों में हो, जिनके अर्थ स्पष्टतया परिलक्षित हों। ये भी ऐसे न हों कि भाषा को जटिल बनाकर रस-प्रवाह में बाधक हों। यमक से काव्य में निराली छटा आ जाती है। जैसे—

> वर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न,
> हरिनी के नैनान तें हरि नीके ये नैन।
>
> (बिहारी सतसई)

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त यह भी ध्यान रहे कि काव्य की भाषा देश, काल और पात्र के सर्वथा अनुकूल हो। भाषा किसके मुख से निकल रही है, कहनेवाले ने किससे कही है, एवं किस परिस्थिति में, क्यों कही है, इस बात का विचार कविता की भाषा में—काव्य की भाषा में—अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि इससे भाषा में सजीवता रहती है। यदि भाषा सजीव न हो, उसमें वक्ता के मनोविकार की ध्वनि न हो, उसमें वक्ता के हृदय के आह्लाद, क्रोध, शोक, चिंता एवं व्यग्रता आदि की प्रतिध्वनि न हो, तो फिर उस निर्जीव भाषा में माधुर्य, यमक, अनुप्रास आदि, मृतक नारी के अंग के आभूषणों के समान, निरर्थक हैं।

भाषा में शब्दों के उचित, उपयुक्त प्रयोग पर पूर्ण ध्यान देना परमावश्यक है, क्योंकि प्रत्येक शब्द के स्वरूप और अर्थ में कुछ

विशेषता होती है। शब्द का वज़न तौलकर यथास्थान औचित्य-पूर्ण प्रयोग ही कवि की कुशलता का परिचायक है। यथार्थ में चुने हुए उत्तम शब्दो का सर्वोत्तम क्रम से यथास्थान प्रयोग करना ही काव्य की भाषा का प्रधान उद्देश्य होना चाहिए। अँगरेज़ी-भाषा के सुप्रसिद्ध महाकवि लॉर्ड टेनिसन का मत यह है कि—

"All the charm of all the muses often flowing in a lovely word'"

"बहुधा कविता के एक ही शब्द मे सपूर्ण कलाओ का अशेष सौंदर्य उमड पड़ता है।"

तात्पर्य यह कि सामजस्य-पूर्ण साहित्यिक भाषा भावानुगामिनी, अलकृत, सरल और सुसघटित तथा मँजे हुए शब्दों से युक्त, प्रवाहमयी होनी चाहिए। अब देखिए, बिहारी-सतसई मे भाषा का कैसा सौष्ठव है।

> ब्रजभाषा बरनी सबै, कबिवर बुद्धि-बिसाल;
> सबकी भूषन सतसई रची बिहारीलाल।

महाकवि श्रीबिहारीलालजी ने जिस भाषा में सतसई लिखी है, वह ब्रज-भाषा है। बिहारीलालजी के पूर्व ब्रज-भाषा मे अनेक सुकवि हो गए थे। इनमें से श्री १०८ हितहरिवशजी एव सूरदास सर्वापेक्षा महान् हैं। इन कवीश्वरो ने ब्रज-भाषा मे बहुत सुधार करके उसे साहित्यिक-भाषा बनाने का भगीरथ परिश्रम किया था, यह इनकी रचनाओं से स्पष्ट विदित हो जाता है। यद्यपि साहित्य-सूर्य श्रीसूरदासजी ब्रज-भाषा के परम प्रशसनीय एव माननीय कवि हैं; पर इनकी भाषा प्रसाद, माधुर्य आदि-सहित होते हुए भी बहुत उच्च कोटि की साहित्यिक भाषा नहीं है। थोड़े मे अधिक कहना—वह भी प्रयोग-साम्य, स्वाभाविक प्रवाहमयी, समुचित भावानुगामिनी भाषा में कहना—बड़ा ही दुस्तर है।

महाकवि बिहारीलालजी की भाषा में काव्य की भाषा में जिनकी आवश्यकता है, वे सब गुण ओत-प्रोत हैं। शब्दों का प्रयोग सतसई में बड़े ही अनूठे ढंग से, वजन तौलकर, देश, काल, पात्र का ध्यान रखकर, किया गया है। बिहारीलालजी की भाषा में मनोभावों का प्रतिबिंब निर्मल दर्पण की तरह झलकता है। बहुत थोड़े में गंभीर अर्थ ध्वनित करनेवाले सुंदर-से-सुंदर प्रचलित शब्दों की सुघर सजावट, रसानुकूल भाषा का प्रवाह, मुहाविरे की तेजी आदि सभी दर्शनीय हैं। फिर बिहारीलालजी ने माधुर्य और प्रसाद को तो अनुचर-सा बना डाला है।

व्याकरण-विशुद्ध, परिमार्जित भाषा और वाक्य-लाघव में बिहारीलालजी अद्वितीय हैं। पद-विन्यास-चातुर्य, माधुर्य, अर्थ-गांभीर्य और स्वाभाविक बोल-चाल आदि गुणों में वह सर्वश्रेष्ठ हैं। हिंदी-साहित्य-मर्मज्ञ सुकवि और सुलेखक स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदासजी का मत है—

"मुहाविरे और उत्प्रेक्षा के तो बिहारीलाल बादशाह थे। हिंदी में ऐसी बोल-चाल और ऐसे गठे हुए वाक्य किसी की कविता में नहीं पाए जाते। उर्दू के कवि-कुल-भूषण नसीम और अनीस भी कदाचित् बोल-चाल में इनके सामने न ठहर सकेंगे।"

(कविवर बिहारीलाल, पृष्ठ १७)

मिश्रबंधु भी नवरत्न में लिखते हैं—

"इन बातों पर ध्यान देने से विदित होता है कि बिहारीलालजी की भाषा बहुत मनोहर है। इन्होंने सभी स्थानों पर लहलहात, झलझलात, जगमगात आदि ऐसे-ऐसे बढ़िया और सजीव शब्द रक्खे हैं कि दोहा चमचमा उठता है। इसी प्रकार जैसा वर्णन किया है, उसी के अनुसार भाषा भी लिखकर उसका रूप खड़ा कर दिया है।"

(हिंदी-नवरत्न द्वि० सं०, पृष्ठ २६१)

और भी लिखते हैं—"इस कविरत्न की बोल-चाल बहुत ही स्वाभाविक है। इन महाकवि ने इबारतआराई भी खूब ही की है।"

(पृष्ठ २६०)

प० पद्मसिंह शर्मा का मत है कि बिहारी-सतसई की भाषा सर्व-श्रेष्ठ, परम रसीली है। उसे छोड़कर जो दूसरी भाषा पढ़ते हैं, उनसे सहृदयता मचल-मचलकर कहती है—"जीभ निबौरी क्यों लगै, बौरी चाखि अँगूर।" अस्तु।

बिहारीलालजी की भाषा में बोल-चाल की कैसी उत्कृष्टता है, इसे उनका प्रत्येक दोहा दिखला रहा है, फिर भी अपने पाठकों को यहाँ मैं दो-चार दोहे दिखलाता हूँ। देखिए—

किसी गोपिका ने प्रेम-कलह करके पास आए हुए गोपाल को लौटा दिया है। गोपाल के चले जाने पर वह खेदित होती है, पर उसका मान अभी छूटा नहीं है, और वह गोपाल की ढिठाई या कपट-व्यवहार आदि के बारे में सोचती हुई बैठी है। इसी समय कोई प्रवीण सखी उसे समझाने आई है। वह उस कलहांतरिता नायिका को श्रीकृष्ण का संदेश सुनानेवाली है। उसे देखते ही प्रियतम से मिलने के हेतु उत्सुक वह गोपिका अपने रूप-गर्व में मदमाती हो पूछती है—

अहे, कहै न कहा कह्यो तोसों नंदकिशोर;

सखी कहती है—

बड़बोली, बलि, होति कत, बड़े दृगनु के जोर।

इसमें बोल-चाल की स्वाभाविकता देखते ही बनती है, कैसी भावानुगामिनी भाषा है, इसे सहृदय काव्य-मर्मज्ञ देखें। इसी प्रकार निम्न-लिखित दोहों में देखिए—

कौन सुनै, कासों कहौं, सुरति बिसारी नाह;
बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह।

फिरि-फिरि बूझति, कहि, कहा कह्यो साँवरे गात !
कहा करत देखे कहाँ, अली, चली क्यों बात ?
लाज गहो, बेकाज कत घेर रहे, घर जाँहिँ ;
गोरस चाहत फिरत हो, गोरस चाहत नाहिँ ।
कौन भाँति रहिहै विरद, अब देखिबी मुरारि,
बीधे मोसों आयकै, गीधे गीधहिँ तारि ।
बाल कहाँ लाली भई लोयन कोयन माँहँ ;
लाल तिहारे दृगन की परी दृगन बिच छाँहँ ।
तेह तरेरे त्यौर करि कत करियत दृग लोल,
लीक न हो यह पीक की स्रुति-मनि झलक कपोल ।

इसी प्रकार और भी समझना चाहिए। भाषा को समास रूप से वर्णन करने में अर्थात् थोड़े में बहुत आशय भरने में बिहारीलालजी ब्रज-भाषा में सर्वथा अद्वितीय ही हैं। यद्यपि सूरदासजी की रचना में यह गुण कहीं-कहीं पाया जाता है, पर बिहारीलालजी की रचना में तो सर्वत्र यही है। इसी से उनकी भाषा में अर्थ-गाम्भीर्य है, और इसी से प्राचीन मर्मज्ञों ने यह सम्मति दी है कि यदि शब्द कामधेनु कहे जा सकते हैं, तो वे बिहारी-सतसई के ही हैं। इसके भी दो उदाहरण देखिए—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय ;
सौहँ करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै नटि जाय ।
ज्यों-ज्यों पट झटकति हँसति हठति नचावति नैन,
त्यों त्यों निपट उदार हूँ फगुआ देत बनै न ।
कर लै, चूमि, चढ़ाय सिर, उर लगाय, भुज भेंटि ;
लहि पाती पिय की लखति बाँचति, धरति समेटि ।

मर्मज्ञ पाठक देखें कि इन दोहों में महाकवि बिहारीलालजी ने घंटों की बातचीत किस प्रकार भर दी है। इनका आशय घंटों मज़े

में नाटक के रंग-मंच पर पात्रो के द्वारा दर्शित किया जा सकता है। कल्पना-मूर्तियों की ऐसी स्वाभाविक बातचीत कराने मे ब्रज-भाषा का कोई भी कवि समर्थ नहीं हुआ। सचमुच गागर मे सागर भर दिया है।

माधुर्य मे तो बिहारीलालजी के दोहे मानो सने हुए हैं। ब्रज-भाषा का माधुर्य तो माना हुआ है ही। प० पद्मसिंह शर्मा ने ठीक ही कहा है—

"संस्कृत-भाषा के माधुर्य में किसी को कलाम नहीं है, पर ब्रज-भाषा का माधुर्य भी एक निराली चीज है। वह सितोपला है, तो यह द्राक्षा है। बिहारी शृंगारी कवि, भाषा, ब्रज-भाषा, शृंगार-रस की कविता (शृंगारी चेत्कविः काव्ये जात रसमयं जगत्) अहो रम्य परंपरा! इसका आस्वादन कर चुकने पर भी यदि चित्त-वृत्ति कुसंस्कार-वश कहीं अन्यत्र रसास्वाद के लिये जाना चाहती है, तो सहृदयता बिहारी के शब्दों में मचलकर कहती है—

मो रस राच्यो आन रस कहै कुटिल मति क्रूर;
जीभ निबौरी क्यों लगै बौरी चाखि अँगूर।"

(सतसई-संजीवन-भा० भू०, पृष्ठ २४

दो-चार दोहे माधुर्य-गुण-संपन्न भी देख लीजिए—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहिं काल,
अली कली ही तें बँध्यो आगें कौन हवाल ?
रससिंगार मंजनु किए कंजन भंजन दैन;
अंजन रंजन हूँ बिना खंजनु गंजनु नैन।
ह्वै कपूर-मनिमय रही मिलि तन दुति मुकुतालि;
छिन छिन खरी बिचच्छिनौ लखति छ्वाय तृन आलि।
रुनित भृंग घंटावली झरत दान मधु-नीर;
मंद-मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर।

पल सोहैं पगि पीक रँग, छल सोहैं सब बैन ;
बल सौंहैं कत कीजियत ये अलसौंहैं नैन।
सखी रँगीलैं रति जगैं जगी पगी सुख चैन ;
अलसौंहैं सौंहैं किएँ कहैं हँसौंहैं नैन।

इसी प्रकार के माधुर्य से बिहारी-सतसई के दोहे लबालब भरे हैं। उनमें से मानो माधुर्य छलक रहा है।

अनुप्रास भी बिहारीलालजी की रचना में ओत-प्रोत है। देखिए, एक वर्ण की दो शब्दों के आदि या अंत में दो बार आवृत्ति होने में छेकानुप्रास माना गया है। अनेक वर्णों की अनेक शब्दों में अनेक बार आवृत्ति वृत्त्यानुप्रास है। एक ही शब्द का बात को जोरदार बनाने या सौंदर्य बढ़ाने के लिये दो बार या दो बार से अधिक प्रयोग वीप्सा अलंकार है। बार-बार एक ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ में रखना यमक है। एक ही शब्द में अनेक अर्थ रखना श्लेष है। यह अभंग पद और सभंग पद होने से दो प्रकार का होता है। अच्छा, अब इस शब्द-सुषमा का दर्शन बिहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहों में कीजिए—

अधर धरत हरि के परत ओठ दीठि पट ज्योति ;
हरित बाँस की बाँसुरी इंद्र-धनुष-रँग होति।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में भाषा की श्रेष्ठता देखते ही बनती है। 'अधर' एवं 'धरत' दोनों ही नगण में होने से बड़े ही मनोहर हैं। कितने तौल-कर रक्खे गए हैं। फिर 'अधर' के अंत में 'धर' और 'धरत' के आदि में 'धर' होने से भाषा में निराला बाँकपन आ गया है। एक के अंत के दो अक्षरों को लेकर उन्हीं से दूसरा पद बनाना और उसे भी उसी गण में, बिना किसी प्रकार की विकृति के, रखना साथ ही भाषा के स्वाभाविक बोल-चाल को—उसके प्रवाह को—

अक्षुण्ण रखना बड़ा ही सुहावना है। 'धरत' और 'परत' भी नगण में हैं, एव इन दोनो के अत मे भी 'रत' है, इससे भाषा में जिह्वा एक पद से दूसरे पद पर समान गति से जाती है। ह्रस्व स्वर के लगातार उच्चारण से उत्पन्न ध्वनि की स्थिरता कर्णेंद्रिय को परम सुखदा है। 'हरि' और 'हरित' भी कम मनोहर नहीं हैं। दोनो मे 'हरि' का प्रयोग बड़ा ही विलक्षण है। 'बॉस की बॉसुरी' मे बॉस की बहार बहुत बढिया है। इस प्रकार सपूर्ण दोहा भाषा की दृष्टि से उत्कृष्ट है। 'जोति' और 'होति' का अत्यानुप्रास हृदय-हारी है ही। ओंठ और 'दीठ' में यद्यपि ठकार का प्रयोग कर्ण-कटु है, पर ओंठ का अनुस्वार और ठकार का अनुप्रास इस दोष की बहुत कुछ शाति कर देता है।

देखिए, 'रॅग'-शब्द पर बिहारी कैसे उडे हैं। यमक का प्रयोग दर्शनीय है। लिखते हैं—

कहँ देत रॅग रात के रॅग निचुरत-से नैन।
(बिहारी-सतसई)

इसमें 'रॅग' के प्रयोग की छटा अद्भुत एव दर्शनीय है। रॅग का अर्थ क्रीडा या आनद और वर्ण या रंग होता है।

* * *

हिंदी-भाषा मे ज्यों-ज्यो क्रिया-विशेषण के पश्चात् त्यों-त्यों का प्रयोग होना चाहिए, तभी वह उत्तम भाषा कहला सकती है, इसकी चेतावनी देते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

ज्यों-ज्यों जोबन-जेठ दिन कुचमित अति अधिकाति,
त्यों-त्यों छिन-छिन कटि-छपा छीन परति नित जाति।
(बिहारी-सतसई)

दोहे में 'ज्यो-ज्यों' के पश्चात् 'त्यो-त्यों' का प्रयोग मनोरम शुद्ध ढग से हुआ है। 'छिन-छिन' मे वीप्सा की बहार है। 'ज्यों-ज्यो

जोबन-जेठ' मे जकार का दो बार से अधिक प्रयोग होने से वृत्त्या-नुप्रास स्पष्ट है। 'परत, मित, नित एव अति' में अत के अकार की अनोखी आभा है। 'अति' एव 'अधिकाति' में 'अति' और 'अधि' मे छेकानुप्रास की छटा है। अधिकाति एव नित जाति के अत्यानुप्रास (तुकांत) मे भी उत्तमता है। इस प्रकार संपूर्ण दोहे मे भाषा की श्रेष्ठता एव उसका स्वाभाविक प्रवाह हृदय-हारी है।

* * *

मानहु मुख दिखरावनी दुलहिन कर अनुराग—
सास सदन मन ललन हू सौतिन दियो सुहाग।
(बिहारी-सतसई)

'मानहु' और 'मुख', 'मुख' और 'दिख', 'दिखरावनी' और 'दुलहिन', 'सास' और 'सदन', 'सदन', 'मन' और 'ललन', 'दुलहिन' और 'सौतिन' एव 'अनुराग' और सुहाग में भाषा की जो आनुप्रासिक छटा है, वह अद्वितीय है।

* * *

समरस समर-सकोच-बस बिबस न ठिक ठहराइ;
फिरि-फिरि उमकति फिरि दुरति, दुरि-दुरि उमकति जाइ।
(बिहारी-सतसई)

समरस और समर के आदि में 'समर' का प्रयोग, 'समरस', 'समर' और 'सकोच' मे सकार की शोभा, 'बस' और 'बिबस' में 'बस' की बहार, 'ठिकु' और 'ठहराइ' का छेकानुप्रास, 'फिरि-फिरि' और 'दुरि-दुरि' का वीप्सालंकार एव 'ठहराइ' और 'जाइ' का अत्यानुप्रास भाषा की समृद्धि है। दोहे में शब्दालकार की अच्छी छटा है। छेका-नुप्रास, वृत्त्यानुप्रास, यमक, वीप्सा और अत्यानुप्रास आदि सभी विलक्षण हैं। इतने छोटे-से दोहे में इन सबका इतनी सुंदरता से होना

चकित कर देता है। इन उपर्युक्त गुणों के साथ-साथ भाषा के स्वाभाविक प्रवाह की मनोरमता एवं प्रसाद-गुण की अक्षुण्णता कवि के भाषाधिकार का प्रकृष्ट प्रमाण है।

* * *

स्वाभाविक, प्रवाहमय, परिमार्जित, शुद्ध साहित्यिक भाषा में सुंदर अनुप्रास और यमक की शोभा पात्र एवं काल के अनुकूल निम्न-लिखित दोहे में दर्शनीय है। बोल-चाल के ढंग को जैसे निबाहा है, उसकी प्रशंसा शब्दों में नहीं की जा सकती। लिखते हैं—

लाज गहौ, बेकाज कत घेर रहे ? घर जाँहि,
गोरस चाहत फिरत हौ, गोरस चाहत नाँहि।

(बिहारी-सतसई)

वैसे तो संपूर्ण दोहे में भाषा-सौष्ठव दर्शनीय है, पर 'गोरस' का प्रयोग तो ग़जब ढा रहा है। 'गोरस' का अर्थ दूध-दही भी होता है, एवं इंद्रियों का रस भी होता है। कैसे अनोखे ढंग से कहा है—

गोरस चाहत फिरत हौ, गोरस चाहत नाँहि।

* * *

निम्न-लिखित अवतरणों में देखिए, बिहारीलालजी ने शब्दा-लंकारों की कैसी सजावट की है—

(१) फूली आँगन में फिरै, आँग न आँगि समात।
(२) लखि मोहन जो मन रहै तो मन राखौं मान।
(३) ललन चलन की चित धरी कल न पलन की ओट।

(बिहारी-सतसई)

इन अवतरणों में प्रथम में फूली और न समात का संबंध जितना सुहावना है, उतना सुहावना शब्दालंकार चिह्नित स्थलों में भी है। द्वितीय में मन और मान एवं मोहन में अर्थ-चमत्कार का निर्वाह एवं अनुप्रासिक सुषमा दर्शनीय है। तृतीय अवतरण में

ललन, चलन, कल न, पलन में मानो शब्द-समृद्धि की लूट है। इतने पर भी तोड़-मरोड़ या विकृति का न होना अत्यंत प्रशंसनीय है। बिहारी-सदृश समर्थ कवि ही भाषा का ऐसा निर्वाह कर सके हैं।

* * *

निम्न-लिखित अवतरणों में शब्द कैसे तौलकर रक्खे गए हैं, एवं वृत्त्यानुप्रास की कैसी अनोखी छटा छहराई गई है, इसे सहृदय मर्मज्ञ पाठक देखें।

(१) नभ लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन ;
रति पाली आली अनत, आए बनमाली न।

(बिहारी-सतसई)

* * *

एवं—

(२) तुरत सुरत कैसे दुरत, मुरत नैन जुरि नीठि।

(बिहारी-सतसई)

नख-रेखा सोहैं नई, अलसौंहैं सब गात,
सोहैं होत न नैन ये, तुम कत सौंहैं खात।

(बिहारी-सतसई)

नवीन नख-रेखा (सोहैं) शोभा देती हैं, सब गात (अलसौंहैं) आलस-युक्त हैं। ये नैन (नेत्र) सम्मुख (सोहैं) नहीं होते, तुम (सौंहैं) शपथें (कसमें) क्यों खाते हो ?

इसमें 'सौंहैं' का प्रयोग कितना हृदयहारी एवं अनूठा है।

* * *

सदन-सदन के फिरन की सद न छुटै हरिराय ;
रुचै तितै विहरत फिरौ, कत विहरत उर आय।

(बिहारी-सतसई)

'सदन-सदन' के प्रयोग में वीप्सा की बहार एवं 'सदन-सदन फिर

सद न' में वृत्ति का वैभव है । 'रुचै तितै बिहरत फिरौ, कत विह-रत उर आय' की शब्द-सुषमा हृदयहारिणी है। 'विहरत' का श्लेष भी बड़ा मनोहर है। विहरत का अर्थ 'फिरना' एवं 'क्रीड़ा करना' होता है। तुकांत की श्रेष्ठता है ही। इस प्रकार सपूर्ण दोहे की भाषा प्रशसनीय है।

* * *

जाति मरी बिछुरति घरी जल सफरी की रीति ,
छिन-छिन होति खरी-खरी अरी जरी यह प्रीति ।

(बिहारी-सतसई)

इतने छोटे-से दोहा-छद में 'मरी, घरी, सफरी, खरी-खरी, जरी, रीति, प्रीति एव छिन-छिन' में पद क्या हैं, देदीप्यमान अनमोल रत्न हैं। फिर क्या मजाल कि इतनी उत्कृष्ट शब्द-सुषमा के लिये बिहारीलालजी ने एक भी शब्द तोड़ा-मरोड़ा हो। वृत्त्यानुप्रास एवं वीप्सा की छटा दोहे में अवर्णनीय है।

* * *

गुड़ी उड़ी लखि लाल की ऑंगना ऑंगना मॉंहँ ;
बौरी लौं दौरी फिरै , छुवति छबीली छॉंहँ ।

देखिए तो, गुड़ी और उड़ी, लखि और लाल, ऑंगना और ऑंगना, बौरी और दौरी, फिरति और छुवति , छबीली और छॉंहँ तथा मॉंहँ और छॉंहँ में शब्द-समृद्धि कैसी अनोखी प्रभा दर्शित कर रही है। ऐसे उदाहरणों से कवि के भाषा पर एकाधिपत्य रखने की सूचना मिलती है।

* * *

लाल तिहारे बिरह की अगिनि अनूप अपार ;
सरसै बरसै नीर हू , झरहू मिटै न झार।

(बिहारी-सतसई)

दोहे मे 'अगिनि अनूप अपार' में अकार का अनूठापन अद्वितीय अवश्य था, पर 'तरसै अरसैं नीर हू झारहू मिटै न झार' में जो शब्द-सुषमा एव भाषा-प्रौढता है, वह अवर्णनीय है। किसी भी दृष्टि से दोहे की भाषा सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक भाषा सिद्ध होती है।

* * *

पिय के ध्यान गही-गही, रही वही ह्वै नारि;
आप-आप ही आरसी लखि रीझति रिझवारि।
(बिहारी-सतसई)

इसमे इतने तौलकर पद रक्खे गए हैं, जिनकी प्रशंसा शब्दों में नहीं हो सकती। दोहे मे शब्दालकारों का अनूठापन, सुंदर प्रबंध-योजना, अर्थ-गाभीर्य, अर्थ-व्यक्ति, प्रसाद-गुण एव भाषा का स्वाभाविक प्रवाह एव प्रयोग-साम्य सभी कुछ है। 'गही-गही रही वही' में भाषा का निराला चमत्कार है। 'आप-आप ही आरसी' में भी शब्द-सुषमा है। 'रीझति रिझवारि' मे तो मानो शब्द-समृद्धि लूट ली है। जब नायिका 'रिझवारि' है, तभी वह 'रीझति' है।

* * *

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बान;
आक-कली न रली करै, अली अली जिय जान।
(बिहारी-सतसई)

कैसी मधुर, अलकृत एव समुचित नियन्त्रित उत्कृष्ट भाषा है। फिर बोल-चाल की स्वाभाविकता तो सोने मे सुगध है। कौन कह सकता है कि खरी व तरी, कान व बान एव कली, रली, अली और अली का प्रयोग ऐसे अनूठे ढग से चौबीस मात्राओं के दोहा छद मे ऐसी कुशलता से भावानुगामिनी भाषा मे कर जाना बिहारीलालजी के भाषा पर एकाधिपत्य का परिचायक नहीं है?

* * *

मार सुमार करी खरी, अरी मरीहिं न मार;
सींच गुलाब घरी-घरी, अरी बरीहिं न बार।
(बिहारी-सतसई)

मार एवं सुमार, करी एव खरी और 'अरी मरीहिं न मार', घरी-घरी एवं 'अरी बरीहिं न बार' सभी पद विलक्षण हैं। दोहे में उत्कृष्ट प्रौढ अलंकृत साहित्यिक भाषा का भावानुकूल देश-काल-पात्रानुसार स्वाभाविक प्रवाह होना बरबस हृदय को खींचता है।

* * *

अब लाटानुप्रास, यमक और वीप्सा का अद्भुत सघट्टन देखिए। निम्न-लिखित दोहे में शब्दालकारों की ससृष्टि दर्शनीय है। फिर भी यह नहीं है कि प्रसाद-गुण न हो। भाषा का प्रवाहमय समुचित नियन्त्रण और मनोमुग्धकारी माधुर्य-गुण न हो।

फिर सुध दै सुध पाइए इहि निरदई निरास;
नई-नई बहुरौ दई, दई उसास उसास।
(बिहारी-सतसई)

* * *

प्रायः सपूर्ण साहित्याचार्यों ने यमक की श्रेष्ठता अगीकार की है। बिहारीलालजी ने यमक का प्रयोग भावानुगामिनी, स्वाभाविक प्रवाह-मयी भाषा मे कैसे अनूठे ढग से किया है, यह दर्शनीय है।

बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न,
हरिनी के नैनान तैं, हरि नीके ये नैंन।
(बिहारी-सतसई)

कितनी मनोरमता से यमक की छटा छहराई है। सपूर्ण दोहा भाषा-सौष्ठव का—यमक के प्रयोग का उत्कृष्ट उदाहरण है।

* * *

केलि-तरुन दुखदैन ये, केलि तरुन सुखदैन।
(बिहारी-सतसई)

इसमें भी यमक की अद्भुत छटा है। केले के पेड़ को दुख और केलि (रति-केलि) में तरुन के सुख देनेवाली जंघाओं के वर्णन में केलि (केला व रति-क्रीडा) तरुन (वृक्ष व तरुण मनुष्यों) का जो प्रयोग किया गया है, वह सर्वथा दुर्लभ है। ऐसी भाषा प्रसाद-गुण को अक्षुण्ण रखते हुए—भाषा को विशुद्ध रखते हुए लिखना बिहारीलालजी का ही काम है।

* * *

गुनी गुनी सब कोउ कहत, निगुनी गुनी न होत ;
सुन्यौ कहूँ तरु अर्क तैं अर्क-समान उदोत।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में वैसे तो भाषा-संबंधी अनेक गुण हैं, पर 'अर्क' (अकौआ, सूर्य) का यमक बड़ा ही हृदयहारी है।

* * *

कनक कनक तैं सौगुनी मादकता अधिकाइ ;
वह खाएँ बौरात है, यह पाएँ बौराइ।
(बिहारी-सतसई)

इसमें यमक की शोभा दर्शनीय है। कनक का अर्थ धतूरा और स्वर्ण दोनो है। फिर यमक में भी जो अर्थ-गांभीर्य रक्खा है, उसमें भी जो शब्द-सुषमा रक्खी है, वह प्रशंसनीय है।

* * *

किस शब्द का किस स्थान में कैसा प्रयोग करना चाहिए, इसे हम बिहारीलालजी की टकसाली भाषा में बड़ी सुंदरता से देखते हैं। लिखते हैं—

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट-पट झीन;
मानहुँ सुर-सरिता बिमल जल उछलत जुग मीन।
(बिहारी-सतसई)

इसमें चंचल नयन चमचमात, घूँघट-पट झीन, बिमल जल जुग मीन उछलत में चिह्नित शब्दों के प्रयोगों पर ध्यान दीजिए।

* * *

लहलहात तन तरुनई, लच लग लौं लफ जाइ;
लगै लक लोयन भरी, लोयन लेत लगाइ।
(बिहारी-सतसई)

इसमे तन तरुनई लहलहात, लच लग लौं लफ जाइ, में प्रयोग-साम्य है, साथ ही लहलहात, लच, लग, लौं, लफ, लगै, लक, लोयन, लोयन, लेत, एवं लगाइ में लकार से प्रारभ होने-वाले पदों का बाहुल्य है, पर फिर भी भाषा में न तो किसी प्रकार की बनावट या तोड-मरोड है, एव न उससे भाव-राशि मे किंचित् बाधा पडती है।

* * *

निम्न-लिखित दोहे में भावमयी, आह्लादकारिणी, मधुरिमामय, उत्कृष्ट साहित्यिक भाषा का स्वाभाविक प्रवाह और शब्दों के औचित्य-पूर्ण विशुद्ध प्रयोग पर ध्यान दीजिए।

पलन प्रगटि, बरुनीन बढ़ि, छिन कपोल ठहरायँ;
अँसुआ परि छतियाँ छिनकु, छनछनाय छिपि जायँ।
(बिहारी-सतसई)

इसमें कैसी अर्थ-गाभीर्य-पूर्ण रसीली ब्रजभाषा है। इसका एक-एक पद अनूठा है। यथार्थ मे दोहे की लडी मे अनर्घ्य मणियाँ पिरोई गई हैं। सपूर्ण दोहे मे शब्दालकार की छबीली छटा छहरा

रही है। बिहारीलालजी के यश की ध्वजा भी ऐसी अनूठी भाषा लिखने के कारण ही फहरा रही है, एवं लोगों को यह कहने पर विवश कर रही है कि महाकवि बिहारी के समान उच्च कोटि की, भावानुगामिनी, परिमार्जित, प्रयोग-साम्य, साहित्यिक भाषा लिख के बहुत ही थोड़े कवि लिख सके होंगे।

* * *

बिहारीलालजी की भाषा में श्लेष-वर्णन का चमत्कार अनेक दोहों में पाया जाता है। यहाँ दो दोहे देखिए—

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर;
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर।
(बिहारी-सतसई)

इसमें 'वृषभ + अनुजा' से बैल की बहन और 'हलधर के बीर' से—हल को धारण करनेवाले बैल के बंधु एवं वृषभानुजा से वृष के अत्यंत तेजवान् मार्तंड (सूर्य) से उत्पन्न एवं हलधर से (हल = पृथ्वी, धर = धारण करनेवाले) पृथ्वी को धारण करनेवाले शेष-नाग के अवतार बलराम के भाई एवं हलधर के बीर से बलराम के भाई कृष्ण एवं वृषभानुजा से वृषभानुराय की पुत्री राधिका का बोध होता है। दोहे में भंग पद श्लेष का अनोखा चमत्कार है।

* * *

अजौं तर्यौना ही रह्यो, श्रुति सेवत इक अंग;
नाक बास बेसर लह्यो, बसि मुकुतन के संग।
(बिहारी-सतसई)

पहले इसके शब्दार्थ देख लीजिए—

'तरयौना' = (१) कर्णफूल, कान में पहनने का आभूषण, (२) तरा नहीं, मोक्ष नहीं पाया।

श्रुति = (१) कान, कर्ण, (२) वेद।

नाक =(१) नासा, नासिका, (२) वैकुंठ, स्वर्ग ।
बेसर =(१) नथ, नाक का आभूषण, (२) अद्वितीय, अनुपमेय ।
मुकुतन =(१) मोतियों, (२) जीवन्मुक्त महात्माओं ।
श्लेष का ऐसा विशुद्ध उदाहरण कठिनता से मिलेगा ।

बिहारीलालजी ने उपर्युक्त प्रकार के श्लेषात्मक दोहे क्लिष्टत्व-दोष आ जाने के कारण थोड़े ही लिखे हैं। यथार्थ में उन्होंने ऐसे श्लेष कहे हैं, जिनसे साहित्य-ससार की शोभा है। इस ग्रंथ में उनके वैसे अनेक दोहे पाठकों को मिलेंगे। यहाँ उदाहरण के लिये एक दोहा देता हूँ, देखिए—

जोग-जुगति सिखई सबै मनो महामुनि मैन ;
चाहत पिय अद्वैतता, कानन सेवत नैन ।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे का अर्थ मैं समता के अध्याय में लिख चुका हूँ, एवं वहाँ इसकी कुछ विवेचना भी कर चुका हूँ। इस दोहे में 'कानन' का श्लेष ही सब कुछ है। 'कानन' से कर्णों (कानों) एव 'कानन' से जगल अर्थ होता है। इस कानन से ही अद्वैतता के अर्थ का एव योग-युक्ति का सामंजस्य ठहरता है। ऐसे श्लेष ही यथार्थ में प्रशसनीय हैं, और बिहारीलालजी की सतसई में ऐसे ही श्लेष भरे हैं।

* * *

इस कवि ने भाषा में प्रचलित मुहाविरों का जैसी उत्तमता से प्रयोग किया है, वह सर्वथा सर्वतोभावेन सराहनीय है। इस ग्रंथ में इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे। यहाँ दो उदाहरण देखिए—

(१) सीतलताऽरु सुबास कौ घटै न महिमा-मूरु ;
पीनसवारो जो तज्यौ सोरा जानि कपूर ।
(बिहारी-सतसई)

(२) आँखिन आँखि लगी रहैं, आँखें लागति नाहिं।
(३) जो न जुगति पिय मिलन की धूरि मुकति मुँह दीन।
(४) हौंडी है गुन रावरे कहति कनौडी डीठि।
(५) वे ही कर व्यौरनि यही व्यौरो कौन विचार;
जिनहीं उरभयो मो हियो, तिनहीं सुरभे बार।

* * *

बिहारीलालजी के नीति के दोहे अब कहावतों के रूप में प्रचलित हो चुके हैं।

वर्णन में सजीवता लानेवाली, भावानुगामिनी भाषा में बिहारीलालजी ने जिस प्रयोग-साम्य का निर्वाह किया है, एव जो अनूठी रचना की है, वह सदैव हिंदी के माथे की बिंदी रही है, और रहेगी। अब मैं एक दोहा देकर बिहारीलालजी के भाषा-वर्णन को दिखलाना समाप्त करता हूँ। कहते हैं—

तौ लगि या मन-सदन में हरि आवहिं किहि बाट,
निपट बिकट जब लगि जुटे खुलहिं न कपट-कपाट।
(बिहारी-सतसई)

मन की कोमलता दिखलाने के लिये 'मन-सदन' का प्रयोग कितना अनूठा है, इसे विज्ञ जन ही समझ सकते हैं, परंतु मन की यह कोमलता तब होती है, जब मन निष्कपट हो जाता है। निष्कपट, कोमल 'मन-सदन' में ही हरि का आगमन होता है। जब तक मन निष्कपट नहीं हुआ, तब तक उसमें कठोरता है, इसी कठोरता की सीमा दर्शित करने के लिये ही भाषा पर एकाधिपत्य रखनेवाले महाकवि बिहारीलालजी ने 'निपट बिकट कपट-कपाट जुटे' लिखा है। इस परपद्वृत्त्यानुप्रास में कपट के कपाटों की निपट विकटता केवल टकार के अनेक बार के प्रयोग से स्पष्ट हो जाती है। इन वर्णों की ध्वनि सुनकर ही श्रोता को कपट की भीषणता का अनुभव हो

जाता है। तुरंत ही ध्यान में आ जाता है कि कपटी का मन बड़ा ही कठोर है। उस कठोरता को बिना हटाए, मन को पर-दुःख-कातरता एवं दया आदि गुणों से कोमल बनाए बिना, उस 'मन-सदन' मे हरि का आगमन नहीं होता।

* * *

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बिहारीलालजी ने अत्यत उच्च कोटि की साहित्यिक ब्रज-भाषा लिखी है। वह प्रायः व्याकरण-विशुद्ध, परम-परिमार्जित, अत्यंत मधुरिमामयी और भावानुगामिनी है। उसमें काव्य की भाषा के सर्वोत्कृष्ट गुणों का अच्छा दिग्दर्शन है। यथार्थ तो यह है कि जिस प्रकार महात्मा श्रीतुलसीदासजी गोस्वामी ने अवधी-भाषा सर्वथा अद्वितीय और अत्यंत उच्च कोटि की लिखी है, उसी प्रकार श्रीबिहारीलालजी ने ब्रज-भाषा सर्वथा अद्वितीय और अत्यत उच्च कोटि की लिखी है। इसी से मर्मज्ञों ने—भाषा के जौहरियों ने—यह निर्णय दे दिया है —

ब्रज-भाषा बरनी सबै कबिबर बुद्धि - बिसाल;
सबकौ भूषन सतसई रची बिहारीलाल।

* * *

श्रीमिश्रबंधुओं ने हिंदी-नवरत्न में बिहारीलालजी की अद्वितीय भाषा पर भी कटाक्ष किया है। आप लोगों ने जहाँ बिहारी-सतसई की अद्वितीय, पीयूषवर्षिणी, भावानुकूल, मुहाविरेदार, सजीव भाषा की बेहद प्रशसा की है, वहाँ उसमे से कुछ ऐसे शब्द बड़े परिश्रम से ढूँढ निकाले हैं, जिन्हें आप लोगों ने अप्रयुक्त, भ्रष्ट एवं विकृत करार दिया है। परतु मुझे तो वे सब साहित्यिक ब्रज-भाषा मे प्रयुक्त मँजे हुए प्रयोगों के उत्कृष्ट उदाहरण जान पड़े हैं, और उनके दोष बतलाने मे श्रीमिश्रबंधुओं की ही भ्रमात्मक भूल जान पड़ती है, जो अच्छे एवं प्रामाणिक समालोचक की मर्यादा के सर्वथा विरुद्ध

जान पड़ती है। उन शब्दों के प्रयोग कितने सही और सुदर हुए हैं, यह मैं यहाँ श्रीमिश्रबंधुओं के आक्षेपों-सहित सप्रमाण दिखलाता हूँ—

(१) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है--

हाँ से ह्याँ, ह्याँ से वहाँ, नेकौ धरति न धीर;
निसि-दिन डाढ़ी-सी रहै, बाढ़ी गाढ़ी पीर।

(बिहारी-सतसई)

इसमें 'डाढ़ी' पद के प्रयोग पर श्रीमिश्रबंधु बहुत ही बिगड़े हैं, और सतसई के सूरति मिश्र और सरदार आदि प्राचीन तथा प० पद्मसिंह एव 'रत्नाकर' आदि आधुनिक साहित्य-विशारद टीकाकारों ने 'डाढ़ी' का जो 'जली हुई' अर्थ किया है, उसे लक्ष्य कर हिंदी-नवरत्न में लिखते हैं—

"प्रसिद्ध अँगरेजी-समालोचकों का मत है कि ऐसे प्रांतीय प्रयोग भाषा की अशिष्टता (Barbarity of Language) प्रकट करते हैं। कहा जा सकता है कि सतसई व्रज-भाषा में लिखी गई है। फिर भी साधु व्रज-भाषा का लिखना श्रेयस्कर है, ग्राम्य का नहीं। .. डाढ़ी शब्द डाढा (दौरहा-आग) से निकला हुआ समझ पड़ता है। 'डाढ़ी' को जली हुई के अर्थ में कहना ठीक नहीं समझ पड़ता। यदि कोई अपने मन का गढ़ा हुआ चाहे जो अर्थ कह दे, तो उसके प्राचीन अथवा प्रतिष्ठित काव्य-मर्मज्ञ होने से हम ऐसी-ऐसी अनुचित बातों को उचित मानने के लिये तैयार नहीं हैं।"

(हिंदी-नवरत्न द्वि० स०, पृष्ठ २८५)

इन महाशयों की इस आक्षेप-प्रणाली पर कुछ न कहकर मैं यहाँ हिंदी के स्तंभ-महारथियों की रचनाओं में इसी शब्द के प्रयोग दिखलाता हूँ। देखिए—

(अ) व्रज-भाषा के सर्वस्व, हिंदी-साहित्य-सूर्य श्रीसूरदासजी लिखते हैं—

धेनु दुहति अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहिनि पहुँचावति, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी।

* * *

सखी संग की निरखति इहिछबि भई व्याकुल मनमथ की डाढ़ी।
[सूर-सागर (वेंकटेश्वर-प्रेस) दशमस्कंध, पृष्ठ १६३]

परम बियोगिनि सब मिलि ठाढ़ी,
ज्यों जल-हीन दीन कुमुदिनि-गति, रबि-प्रकास की डाढ़ी।

* * *

सूरदास प्रभु अवधि कह्यो तौ प्रान तजति ब्रज-नारी।
[सूर-सागर (नवलकिशोर-प्रेस), मथुरालीला, पृष्ठ ७६०]

इन दोनो उद्धरणों में श्रीसूरदास ने 'डाढी' का प्रयोग 'जली हुई' के अर्थ में स्पष्टतया किया है।

(ब) हिंदी के सर्वस्व कवि-कुल-कुमुद-कलाधर गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—

निकसि बसिष्ठ द्वार भे ठाढ़े;
देखे लोग बिरह-दव डाढ़े।
(राम-चरित-मानस, अ० कां०)

यहाँ पुलिंग बहुवचन में स्त्रीलिंग 'डाढी' का रूप 'डाढ़े' हो गया है।

लखन तेज तनु हत भयो, जिमि डाढ़ी दव बेलि।
(राम-चरित-मानस, लं० कां०)

इन उद्धरणों मे तुलसीदासजी ने 'डाढे' एव 'डाढी' का प्रयोग 'जले हुए' एव 'जली हुई' के अर्थ मे किया है।

(स) हिंदी-भाषा के सर्व-श्रेष्ठ आचार्य महाकवि केशवदासजी लिखते हैं—

चातक ज्यों पिय-पीय रटै, चढ़ि ताप तरंगिनि ज्यों गति गाढ़ी :
'केशव' वाकी दसा सुनिहौ, अब आगि विना अँग-अगनि डाढ़ी।
(कविप्रिया)

नीर-हीन मीन मुरझाइ जीवै नीर ही तें,
छीर के छिरीके कहा धीरज धरातु है,
पाई है तैं पीर, कैधौं यों ही उपचार करै,
आगि को तो डाढ़ो अंग आगि ही सिरातु है।
(रसिकप्रिया पृष्ठ १८, छं० सं० २५)

नाहिं सिखावति नाहिं भली,
सखि पावक लै तिनको मुँह डाढ़ो।
(रसिकप्रिया, पृष्ठ २२४)

इन तीनो उद्धरणों में डाढी, डाढो एव डाढौ का प्रयोग जली हुई, जला हुआ एव जलाओ के अर्थ में है।

(ड) हिंदी-साहित्य में वीर-रस के सर्व-श्रेष्ठ महाकवि और आचार्य भूषण त्रिपाठी लिखते हैं—

डाढ़ी के रखैयनि की डाढ़ी-सी रहति छाती,
बाढ़ी मरजाद जैसी हद्द हिंदुवाने की,
'भूषन' भनत दिल्लीपति दिल धकधका,
सुनि-सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
(शिवाबावनी, छं० सं० ४७)

इसमें 'डाढी-सी रहति' का अर्थ 'जली हुई-सी रहती है' स्पष्ट है।

(ढ) हिंदी के सुप्रसिद्ध शृगारी महाकवि एव भाषा के आचार्य मतिरामजी लिखते हैं—

न्योते गए कहुँ नेह बढ़्यो, मतिराम दुहूँ के लगे दृग गाढ़े,
लाल निकेत से चाले घरै, तिय-अंग अनंग की आग सों डाढ़े।

ऊँचे अटा पर काँधे सहेली के ठोड़ी दिए चितवै दुख बाढ़े ;
मोहन जो मन गाढ़ो करैं पग द्वैक चलैं फिर होत हैं ठाढ़े ।
(रसराज, पृष्ठ ४६, छं० सं० ८१)

इस उद्धरण में 'आग सों डाढे' में मतिरामजी ने 'डाढी' का प्रयोग पुलिंग बहुवचन में 'डाढे' के रूप में किया है ।

(क) शृंगारी कवि देव ने भी इसका प्रयोग किया है—

मोहनलाल लखे कहुँ बाल, वियोग की ज्वालन सों तन डाढ़ति ;
और की और कहै सुनै 'देव' महाँ दुचिताई सखीन के बाढ़ति ।
(रसविलास, पृष्ठ १०४)

(ख) प्रसिद्ध कवि और आचार्य गोकुलनाथजी लिखते हैं—

आजु कहूँ खिरकी सों लखी
हरि की मुख-ज्योति गलीन में बाढ़ी ,
गोकुलनाथ बिलोकि लई छवि,
ता दिन तें बिरहागिनि डाढ़ी ।

इस उद्धरण में 'बिरहागिनि डाढी' में 'डाढी' का प्रयोग 'जली हुई' के अर्थ में स्पष्ट है । इसी प्रकार अन्य अनेक कवियों ने 'डाढी' का प्रयोग 'जली हुई' के अर्थ में किया है । जिस 'डाढी'-शब्द का प्रयोग 'जली हुई' के अर्थ में हिंदी-भाषा के सर्वस्व सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण, मतिराम, देव एवं गोकुलनाथ आदि अनेक कविवरों ने किया हो, वही जिन्हें अनुचित और मनगढ़त समझ पड़ता हो, उनसे क्या कहा जाय ? यदि श्रीमिश्रबंधु अपने हिंदी-नवरत्न में हिंदी के सर्वस्व माने हुए सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण, मतिराम और देव—इन सात महारथियों की बात को 'अनुचित' कह डालें, तो वे स्वयं ही ऐसे कहाँ के उचित कहनेवाले हो गए हैं ?

(२) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

हठ-हित-कर प्रीतम लियौ, कियौ सो सौत सिंगार;
अपुनैं कर मोतिन गुह्यौ, भयौ हरा-हर-हार।
(बिहारी-सतसई)

'भयौ हरा-हर-हार' का अर्थ 'हार हलाहल के समान हो गया' लगाकर श्रीमिश्रबंधुओं ने इस पर यह आक्षेप किया है कि इसमें 'हलाहल' के स्थान में 'हरा-हर' लिखा गया है, अतएव भाषा की भ्रष्टता है। परंतु साहित्य-मर्मज्ञ कहलानेवाले इन समालोचकों ने यह न सोचा कि बिहारीलालजी-सदृश महाकवि हलाहल को हार का उपमान कैसे वर्णन करेंगे? आर्य-साहित्य में संस्कृत और हिंदी के महाकवियों की प्रणाली हार को सर्प के समान वर्णन करने की परंपरा से है। हार से और सर्प से अधिक साम्य होने से आर्य महाकवियों ने हार को विरह में सर्प के समान वर्णन किया है। मैं यहाँ हिंदी-भाषा, विशेषकर ब्रज-भाषा के सम्माननीय कवीश्वरों की रचनाओं में के उदाहरण ही इसके प्रमाण में देना ठीक समझता हूँ। देखिए—

(अ) श्रीराधावल्लभ-संप्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु आचार्य श्रीहित-हरिवंशजी महाराज, जिनकी कविता को श्रीयुत मिश्रबंधु सूरदास की जोड़ की समझते, यदि वह परिमाण (quantity) में और कविता के बराबर होती, लिखते हैं—

चलसि किन मानिनि कुंज-कुटीर।
तो बिनु कुँवर कोटि बनिता-जुत मथत मदन की पीर।
... ...
बंसी बिसिख, ब्याल मालावलि, पंचानन पिक-कीर।
मलयज गरल, हुतासन मारुत, साखा-मृग रिपु चीर;
'हितहरिवंस' परम कोमल चित सपदि चली पिय तीर।
(श्रीहित-चतुरासी)

इस उद्धरण मे 'व्याल मालावलि' में माला को सर्प के समान वर्णन किया है।

(ब) महाकवि आचार्य केशवदासजी लिखते हैं—

फूल ना दिखाव सूल फूलत है हरि बिन,
दूर कर बाला माला व्याल-सी लगति है,
चँवर चलाव जनि, बीजन डुलाव जनि,
'केसव' सुगंध-बायु बाय-सी लगति है।
(रसिकप्रिया, पृष्ठ १४६)

इस उद्धरण मे भी 'माला व्याल-सी लगति है' मे माला की समता सर्प से की गई है।

(स) सुप्रसिद्ध हिंदी-कवि पद्माकरजी लिखते हैं—

कै गिनती-सी हती विनती, दिन तीनक लौं चहु बार सुनाई;
त्यो 'पद्माकर' मोह-मया करि तोहि दया न दुखीन की आई।
मेरो हरा हर-हार भयो अब, ताहि उतार उन्हे न दिखाई;
ल्याई न तू कबहूँ बनमाल, गुपाल की वा पहिरी पहिराई।
(जगद्विनोद)

इसमें भी हरा की हर-हार (शंकर के गले का हार=सर्प) से समता की गई है। यहाँ बिहारीलालजी की ही सुगठित, मनोहर शब्दावली है।

तात्पर्य यह कि श्रीमिश्रबंधुओं ने अजानता-वश यह भूल की है। उन्होंने जिस देव कवि को हिंदी-भाषा का सर्वश्रेष्ठ महाकवि कह डाला है, उसने भी 'हार' का उपमान विरह मे 'सर्प' ही माना है। देव ने लिखा है—

'देव' तेहि काल गूँथि ल्याई माल मालिनि,
सो देखत विरह-विप-व्याल की लहरि परी।

इसमें देव ने विरहावस्था की माला को विषैला सर्प बनाया है। और भी लिखा है—

देखे दुख देत चैत-चंद्रिका अचेत करि,
चैन न परति चंद चंदन को टारि दै;
फूँकै ज्यों फनी रो, फूल-माल को न नीरी करि,
एवी री बरी ये जाति या बीरी बगारि दै।
(प्रेमचंद्रिका पृष्ठ २३, छं० ४०)

यहाँ भी माला व्याल (फनी) है। श्रीमिश्रबंधुओं ने 'हार' को 'हरा' लिखने पर जो आक्षेप किया है, वह निर्मूल है; क्योंकि 'हार' को 'हरा' लिखने की ब्रज-भाषा के कवियों की परिपाटी रही है, और गद्य में आज तक 'हार' के स्थान में 'हरा' का प्रयोग लोग प्रचुरता से करते हैं। जैसे—'दो पैसे के बेला के हरा ले आओ।'

(३) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

दियौ जु पिय लखि चखनु मैं खेलत फागु खयाल;
बाढ़त है अति पीर सु न काढ़त बनत गुलाल।
(बिहारी-सतसई)

इसमें जो 'खयाल' का प्रयोग 'खेल' के अर्थ में किया गया है, उसे मिश्रबंधु अप्रयुक्त और विकृत मानकर आक्षेप करते हैं। पर यह आक्षेप इन सज्जनों की अध्ययन-हीनता का ही फल है।

(अ) ब्रज-भाषा के सर्वस्व महाकवि श्रीसूरदासजी लिखते हैं—

चकृत देखि कहैं नर-नारि;
धरनि-अकास-बराबर ज्वाला झुरसी लपटि करारि।
नहिं बरस्यो, नहिं छिरक्यो काहू कहँ धौं गई बिलाय;
अति आघात करति बन भीतर कैसे गई बुझाय।
तृण की आगि बरति नहिं बुझ गई हँसि-हँसि कहत गुपाल;
सुनहु 'सूर' वह करनि कहनि यह ऐसे प्रभु के ख्याल॥

इस उद्धरण में 'ख्याल' का प्रयोग 'खेल' के अर्थ में स्पष्ट है।

(ब) हिंदी के सर्वस्व गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—

बालक नृपाल जू के ख्याल ही पिनाक तोर्‌यो।
(कवितावली-रामायण)

इसमें 'ख्याल ही' का प्रयोग 'खेल ही' के अर्थ में स्पष्ट है।

(स) कविवर ठाकुर ने लिखा है—

मचि रही फाग और सब सब ही पै घालैं
रंग औ' गुलाल लाल ख्याल अवलोकौं मैं ;
मो पै तुही 'ठाकुर' लगाए घात घूमै घेरि ;
देखौं अब जात कित इत-उत रोकौं मैं।

इसमें 'ख्याल' का प्रयोग खेल के अर्थ में स्पष्ट है।

(क) कविवर पद्माकर लिखते हैं—

मूँदे तहाँ एक अलबेली के अनोखे दृग,
सु दृग-मिचावनी के ख्यालन हितै-हितै ;
नैसुक नवाय ग्रीवा धन्य-धन्य दूसरी को
औचक अचूक मुख चूमत चितै-चितै।

यहाँ भी 'ख्याल' का प्रयोग खेल के अर्थ में हुआ है।

(ख) कविवर ग्वाल ने ख्याल का प्रयोग खेल के अर्थ में अनेक बार सुंदरता से किया है—

बोलीं तब बाल भले आओ नँदलाल अब
देखैं ख्याल तेरो भजि आयो फँसि-फँसिकैं ;
'ग्वाल' कवि स्यामै गहि कोउक नचावैं,
कोऊ चेरो कै छुड़ावैं फेरि आवैं घसि-घसिकैं ;

एवं—

'ग्वाल' कवि नैन में कि बैन में कि सैन में
कि रंग लैन-दैन में कि आँगुरी अँगूठी में ;

मूठी में, गुलाल में कि ख्याल में तिहारे प्यारी,
कामें भरी मोहिनी, जो भयो लाल मूठी में ।

इन दोनों अवतरणों में 'ख्याल' का प्रयोग 'खेल' के अर्थ में हुआ है।

(ग) राजा शम्भुनाथ सोलंकी ने भी लिखा है—

'शंभु' सनेह समाए रहैं, रस-ख्यालन में सिगरी निसि जागैं ;
दोऊ दुहूँन सों मान करैं, पुनि दोऊ दुहूँन मनावन लागैं ।

इस उद्धरण में 'ख्यालन' का प्रयोग 'खेलों' के अर्थ में स्पष्ट हुआ है।

(घ) देव कवि ने भी श्रीदेव-माया-प्रपंच नाटक में लिखा है—

हाय दई इहि काल के ख्याल में
फूल से फूलि सबै कुम्हलाने ।

इसमें देव ने 'ख्याल' का प्रयोग खेल के अर्थ में ही किया है।

इसके सिवा अन्य अनेक कविवरों ने 'ख्याल' का प्रयोग 'खेल' के अर्थ में किए हैं। इस प्रकार जिसका प्रयोग सूर, तुलसी, बिहारी, ठाकुर, पद्माकर, ग्वाल, शंभु और देव आदि कवियों ने प्रचुरता से किया हो, वह जिन्हें अप्रयुक्त जान पड़े, उनकी अध्ययनशीलता की बलिहारी है !

(४) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

नित संसौ, हंसौ बचत मानहुँ इहि अनुमान ;
बिरह-अगिनि-लपटि न सकैं, झपटि न मीचु-सिचान ।
(बिहारी-सतसई)

इसमें 'संसौ' शब्द पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबंधु लिखते हैं—

"संसौ—साँस के अर्थ में असाधारण, अव्यवहृत और बिगड़ा हुआ शब्द है।"
(हिंदी-नवरत्न, पृष्ठ २८१)

जान ही नहीं पड़ता कि श्रीमिश्रबंधुओं ने 'ससौ' का अर्थ 'साँस' कहाँ से ले लिया। दोहे का तो स्पष्ट अर्थ है — "नित्य यही संदेह रहता है कि इस वियोगिनी का जीव कैसे बचा हुआ है ? यही अनुमान ठीक जान पड़ता है कि मृत्यु-रूपी बाज विरहाग्नि की लपटों के डर से हंस-रूपी जीव पर झपट नहीं सकता।"

दोहे में 'संसौ' का अर्थ 'संदेह' बिलकुल स्पष्ट है। व्रज-भाषा में ससौ शब्द सशय का रूप है। खेद है, जिन सज्जनों की समझ में दोहे का अर्थ भी नहीं आता, वे ही आक्षेप करने बैठ जाते हैं। यदि श्रीमिश्रबंधुओं ने देव कवि का काव्य ही ध्यान से पढ़ा होता, तो उन्हें 'ससौ' का अर्थ सदेह मिल जाता। यहाँ एक उदाहरण देखिए—

उत्तम मध्यम नीच क्रम लघु चिंता अवसाद,
महासोक ये घन गए हित ससौ सु विषाद।
(भावविलास)

(५) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

सम रस समर-सकोच-बस बिबस न ठिकु ठहराति;
जक न परति चकरी भई, फिर आवति फिर जाति।
(बिहारी-सतसई)

इसमे बिहारीलालजी ने स्मर के अर्थ मे जो 'समर' का प्रयोग किया है, इस पर श्रीमिश्रबंधुओं ने आक्षेप किया है, पर यह आक्षेप भी अनुचित है। व्रज भाषा के श्रेष्ठ एव प्रसिद्ध महाकवि इसे इसी रूप में लिखते आए हैं। श्रीमिश्रबंधुओं के समान ही श्रीप० रामचद्रजी शुक्ल ने भी अपने 'हिंदी-साहित्य के इतिहास' मे 'समर' के प्रयोग को अनुचित समझकर लिखा है — "बिहारी ने दो-एक स्थलों पर विकृत शब्द भी लिखे हैं। जैसे 'स्मर' के लिये 'समर'।" (पृ० २६२)

इसके विषय में मेरा विनम्र निवेदन यह है कि जिस प्रकार स्नेह के स्थान मे सनेह का प्रयोग शुद्ध व्रज-भाषा है, उसी प्रकार स्मर के

स्थान में समर का प्रयोग भी शुद्ध ब्रज-भाषा है। विस्तार-भय से यहाँ दो प्रबल प्रमाण दिए जाते हैं—

(अ) ब्रज-भाषा के सर्वस्व महात्मा श्रीसूरदासजी लिखते हैं—

निरखि सोभा समर लज्जित, इंदु भो भ्रम-भोर;
'सूर' धन्य सु बनि किसोरी, धन्य नंदकिसोर।
[सूरसागर (वेंकटेश्वर-प्रेस), पृष्ठ ३१०]

(आ) जिनकी ब्रज-भाषा को विनोद में श्रीमिश्रबंधुओं ने आदर्श ब्रज-भाषा माना है, वह महान् आचार्य और कवि श्रीभिखारीदासजी ने भी 'समर' का प्रयोग 'स्मर' के अर्थ में किया है। देखिए—

सोहैं सरबंग सुख पुलक सुहाए हार,
आय जीति समर समर महाराय सों।
(काव्यनिर्णय, पृष्ठ ४८, छं० सं० ३५)

इसमें भिखारीदासजी ने पहले समर का अर्थ युद्ध और दूसरे समर का अर्थ स्मर (काम) स्पष्ट ही लिखा है। तात्पर्य यह कि बिहारी-लालजी का प्रयोग अनुचित एवं निंद्य कदापि नहीं कहा जा सकता।

(६) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

बचै न बड़ी सबील हू चील घोंसुआ माँस।
(बिहारी-सतसई)

इस पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबंधु लिखते हैं—"सबील युक्ति के अर्थ में लाया गया है, इसका शुद्ध अर्थ है मार्ग। 'भाई, इसकी कोई सबील निकाल दो' ऐसे वाक्य में सबील का अर्थ युक्ति माना जा सकता है, किंतु 'बचै न बड़ी सबील हू चील घोंसुआ माँस' में युक्ति का अर्थ नहीं लगता।"

(हिंदी-नवरत्न द्वि० सं०, पृष्ठ २८५)

यह आक्षेप भी निर्मूल है। सबील का प्रयोग दोहे में प्रयत्न के अर्थ में बड़ा औचित्य-पूर्ण है। हिंदी-शब्द-सागर में इसके विषय में लिखा है—

"सबील—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) रास्ता, मार्ग, सड़क। (२) उपाय, तरकीब, यत्न।"

(हिं० श० सा०, छठा खंड, पृ० ३४५२)

(७) महाकवि बिहारीलालजी ने पनिहा का प्रयोग जासूस या चोरी का पता लगानेवाले के अर्थ में किया है। इस पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबंधु लिखते हैं—"पनिहा चोरी का पता लगानेवालों के अर्थ में आया है। शुद्ध बुंदेलखंडी शब्द है पनाही। जो धन लेकर किसी के चोरी गए हुए ढोरों का पता लगाता है, उसे पनाही कहते हैं। इसी से कवि ने मनमाना शब्द गढ़ लिया।"

(हिंदी-नवरत्न द्वि० सं०, पृष्ठ २२८)

यह इन सज्जनों की भूल है। पनिहा शब्द पनाही से नहीं बना है। यह संस्कृत-भाषा के 'प्रणिधा' का अपभ्रंश (तद्भव रूप) है। प्रणिधा का प्रयोग संस्कृत में दूत या गुप्तचर के अर्थ में होता है। इसी से पणिहा और फिर आधुनिक पनिहा बना है। इसे बिहारीलालजी की गढ़त कहना तो इन सज्जनों की अध्ययन-हीनता का फल है। बिहारीलालजी के जन्म के बहुत पहले ओरछा-नरेश महाराज मधुकरशाह के गुरु प्रसिद्ध राधावल्लभी महात्मा श्रीहरिरामजी व्यास की रचना में इसका प्रयोग पाया जाता है। एक उदाहरण यहाँ देखिए—

सैननि बिसरे बैननि भोर।
बैन कहत कासो पिय प्यारे, बिहँसत कतहिं किसोर,
...
काके पायँ गहत मम प्यारे, कासों करत निहोर;
काहि न बिकल कियो नवनागर तुम पनिहा, तुम चोर।
निज बिहार आरोपि आन पर कोपि मान-गढ़ तोर;
व्यास स्वामिनी बिहँसि मचाई सुरस-समुद्र-हिलोर।

इसमें श्रीव्यासजी ने पनिहा का प्रयोग चोरी का पता लगानेवाले के अर्थ में किया है।

(८) महाकवि बिहारीलालजी ने 'नीठि' शब्द का प्रयोग अरुचि अथवा अनिच्छा और 'नीठि-नीठि कर' का प्रयोग 'ज्यों-त्यों करके', अथवा 'कठिनता से' के अर्थ में किया है। इस पर इन सज्जनों ने आक्षेप किया है। पर यह केवल वितंडावाद है।

हिंदी-शब्द-सागर में इनका प्रयोग और अर्थ इस प्रकार लिखा है—

"नीठि संज्ञा स्त्री०—अरुचि। अनिच्छा। (क्रिया) कठिनता से। मुश्किल से।

नीठि-नीठि करके=ज्यों-त्यों करके। किसी-न-किसी प्रकार। कठिनता से। मुश्किल से।

नीठि-नीठि=त्यों-त्यों करके। किसी-न-किसी प्रकार। जैसे-तैसे। मुश्किल से। कठिनता से।"

(हिं०-श० सा०, पृष्ठ १८७४-१८७५)

इसका प्रयोग बिहारीलालजी ने बड़ा ही सुंदर किया है। शब्द-सागर में भी इनके पाँच दोहे उद्धृत किए गए हैं। वे ये हैं—

कर के मीड़े कुसुम लौं गई बिरह कुम्हलाइ;
सदा समीपिन सखिन हू नीठि पिछानी जाइ।
चकी-जकी-सी ह्वै रही, बूझे बोलति नीठि;
कहूँ डीठि लागी, लगी कै काहू की डीठ।
नेकु हँसोहीं बान तजि, लख्यो परत मुख नीठि;
चौका चमकनि चौंध में परति चौंध-सी डीठि।
नीठि-नीठि उठि बैठि हू पिय-प्यारी परभात;
दोऊ नींद भरे खरे, गरे लागि गिर जात।
भौंहें ऊँचै, आँचर उलटि, मौरि मोरि मुँह मोरि;
नीठि-नीठि भीतर गई, डीठि डीठि सों जोरि।

इसका प्रयोग अन्यान्य श्रेष्ठ कवियों की रचना में भी प्रचुरता से पाया जाता है। जैसे—

(अ) छूटी लट लटकति कट-तट चितवति नीठि-नीठि कर ठाढ़ी।
(रसिक प्रिया)

चहुँ ओर चितै सत्रास, अवलोकियो आकास।
नहँ शाख बैठो नीठि तब पर्‍यो बानर दीठि।
(रामचंद्रिका)

(ब) बार अध्यारनि में भटक्यो जु,
निकार्‍यो मैं नीठि सुबुद्धिन सों घिरि;
'दास' कहो अब कैसे कढ़ै
निज चाड़ सों ठोढ़ी की गाड़ पर्‍यो गिरि।
(काव्य-निर्णय, पृष्ठ ५६)

(स) आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि,
सोहत सुहाई सूही इँडुरी सुपट की;
कहै 'पद्माकर' गहीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी।
(जगद्विनोद)

(ड) निठुर डिठौना दीन्हें नीठि निकसन कहै,
डीठि लागिवे के डर पीठि दै गिरत है।
(सुखसागर-तरंग, छं० २५१)

इसी प्रकार अन्यान्य कवियों की रचनाओं में भी इसके प्रयोग प्राप्त होते हैं।

(६) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

नैकु न जानी परति यों, पर्‍यो विरह तन छाम;
उठति दिया लौं नादि हरि, लियैं तिहारो नाम।
(बिहारी-सतसई)

इस पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबंधु लिखते हैं—"दिया लौं

नादि उठति' में नादि उठति सचेत होने के अर्थ में आया है; किंतु नाद से शब्द-संबंधी अर्थ निकलता है, न कि सचेत होने का।"

(हिंदी-नवरत्न, पृ० २८८)

इसके संबंध में बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने लिखा है—"जब दिए में तेल इत्यादि कम हो जाता है, और वह बुझने को होता है, तब पहले दो-एक बार भभककर बल उठता है। इसे दिए का नाँदना कहते हैं।"

(बिहारी-रत्नाकर, पृष्ठ ५२)

हिंदी-शब्द-सागर में इसके संबंध में लिखा है—"नादना क्रि० अ० [सं० नंदन] लहकना, लहलहाना। प्रफुल्लित होना।"

(पृष्ठ १७६५)

(१०) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

रस कैसे रुख ससि-मुखी, हँसि-हँसि बोलति बैन;
गूढ़ मान मन क्यों रहै भए बूढ रँग नैन।

(बिहारी-सतसई)

इसमें 'बूढ' के 'बीरबहूटी' के अर्थ में प्रयोग पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबंधु लिखते हैं—"हमने ब्रजवासियों से पूछा, तो उन्होंने कहा कि हमारे यहाँ बीरबहूटी, इंद्रबधू और राम की डोकरिया, ये शब्द इस अर्थ में माने जाते हैं, न कि बूढ। संभवत बिहारीलालजी ने बूढ शब्द राम की डोकरिया से निकाला हो। ऐसी दशा में यह शब्द निंद्य अवश्य है।" (हिंदी-नवरत्न, पृष्ठ २८५)

न-जाने यह आक्षेप क्यों किया गया है। बूढ़ शब्द का प्रयोग बिहारीलालजी ने यहाँ संज्ञा पुंलिंग में किया है, जिसका अर्थ हिंदी-शब्द-सागर के अनुसार (१) लाल रंग और (२) बीरबहूटी है। (देखो पृष्ठ २४८९)

फिर इसका प्रयोग ब्रजभाषा-काव्य में प्रचुरता से पाया जाता है। जिन भिखारीदासजी की भाषा को स्वयं मिश्रबंधुओं ने विशुद्ध एवं

आदर्श ब्रजभाषा घोषित किया है, उन्होंने भी अपनी रचना में बूढ़ का प्रयोग इंद्रवधू के अर्थ में ही किया है। देखिए—

नृत्यत कलापी, झिल्ली-पिक हैं अलापी,
विरही जन विलापी हैं मिलापी रसरास मैं;
संपा को प्रकास बक-अवली को अवकास,
बूढ़नि-बिकास 'दास' देखिबो को या समै।
(काव्य-निर्णय पृष्ठ २६, छं० १७)

जब महाकवि दास-जैसे महान् भाषा-विज्ञ आचार्य 'बूढ़'-शब्द का प्रयोग बीरबहूटी के अर्थ में करते हैं, तब यह सिद्ध है कि इसका प्रयोग निंद्य नहीं माना जा सकता।

(११) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा—

डारे ठोड़ी-गाड़ गहि नैन-बटोही मारि,
चिलक चौंध में रूप-ठग हाँसी-फाँसी डारि।
(बिहारी-सतसई)

इसमें महाकवि ने चिलक का प्रयोग चमक के अर्थ में किया है। इस पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबंधु लिखते हैं—"चिलक हमारे प्रांत में बड़ी पीड़ा को कहते हैं। लोग प्रायः ऐसा कहा करते हैं कि अमुक को चिलक (दर्द) देकर पेशाब उतरता है, या अमुक अंग में चिलक (दर्द) है। बुंदेलखंड और ब्रज में इसका अर्थ चमक माना जाता है। हमें ऐसा प्रांतीय या संदिग्ध शब्द नापसंद है।"

(हिंदी-नवरत्न द्वि० सं०, पृष्ठ २८४)

और, विद्वानों का ऐसा निंद्य आक्षेप नापसंद है। जब बुंदेलखंडी और ब्रज में चिलक का अर्थ चमक माना जाता है, और सतसई ब्रज-भाषा में लिखी गई है, तब बिहारीलालजी का चिलक को चमक के अर्थ में लिखना प्रशंसनीय है। सतसई केवल श्रीमिश्रबंधुओं की पसंदगी के लिये नहीं लिखी गई है। यदि इन सज्जनों के समान

संस्कृत-भाषा का पंडित फारसी के दस्त और फारसी का मौलवी संस्कृत के 'पाद'-शब्द पर आपत्ति करने लगे, तो कैसा उपहास कृत्य होगा। फिर इसका प्रयोग व्रजभूमि और बुंदेलखंड के सैकड़ों प्रसिद्ध कवियों ने किया है।

इसी प्रकार के चार-छः शब्द और हैं, जिन पर इन महाशयों ने आक्षेप किया है, और जिनका औचित्य उपर्युक्त प्रकार से भली भाँति सिद्ध किया जा सकता है। और तो ठीक ही, इन सज्जनों ने तो अगिनि और आधीन-जैसे शब्दों पर भी निंद्य आक्षेप किया है। यह कोई विचारणीय आलोचना नहीं है। इन महाशयों के अनुचित आक्षेपों को लक्ष्य कर पं० रामचंद्र शुक्ल ने बिहारीलालजी की भाषा के विषय में, अपने हिंदी-साहित्य के इतिहास में, आक्षेपों पर विचार करना व्यर्थ समझकर लिखा है—"जो यह भी नहीं जानते कि संक्रांति को 'संक्रमण' (अप० सक्रौन) भी कहते हैं, 'अच्छ' साफ के अर्थ में संस्कृत-शब्द है, 'रोज' रुलाई के अर्थ में आगरे के आस-पास बोला जाता है, और कबीर-जायसी-द्वारा बार-बार व्यवहृत हुआ है, 'मोन जात' शब्द 'स्वर्ण जाती' से निकला है—जुही से कोई मतलब नहीं, संस्कृत में बारि और 'वार्' दोनो शब्द हैं, और 'वार्द' का अर्थ भी बादल है, 'मिलान' पड़ाव या मुकाम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है। चलती ब्रज-भाषा में 'पिछानना' रूप ही आता है। 'खटकति' का रूप बहुवचन में भी यही रहेगा। यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ, तो बेचारे बिहारीलालजी का क्या दोष?" (पृष्ठ २६२)

तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी की अप्रतिम, पीयूषवर्षिणी, अर्थ-गाम्भीर्यमयी, भावानुकूल भाषा पर कटाक्ष करनेवालों ने बिना समझे-बूझे उसे सदोष कहा है, जो सर्वथा निंद्य है।

काव्य-कला-कुशलता

जो हित के साथ वर्तमान है, वह हुआ 'सहित,' और जिसमें 'सहित' का भाव हो, वह हुआ 'साहित्य'। इस प्रकार साहित्य वह है, जिसमें हितकारी भावों का वर्णन हो। यद्यपि साहित्य का यह अर्थ सर्वमान्य है, परतु यथार्थ मे किसी जाति अथवा राष्ट्र के पास जो ग्र थ-समूह का सग्रह उसके शताब्दियों से सचित ज्ञान एव उसकी भावनाओं को दिखानेवाला होता है, वही उसका साहित्य कहा जा सकता है। ऐतिहासिक ग्र थों मे साहित्य-शब्द का प्रयोग ऐसे ही अर्थ में किया जाता है। स्थूल रूप से साहित्य के दो मूल-विभाग हैं—(१) ज्ञान-प्रधान और (२) भाव-प्रधान। इन्हें (१) विज्ञानमय साहित्य और (२) आनंदमय साहित्य भी कहते हैं। विज्ञानमय साहित्य का सबध मस्तिष्क से है, और वह आवश्यकता-वाद के सकीर्ण घेरे मे घिरा रहता है। इसके अतर्गत दर्शन, गणित, इतिहास और अर्थ-शास्त्र आदि की गणना है। आनंदमय या भावमय साहित्य का संबंध हृदय से है, और यह आवश्यकता-वाद से परे लोकोत्तर आनदप्रदाता है। इन दोनो मे अर्थात् विज्ञान और काव्य में अपेक्षाकृत काव्य प्रधान है। ज्ञान की अपेक्षा भाव के प्रधान होने के कारण ही ज्ञानियो को भी भाव की शरण लेनी पड़ती है; क्योंकि भाव के बिना आत्मा आनद-पूरित नहीं हो सकती। जिसकी प्राप्ति का उपाय ज्ञान बतलाता है, उसका अनुभव भाव-मुग्ध व्यक्ति अपने अतर्हृदय में करता है। स्मरण रहे, विज्ञानमय कोप के भीतर ही आनदमय कोप है। इसी से भाव-व्यंजक आनंद-मूलक साहित्य को

प्रधानता दी जाती है, एवं विज्ञान-मूलक दर्शन और इतिहास आदि की गणना उनके पीछे की जाती है।

काव्यानंद ब्रह्मानंद-सहोदर है। काव्य की उपयोगिता सृष्टि में व्याप्त ब्रह्म के अनेक रूपों के साथ मनुष्य की जीवात्मा की भीतरी रागात्मिका प्रकृति का सामंजस्य स्थापित करने में है। वह हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित कर हमारे जीवन में एक नवीन स्फूर्ति डाल देता है। काव्य हमारे हृदय को विशाल बनाता है, जिससे हमें अनुभव होने लगता है कि सृष्टि की संपूर्ण वस्तुएँ हमारे ही आनंद से आनंदित हो रही हैं। पक्षी हमारे लिये ही राग अलापते हैं। सूर्य, चंद्र, ग्रह और नक्षत्रादि हमारे हृदय की गति के अनुसार ही नाच रहे हैं। प्रकृति हमारे आनंद में आनंद और दुःख में दुःख प्रकट करती है। हमें जान पड़ता है कि यह शोभामय दृश्यमान जगत्, जिसके द्वारा हम अपने सौंदर्य के आदर्श को प्रत्यक्षीभूत कर रहे हैं, हमसे भिन्न नहीं है। यदि हमसे इसका भिन्नत्व होता, तो फिर यह सागर अपनी लहरों से हमारी मन-नौका को चलायमान कैसे करता। जो लोग कविता की उपयोगिता समष्टि के साथ व्यष्टि के तादात्म्य संबंध को स्थापित करने में मानते हैं, वे बड़े ही विचारशील हैं। यहाँ यह ध्यान रहे कि कविता भाव-प्रधान कला है, और कला का उद्देश्य सौंदर्य के आदर्श को प्रत्यक्षीभूत करना होता है। भाव-प्रधान काव्य-साहित्य में सबसे श्रेष्ठ भाव प्रेम-भाव है। इस प्रकार सर्व-श्रेष्ठ काव्य-साहित्य वह है, जिसमें प्रेम और सौंदर्य का वर्णन रहता है। जिस साहित्य का लक्ष्य प्रेम और सौंदर्य है, वह कल्पना की मधुरिमा से संसार को रंजित कर उसमें सर्वथा अनिंद्य सुषमा का मनोरम दृश्य दिखलाता है। हमारे सर्वापेक्षा महान् एवं वैज्ञानिक प्राचीन आर्य-साहित्य ने रस ही को काव्य का प्राण माना है; एवं यह व्यवस्था दी है कि स्थायी भाव ही आलंबन और उद्दी-

पन-विभाव एवं अनुभाव और सचारी भावो से पुष्ट होकर रस की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि करता है। रस-अंगी के साथ काव्य में छद, अलंकार-गुण, रीति एव व्यग्य आदि का भी वर्णन रहता है। ये सब रस-अगी के अग बनकर उसके उत्कर्ष एव पूर्णत्व में सहायक होते हैं।

काव्य के भी महाकाव्य, खड काव्य, नाटक, चपू, उपन्यास और आख्यायिका आदि अनेक भेद हैं, जिनके उपभेदों का सागोपाग विस्तृत वर्णन आर्य-साहित्य के साहित्य-रीति-ग्र थों में प्रचुरता से प्राप्त होता है। गद्य-पद्यात्मक इन दृश्य-श्रव्य काव्य-भेदों के इन रीति-ग्र थों में विवेचनात्मक वर्णन मिलते हैं, जिनमें शास्त्रीय वैज्ञानिक विश्लेषण का उत्कर्ष द्रष्टव्य है। इन सब काव्य-भेदों में एक भेद मुक्तक माना गया है। मुक्तक उस पद्य-छद को कहते हैं, जिसका सबध अगले अथवा पिछले पद्यों से नहीं रहता, और जो अपने निबद्ध विषय को स्पष्टतया पूर्णरूपेण व्यक्त करने में अकेला ही समर्थ होता है। यह सत्य है कि मुक्तक की रचना काव्य-कला-कुशलता का चरम आदर्श है। एक पूरे प्रबध (ग्र थ) में विस्तृत कथानक का आश्रय लेकर कवि को रस-स्थापना का जो कार्य करना पड़ता है, वही कार्य एक छोटे-से मुक्तक छंद में कर दिखाना विलक्षण काव्य-रचना-सामर्थ्य की अपेक्षा रखता है। एक ही छोटे-से स्वतत्र पद्य मे स्थायी भाव, आलंबन-विभाव, उद्दीपन-विभाव, अनुभाव और सचारी भावों से परिपूर्ण रस का सागर लहराना, एक सपूर्ण आख्यायिका को इने-गिने ध्वन्यात्मक शब्दों में भर दिखाना, कथन-शैली मे एक निराला बाँकपन – एक निराला चमत्कार पैदा करना, उपमान-उपमेयों द्वारा भाव-साधर्म्य अथवा भाव-वैधर्म्य के आलंकारिक वेष को सजाना और सबके ऊपर देश-काल-पात्र के सर्वथा अनुकूल, स्वाभाविक, प्रवाहमयी, अलकृत और मुहावरेदार, गंभीर, अर्थमयी, नपी-तुली, भावानुकूल, प्राजल

भाषा का सहज सुकुमार प्रयोग करना सचमुच असाधारण प्रतिभा और भारी क्षमता का कार्य है। मुक्तक की रचना प्रधानतया व्यंग्य-प्रधान उत्तम काव्य में होती है। यथार्थ मे मानव-प्रकृति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण करना, प्रकृति-पर्यवेक्षण एवं प्रकृति की अनुभूति के साथ गहन-से-गहन निगूढ रहस्यों का उद्घाटन करना मुक्तकों की रचना का आदर्श होता है।

एक तो मुक्तक की रचना करना ही कठिन है, फिर अपनी संपूर्ण रचना केवल थोड़े-से मुक्तकों में ही रख जानेवाले ऐसे सिद्ध सारस्वतीक महाकवि थोड़े ही हुए हैं, जो नपे-तुले दस-पाँच शब्दों में ही मनोभावों की सजीव मूर्ति का रसमय शब्द-चित्र अंकित कर अपनी प्रखर प्रतिभा और कवि-कल्पना के बल से कुछ अनोखा प्रतीयमान सौंदर्य दिखलाकर, कला-प्रेमियों के हृदय पर अपनी छाप छोड़ सके हों। महाकवि श्रीबिहारीलालजी ससार के उन कतिपय महान् कवीश्वरों म ह, जिन्होंने अपनी सपूर्ण रचना मुक्तकों म ही की है। थोड़े-से ध्वन्यात्मक अर्थ-गांभीर्य-पूर्ण शब्दों में मनोरम आख्यायिकाओं को झलकाकर सजीव भाव-पूर्ण मनोहर, काल्पनिक मूर्तियों को अंकित करने म बिहारीलालजी अप्रतिम हैं। अत्यंत सक्षेप में एक पूरे कथानक को कुशलता से भरकर उसमें किसी प्रधान रस को मनोरम अनुभावों द्वारा प्रवाहित करने और साथ ही अलंकार, छंद, व्यंग्य, रीति और गुण आदि काव्यांगों का सुंदर निर्वाह करते हुए मानव-प्रकृति का निगूढ़ रहस्य प्रकट करने मं बिहारीलालजी अत्यत श्रेष्ठ हैं। व्यग्य-प्रधान काव्य मं अर्थ-सौरभ-पूर्ण अधखुली शब्द कलिकाओं के सुंदर, छोटे स्तवकों का संग्रह देखकर बिहारी-सतसई की प्रशसा ही करते बन पड़ती है।

बिहारीलालजी की काव्य-कला-कुशलता के विषय में मैं कहाँ तक लिख सकूँगा, इसका मुझे भय है। बड़े-बड़े महारथियों ने बिहारी-

सतसई की टीका लिखी, पर वे भी पूर्णरूपेण प्रकाश न डाल सके। कोई भी गर्व से यह न कह सका कि मैं बिहारी-सतसई के दोहो का अनूठापन पूरी तरह समझ सका हूँ। फिर मैं यह दावा किस प्रकार करूँ? परतु प्रसग-वश मै भी सतसई के कुछ ऐसे दोहे दिखलाता हूँ, जिनमे उत्कृष्ट काव्य-कला-कुशलता हो। वैसे तो बिहारी-सतसई का प्रत्येक दोहा बहुत उत्कृष्ट है, पर यहाँ मैं कुछ नमूने के तौर पर दिखलाता हूँ। देखिए—

प्रियतम ने रात्रि मे अन्य नायिका से सुरति की है। उसके शरीर पर अन्य-स्त्री-सभोग-सूचक चिह्न थे। प्रौढा धीराधीरा नायिका ने उसे देखकर कोप किया है। नायक उसे चद्रमुखी कहकर सबोधित करता है। इसका वह कैसा मुँहतोड़ उत्तर देती है। व्यग्य-प्रधान उत्तम काव्य का कैसा चमत्कार है। देखिए—

(१) ससि-बदनी मोसों कहत, सो यह साँची बात;
नैन-नलिन * ये रावरे न्याय † निरखि नै जात।
(बिहारी-सतसई)

भावार्थ—हे नायक! जो आप मुझसे शशिमुखी कहते हो, सो ठीक है। मेरा मुख सचमुच चद्रमा है। क्योंकि यदि मेरा मुख

---

* नलिन का अर्थ कमल है। यह पुलिंगवाची है, देखिए—

कुमुद्विन्यां नलिन्यां तु बिसिनी पद्मिनीमुखाः;
वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम्।
(अमरकोष वारिवर्ग, श्लोक-सं० ३९)

† यहा चद्र-चद्रिका-न्याय से तात्पर्य है, क्योंकि कमल को सकुचित करने का गुण चद्र में सदैव रहता है। देखिए—

जाको गुण जब जाहि सों कबहुँ जुदो नहिं होय;
भली भाँति लख लीजिए चंद्र-चंद्रिका सोय।
(काव्यप्रभाकर, पृष्ठ ६२१)

चंद्रमा न होता, तो आपके नेत्र जो कमल हैं, उसके (मुख के) सम्मुख सकुचित होकर नीचे की ओर न जाते (लज्जा से आँखें नीची न होतीं)।

जिस काव्य में रस, व्यंग्य की प्रधानता, अलंकार और माधुर्यगुण हों, वही काव्य आचार्यों ने श्रेष्ठतम माना है। प्रस्तुत दोहे में इन सबका समावेश विदग्धता से किया गया है। उपर्युक्त दोहे में नायिका का कोपावेश देखकर, अपराधी नायक लज्जित होकर नीचे की ओर देखने लगता है। वह नायिका के मुख की ओर देखने का साहस नहीं करता। परंतु नायिका का कोप पूर्णरूपेण प्रकट भी नहीं होता। वह कटु शब्द नहीं बोलती। बुरा-भला नहीं कहती। केवल उसकी मुखाकृति या उसके व्यंग्य वचन बोलने से ही नायक को जान पड़ता है कि वह उससे (नायक से) कुपित हो गई है। अतएव धीराधीरा नायिका है। क्योंकि—

लक्षण धीराधीर को कोप प्रकट अरु गोप।

(भाषाभूषण)

व्यंग्य-सहित होने से प्रयोजनवती लक्षणा है। प्रयोजनवती के शुद्ध और गौणी दो भेदों में से शुद्ध लक्षणा है। शुद्ध लक्षणा के भी आचार्यों ने जो चार भेद माने हैं, उनमें से सारोपा लक्षणा है। प्रयोजनवती लक्षणा होने से लक्षणा-मूलक व्यंग्य है। वह भी आर्थी व्यंग्य है। ध्वनि व्यंग्यार्थ है।

दोहे में नायक-नायिका शृंगार-रस के आलंबन हैं। उद्दीपन शृंगार-रस में सर्वदा अपेक्षित नहीं है। नेत्रों का अधोमुख होना आदि अनुभाव हैं। नायक का नायिका के मुख की ओर देखकर लज्जित होना तथा नायिका का नायक को अपने सम्मुख देखने में असमर्थ पाकर अपने मुख को चंद्रमा और नायक के नेत्रों को कमल कहना क्रम से लज्जा और गर्व-संचारी भावों का स्पष्टीकरण करते हैं।

स्थायी भाव रति है। इस प्रकार स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और सचारी भाव आदि से वर्धित हुआ पूर्ण शृंगार-रस दोहे में अपनी छटा दिखा रहा है। फिर शृंगार के सहायक हास्य की भी दोहे में एक हल्की, पर सुखद झलक है। कथन का बाँकपन और भाषा का औचित्य-पूर्ण प्रयोग-साम्य होना तो सोने में सुगध है। फिर देखिए 'शशिवदनी' के मुखचंद्र के सम्मुख 'नैन-नलिन' का 'नै' जाना परिणामालकार को कैसा समुज्ज्वल कर रहा है। माधुर्य और प्रसाद-गुण की जितनी प्रशसा की जाय थोडी है।

इस दोहे के भाव को लेकर बनाए हुए दो पद्य देखिए। बीर कवि लिखते हैं—

हेरति ही सौंहैं लाल जानै अरसौंहैं, तऊ
तिन्हैं ताकि काम-बान लागत अनैसे हैं;
रस-भरे, लाल तैसे, एऊ रस-भरे लाल,
भौर ठौर देखियत तारकानि तैसे हैं।
इतनो अचंभो मोहि आवत है 'बीर' कवि,
जानो नहीं कबतें सुभाइ गहे ऐसे हैं;
रैन रहैं खुले दिन देखि मुँदे आवत हैं,
रावरी सों रावरे कमल-नैन कैसे हैं;

बिहारीलालजी के इसी उत्कृष्ट दोहे के भाव को लेकर आधुनिक कवि मुशी कालीचरणजी (सेवक) ने निम्न-लिखित मनोहर छद बडे ही अनोखे ढग से कहा है। देखिए—

सगुन - अगुन रूप आपको बदत वेद,
हिये बिन गुन माल सोहै सोई अंक है,
नैन मद-भरे कबि सेवक कहत साँच,
अट-पट बैन, चाल लटपट बंक है।

आरसी दिखाय मनमोहन को बार-बार
 भामिनि यों गूढ़ बैन कहत निसंक है :
संकुचित कंज-नैन रावरे बिलोकियत,
 साँची तुम कहौ मेरो आनन मयंक है।

(२) घाम घरीक निवारिए, कलित ललित अलि पुंज,
 जमुना-तीर तमाल-तरु-मिलित मालती-कुंज।
 (बिहारी-सतसई)

इस दोहे में वर्णित नायिका स्वय अपना दूतत्व करती है, अतएव वह स्वय दूतिका है। वह वचन-चातुरी से अपना मतव्य नायक पर प्रकट करती है, और उसे सहेट के योग्य स्थान बतलाती है। वह उस मनचाहे नायक पर यह भी व्यंजित कर देती है कि तुम जाकर सहेट में ठहरो, मैं तुमसे वहाँ किसी बहाने आकर मिलती हूँ। कहती है—"यमुना के तीर पर तमाल-तरु से मिले हुए एवं सुंदर भ्रमर-समूह से मढ़े हुए मालती के कुज में घड़ी-भर ठहरकर घाम निवारण कीजिये।"

इस कथन में वाच्यार्थ के अतिरिक्त व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ में ही उसी प्रकार शोभा दे रहा है, जिस प्रकार देह के अतिरिक्त जीव देह में शोभा देता है। इस दोहे का प्रत्येक पद पृथक् रूप से देखिए—

(अ) 'घाम घरीक निवारिए'—इससे नायिका का यह अभिप्राय व्यजित होता है—"हे नायक! तुम वहाँ घड़ी-भर ठहरकर मेरी बाट जोहना। मैं अवश्य आऊँगी। मेरे आने में कुछ विलंब देखकर तुम मेरे न आ सकने का संदेह करके कहीं अन्यत्र न चले जाना। वहाँ बड़ी सघन छाया है, इससे हमें वहाँ कोई न देखेगा। तुम देखोगे, वहाँ इतनी सघन छाया है कि धूप नहीं पहुँच पाती।"

(ब) 'कलित ललित अलि-पुंज'—इससे वह यह व्यजित करती है कि वह स्थान सहेट के सर्वथा योग्य और प्राकृतिक सौंदर्य-संपन्न है,

जहाँ सुगंधित, विकसित सुमनों के पराग के लोभी भ्रमर-समूह मढ़े हैं। इससे यह भी तात्पर्य है कि उस मार्ग से लोगो का आवागमन भी नहीं होता, क्योंकि यदि लोगों का आवागमन उस स्थान मे रहता, तो वहाँ भ्रमर-समूह का मढ़ा हुआ होना कैसे सभव था, अतः समझ लो कि प्रणयियुग्म के सम्मिलन-योग्य वह सहेट स्थान सर्वथा उपयुक्त एवं रमणीय है।

(स) 'जमुना-तीर'—इससे नायिका यह व्यजित करती है कि वह स्थान बस्ती से दूर है, और वहाँ मेरा आना जल भरने के बहाने बेखटके हो सकता है। 'जमुना-तीर' से उद्दीपनकारी, शीतल समीर होने का भी अर्थ ध्वनित होता है।

(ड) 'तमाल-तरु-मिलित मालती-कुज'—इससे वह यह व्यजित करती है कि वह स्थान उद्दीपनकारी भी यथेष्ट है। वहाँ मनुष्यों और पशु-पक्षियों की कौन कहे, तमाल-तरु और मालती-बेलि आपस मे पुरुष-स्त्री-भाव मिले हुए—लिपटे हुए—हैं।

इस दोहे मे रति स्थायी भाव है, जो रसोत्पत्ति-पर्यंत अतिरस्कृत रूप से ठहरता है। वह रति स्थायी भाव नायिका के हृदय मे नायक का अवलबन करके ठहरता है। अतएव नायक उस रति स्थायी भाव का आलबन विभाव है। नायक के सौंदर्य और गुण आदि का दर्शन उस रति स्थायी भाव के उद्दीपन विभाव हैं। उससे मिलन की अभिलाषा सचारी भाव है। सहेट में मिलने के हेतु नायिका का चातुर्य-पूर्ण कथन अनुभाव है। दोहे में स्थायी भाव रति के साथ आलंबन और उद्दीपन विभाव एव अनुभाव और सचारी भाव का समुचित समावेश होने से शृंगार-रस का प्रस्फुटन अच्छा हुआ है। नायक उपपति और नायिका परकीया है, जो रूप, यौवन एव विद्या-चातुर्य-सपन्ना है। नायक भी क्रिया-चतुर और वचन-विदग्ध जान पड़ता है, तभी नायिका उसे व्यग्यार्थ द्वारा गूढ भाव से समझाने का साहस करती है।

इस प्रकार इस दोहे में व्यंग्यार्थ इष्ट होने से इसमें ध्वनि का प्राधान्य है। इस ध्वनि को केवल साहित्य-मर्मज्ञ और मनोभावों के प्रवीण वेत्ता ही जान सकते हैं, अतएव गूढ़ ध्वनि है। फिर भी इसमें वाच्यार्थ का संपूर्णतया परित्याग नहीं हुआ है, और व्यंग्यार्थ द्वारा एक घटना-विशेष का बोध कराया गया है, इससे यह विवक्षित वाच्यातर्गत वस्तुध्वनि का स्वरूप है। इस दोहे में महाकवि बिहारीलालजी ने ध्वनि को ही प्रधानता दी है, इसीलिये ध्वनि-चमत्कार इतना प्रबल है कि उसके कारण दोहे में अलंकारों की वैसी प्रमुखता नहीं रही। फिर भी इस दोहे में पर्यायोक्ति अलंकार की अच्छी छटा है। माधुर्य-गुण का प्राधान्य होने से संपूर्ण दोहे में मधुरा या कैशिकी वृत्ति और वैदर्भी रीति स्पष्ट हैं। व्यंग्यार्थ प्रधान काव्य उत्तम काव्य माना जाता है। व्यंजक पात्र की आधार शुद्ध परकीया और उपपति माने जाते हैं, सो बिहारीलालजी के दोहे में भी व्यंजक पात्र के आधार ऐसे ही हैं। इतना सब होने पर भी भाषा के स्वाभाविक प्रवाह और अर्थव्यक्त गुण के साथ-साथ अव्यर्थपदत्व का होना बड़ा ही प्रशंसनीय है।

इस दोहे में अनेक काव्य-गुण हैं, जिन्हें यहाँ विस्तार-भय से नहीं दिखला सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि दोहे में शृंगार-रस का प्रस्फुटन श्रेष्ठ कलात्मक ढंग से, समर्थ मनोहारिणी भाषा में, निराले ढंग से, हुआ है।

(२) मृग-नैनी दृग की फरक, उर-उछाह, तन-फूल;
बिनहीं पिय-आगम उमँगि पलटन लगी दुकूल।
(बिहारी-सतसई)

इसमें 'पलटन लगी दुकूल' से यह ध्वनित होता है कि नायिका उत्तमा स्वकीया है, उत्कृष्ट पतिव्रता और धर्मवती सती है। वह पति के विरह में मलिन वेश धारण किए हुए थी, परंतु आज पति के

आगमन की सूचना पाकर वह सुहागिनी, पति-गत-प्राणा, सती प्रियतम-विरह की अवस्था के मलिन वेष का त्याग करती है—उत्तम वस्त्राभूषण धारण करती है। प्रिय पति के आगमन के उल्लास से उल्लासिनी नायिका आज उसकी—अपने प्रियतम की—प्रसन्नता के हेतु सुंदर शृंगार सजती है। वह रात-दिन—तीस दिन—अपने प्राणप्यारे के आगमन की प्रतीक्षा में तन्मय रहती थी। आज बाईं आँख फड़कते ही उसने जान लिया कि मगल होगा। प्रियतम-विरहिणी प्रेमिका पतिव्रता को मंगल तभी है, जब प्राणप्यारा पति निकट हो। उसने जान लिया, उसे दृढ विश्वास हो गया कि ये सब शुभ शकुन प्राणप्यारे के आगमन की सूचना दे रहे हैं। उमग में भरकर, वह अपने वियोग-सूचक मलिन वस्त्रों को त्यागकर नवीन धारण करने लगी। उसके हृदय में प्रियतम से मिलन का उछाह था, और इसी से उसके शरीर में रोमाच हो आया। वह उत्कृष्ट प्रेमिका प्रेम-पात्र से मिलने के आनदमय विचारों में ऐसी विभोर हो गई, इतनी प्रेम-विह्वला इतनी आत्मविस्मृता—हो गई कि उस ध्यान द्वारा सम्मिलन के आनद में ही उसे सुध-बुध न रही। न्योछावर आदि व्यावहारिक कार्य करने का उसे ध्यान तक न रह गया। प्रेम की सलग्नता की इसमें चरम-सीमा है।

इस दोहे में महाकवि बिहारीलालजी के अन्यान्य सैकडों दोहों के समान ही अलकारो की अद्भुत छटा है। देखिए—

(१) 'मृग-नैनी'—साभिप्राय विशेष्य होने से परिकराकुर अलंकार है।

(२) 'उर-उछाह'—छेकानुप्रास है, जो उकार की पुनरावृत्ति से स्पष्ट हो रहा है।

(३) 'विनई पिय-आगम उमँगि पलटन लगी दुकूल'—प्रियतम के आगमन-रूप आधार का अभाव रहते हुए भी आगमन पर की

जानेवाली 'शृंगार सजने की' क्रिया को नायिका करने लगती है, अतएव 'विशेषालंकार' है।

(४) 'दृग की फरक'—दृग की फरक रूप अपूर्ण हेतु से शृंगार सजने का कार्य पूर्ण हुआ, अतएव, द्वितीय विभावना अलंकार है।

(५) आगमन-रूपी कारण के बिना ही शृंगारादि सजने का कार्य होने लगा, अतएव प्रथम विभावना अलंकार हुआ।

(६) दृग की फरक, उर-उछाह और तन-फूल—इनका एक ही धर्म है, अतएव तुल्य-योगिता अलंकार की झलक है।

(७) दोहे में दृग की फरक, उर-उछाह और तन-फूल में मन की प्रसन्नता को प्रसन्नता देनेवाली कई बातों का एक साथ वर्णन हुआ है, इससे सहोक्ति अलंकार हुआ। क्योंकि—

जहँ मन-रंजन बरनिए एक साथ बहु बात,
सो सहोक्ति आभरण है ग्रंथन में विख्यात।

(८) दृग की फरक आदि केवल उत्पादक हेतु का वर्णन रहने और कार्य-कारण एक साथ वर्णित होने से हेतु अलंकार हुआ।

(९) दोहे में उर-उछाह, तन-फूल एवं दृग की फरक-रूप तीनों कारणों से दुकूल पलटने का कार्य होता है, अतएव द्वितीय समुच्चय अलंकार हुआ। क्योंकि—

एक काज के करन को होय जु हेतु अनेक,
ताहि समुच्चय दूसरो वरनैं कवि सविवेक।

(१०) दृग-फरक, उर-उछाह और तन-फूल में अर्थावृत्ति दीपक है।

इस प्रकार इस दोहे में १० अलंकारों का समावेश होने से संकर अलंकार है। दोहे में शृंगार-रस का भी बड़ा ही विदग्धता-पूर्ण वर्णन है। मृग-नैनी नायिका आश्रय, प्रेम-पात्र नायक आलंबन और दृग की फरक आदि उद्दीपन विभाव हैं। सुंदर दुकूल पलटना आदि

अनुभाव हैं। उत्कंठा, हर्ष और अवहित्यादि संचारी भाव हैं। ललित हाव का लालित्य दर्शनीय है। रति स्थायी भाव है।

इस प्रकार इस छोटे-से दोहे में शृंगार-रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। आगतपतिका नायिका शृंगार-रस का सर्वस्व हो रही है। अन्यान्य काव्य-गुणों में भी दोहा बहुत उत्कृष्ट है।

(४) सोवत, जागत, सुपन-बस, रिस, रस, चैन, कुचैन;
सुरत स्यामघन की सुरत बिसरैं हू बिसरै न।
(बिहारी-सतसई)

किसी ब्रज-बाला पर घनश्याम के प्रेम का जादू चल गया है। वह प्रेमोन्मत्ता एक पल के लिये भी, कभी किसी दशा में भी, घनश्याम को नहीं भूलती। उसकी स्मृति घनश्याम के भावमय हो रही है। वह अनन्य प्रेमिका सोवत में 'रिस-बस', जागत में 'रस-बस' और स्वप्न में 'चैन-कुचैन-बस' है। उसे घनश्याम (श्रीकृष्ण) की स्मृति किसी भी भाँति विस्मृत नहीं होती। वह सोते में निद्रा की रिस के बस है। उसे वियोगिनी समझकर निद्रा उससे रुष्ट हो गई है। उसके नेत्रों में प्रियतम का वास देखकर अब उनमें निद्रा नहीं आती। प्रेमिका नायिका भला प्रेम-पात्र के विरह में सो ही कैसे सकती है? उसे तो प्रिय-मिलन की चिंता है। और, जहाँ चिंता है, वहाँ निद्रा आती हीकहाँ है? इसी पर एक प्रेमी सुकवि ने यह दोहा कहा है—

नींद पुरानी प्रेहिनी रात्ति न आई हाय!
चिंता-नव बधु देखिकै झाँकि-झाँकि चलि जाय।

वह जागते में 'रस-बस' है। अर्थात् जाग्रत् अवस्था में प्रियतम का ध्यान करते-करते उसकी, बिहारीलालजी के शब्दों में ही, ऐसी दशा हो गई है कि 'पिय के ध्यान गही-गही रही वही ह्वै नारि; आपु-आपु ही आरसी लखि रीझति रिझवारि।' इस दशा में ध्यान-

तन्मयता में उसे बड़ा आनंद या रस प्राप्त होता है। स्वप्नावस्था में वही नायिका 'चैन-कुचैन-बस' हो जाती है। अर्थात् जब जागते-जागते शरीर शिथिलता का अनुभव करता है, और अर्ध-निद्रित अवस्था हो जाती है, जो जागने और सोने के मध्य की अवस्था है, तब उसे ध्यान-तन्मयता के कारण उसके प्रियतम घनश्याम श्रीकृष्ण, जिनका उसे निरंतर ध्यान रहता है, उसके पास ही बैठे दिखाई देते हैं। वह स्वप्न में देखती है कि मुरलीमनोहर घनश्याम उसके करतलद्वय को अपने हाथों में लिए उसके सुंदर अधरों का चुंबन कर उसकी विरह-ज्वाला शांत कर रहे हैं! तब उसे चैन है। परंतु ज्यों ही वह प्रेमावेश में अपनी कोमल, मृणाल-सी बाहुओं को प्रियतम के कंबु-कंठ में डालना चाहती है, त्यों ही वह सुभग, श्यामल मूर्ति अंतर्धान हो जाती है। स्वप्न का सुख आलसी के उत्साह के समान नष्ट हो जाता है, और उसे अपनी विरहावस्था का स्मरण हो आता है। इस प्रकार वह नायिका स्वप्नावस्था में चैन और कुचैन दोनों के 'बस' होती है। घनश्याम की सूरत का ध्यान वह भुला देना चाहती है, पर नहीं भुला सकती।

अब दोहा-रूपी मंजूषा में भरे अनेक बहुमूल्य अलंकारों की छटा का भी कुछ परिचय प्राप्त कीजिए—

(१) सोवत-बस रिस, जागत-बस रिस और सुपन-बस चैन-कुचैन का वर्णन क्रम से है, अतएव दोहे में उत्कृष्ट क्रमालंकार है।

(२) सोवत, जागत, रिस, रस, चैन, कुचैन और बिसरै हूँ बिसरै न—में दोनों प्रकार के—आदि-अंत के—छेकानुप्रासों की छटा छहर रही है।

(३) बस, रिस, रस और सुरत, स्यामघन तथा सुरत में दोनों प्रकार के वृत्त्यानुप्रास हैं।

(४) 'सुरत स्यामघन की सुरत बिसरै हूँ बिसरै न' में स्मृति अलकार का अच्छा प्रस्फुटन है ।

(५) बिसारने की क्रिया-रूप कारण के विद्यमान रहते हुए भी विस्मृति-रूप कार्य नहीं होता, अतएव विशेषोक्ति अलकार है ।

(६) 'जागत, सोवत-सुपन-बस रिस-रस-चैन-कुचैन' में जब, जहाँ, जिस भाव में देखती है, तब, वहाँ उस भाव मे नायिका को घनश्याम दिखाई देते हैं । उसके स्मृति-पटल पर घनश्याम की मूर्ति अंकित हो गई है । घनश्याम की सूरत की सुरत वह भूलती ही नही है । इसमें एक घनश्याम का अनेक स्थिति और स्थलों पर युक्ति से वर्णन होने के कारण तृतीय विशेषालकार हुआ ।

(७) 'जागत, सोवत-सुपन-बस रिस-रस-चैन-कुचैन' में अनेक भावों का एक साथ गुंफन होने से समुच्चय अलकार हुआ ।

(८) नायिका प्रथम सुषुप्तावस्था का आश्रय लेती है, फिर जाग्रत् अवस्था का और पश्चात् शिथिलता आने पर आलस्य के कारण स्वप्नावस्था का आश्रय लेती है, और -'एक वस्तु क्रम सों जहाँ आश्रय लेय अनेक, ताहि प्रथम पर्याय कवि बरनैं सहित बिवेक ।' इसमें प्रथम पर्याय अलकार हुआ ।

(९) 'जागत में रस-बस'—इसमें वियोगिनी को प्रियतम-विरह मे जाग्रत् अवस्था मे दुःख उत्पन्न न होकर ध्यानावस्थित होने से प्रियतम की एक प्रकार से प्राप्ति हो जाने का भ्रम होने के कारण रस (आनद) का अनुभव होता है, और जहाँ 'जाको जो कारण नहीं उपजत ताते तौन' वहाँ चतुर्थ विभावना अलंकार होता है ।

(१०) नायिका की विकलता आदि का वर्णन किया है, पर दोहे में स्पष्टतया यह कहीं नहीं लिखा कि वह विरहिणी है, और विरहाधिक्य के कारण उसकी ऐसी व्याकुल स्थिति है, अतएव अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार हुआ ।

(११) 'सोवत, जागत-सुपन-बस रिस-रस-चैन-कुचैन' में 'बस' शब्द का प्रयोग देहरी-दीपक अलकार का उदाहरण है।

(१२) 'सुरत स्यामघन की सुरत' में एक 'सुरत' का अर्थ सूरत या स्वरूप और दूसरे 'सुरत' शब्द का अर्थ 'ध्यान' है, अतएव यमक अलकार है।

(१३) दोहे में दत्य अक्षरों का अधिकतर प्रयोग किया गया है। इससे छद में मधुरता आ गई है, अतएव श्रुत्यानुप्रास है।

(१४) 'सुरत स्यामघन की सुरत बिसरें हू बिसरै न' इस उत्पादक हेतु से सोवत, जागत, सुपन, रिस, रस, चैन, कुचैन हैं, अतएव हेतु अलकार स्पष्ट है।

(१५) घनश्याम साभिप्राय विशेष्य होने से परिकराकुर का उत्कृष्ट उदाहरण है, क्योंकि घनश्याम से सजल-जलद-छवि-रूप श्रीकृष्ण का बोध होता है, जो रस (जल) की वर्षा करते हैं।

इस दोहे में महाकवि बिहारीलालजी ने विरह-व्याकुल प्रोषित-पतिका नायिका के विरह की स्मरणावस्था का बड़ा ही अनूठा वर्णन किया है। दोहे में वियोग-शृंगार की पूर्णता दर्शनीय है। स्थायी भाव रति है, क्योंकि स्मरण होने से नायक-दर्शन की जो प्रबल आकाक्षा होती है, वह कुछ समय तक ठहरकर चली नहीं जाती, वरन् रति के स्थायित्व के कारण अविच्छिन्न प्रेम होने से स्थिर रहती है। घनश्याम वियोग-शृंगार के आलंबन हैं। प्रियतम की स्मृति उद्दीपन विभाव है। बिछुड़े हुए नायक की स्मृति होने से—'सोवत, जागत-सुपन-बस रिस-रस-चैन-कुचैन' का होना अनुभाव है। सोवत (निद्रा), सुपन (स्वप्न), सुरत (स्मृति), चैन (हर्ष) एव कुचैन (व्याधि) आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार दोहे में वियोग शृंगार की पूर्णता है। माधुर्य एव प्रसाद-गुण के साथ भाषा और भाव के सरस प्रवाहमय वर्णन-शैली की

मनोहरता के साथ कैशिकी वृत्ति और वैदर्भी रीति का अच्छा सामंजस्य है।

(५) बाल-बेलि सूखी सुखद इहि रूखी रुख घाम ;
फेरि डहडही कीजिए सरस सींचि घनस्याम।
(बिहारी-सतसई)

महाकवि बिहारी के इस दोहे मे परकीया का पूर्वानुराग उद्वेग दशा में किस प्रकार झलक रहा है, यह दर्शनीय है। उसकी विरहावस्था बड़ी शोचनीय है। वह वियोग में घुल-घुलकर बिलकुल शक्ति-हीन हो गई है। केवल शक्ति-हीन ही नहीं, बिलकुल सूख जाने की स्थितिवाली वेलि के समान उसकी दशा हो गई है। यही देखकर उसकी सखी घनश्याम से नायिका की विरह-व्याकुल-दशा का निवेदन करती हुई कैसे सुदर, श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग कर अपनी अद्भुत वाक्चतुरता का परिचय देती हुई कहती है—"हे घनश्याम! वह सुखद (हरी-भरी, तरोताज़ा, डहडही कांतिवाली) बाला-वल्ली, तुम्हारी इस रुखी रुख की (दाहक) धूप से सूख गई है (सूखकर कॉटा हो गई है)। अब आप तुरत ही नेह-मेह सींचकर उसे पुनः हरी-भरी कीजिए।"

इसमें घाम मे सुखद वेलि का रस (जल) के सींचन के अभाव में सूख जाने का वर्णन बड़ा ही स्वाभाविक है। वही सूखी-शब्द, श्लिष्ट अर्थ लेने पर, दुबली हो जाना भी बतलाता है, और प्रेमिका नायिका का विरहावस्था मे सूखकर कॉटा हो जाना भी बड़ा ही स्वाभाविक है। 'सरस' मे 'जल' और नेह (प्रेम) का सुंदर श्लेष है। 'घनश्याम' भी श्लेष वर्णन का उत्कृष्ट उदाहरण है। दोहे में घनश्याम से श्यामसुदर श्रीकृष्ण और 'काले मेघ' दोनो अर्थ हैं। घनश्याम में साभिप्राय विशेष्य होने से परिकरांकुर अलंकार भी है। क्योंकि घनश्याम से सजल-जलद-छविवाले श्रीकृष्ण का बोध होता है।

नव-यौवना बाला को सुखद बेलि और विरहावस्था में प्रेम-पात्र की रूखी रुख को घाम बनाकर महाकवि बिहारीलालजी ने बाला-रूपिणी वल्ली को कैसी विदग्धता से सुखाया है, यह दर्शनीय है। फिर उस बाला-वल्ली को सरस 'नेह-मेह' सींचकर डहडही (तरो-ताज़ा, हरी-भरी) करने की फरियाद घनश्याम (रसिक कृष्ण और सजल, श्यामल मेघ) से कितनी खूबी के साथ की गई है, यह देखकर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है।

(६) देखौ, जागति वैसिए, साँकर लगी कपाट ;
कित ह्वै आवत-जात भगि, को जानै किहि बाट ?
(बिहारी-सतसई)

बिहारीलालजी के इस स्वप्न-दर्शन के वर्णनवाले दोहे का भाव हृदय-तल को हिला देनेवाला है। इसमें जितनी तन्मयता है, उतना ही बाँकपन भी। सीधे, सहज शब्दों में ऐसा अनूठा रस इस प्रकार प्रवाहित करने में हिंदी का कोई भी कवि समर्थ नहीं हो सका। इसमें प्रेमिका नायिका को स्वप्न में नायक के दर्शन होते हैं। वह अपनी सखी से कहती है—

हे सखी, देखा, (इस एक ही शब्द में आश्चर्य का भाव कैसे विलक्षण ढंग से सन्निहित है। कहनेवाली की व्यग्रता किस प्रकार निराले ढंग से सूचित हो रही है।) 'जागत वैसिए' (किस प्रकार अपनी सफ़ाई दे रही है। साथ-साथ इस कथन में नायिका की विरहावस्था का भी अच्छा वर्णन है। कहती है—'मैं' वियोग में वैसे ही जागती रहती हूँ।) 'साँकर लगी कपाट' (किवाड़ों में साँकल लगी ही है, जिससे जब तक हम किवाड़ न खोलें, तब तक कोई भी यहाँ—इस स्थान में—आ ही नहीं सकता)। परंतु फिर भी वह प्यारा कौन जाने 'कित ह्वै आवत' (कहाँ से आ जाता है) और फिर किस (बाट) रास्ते से भाग जाता है।

इस संपूर्ण दोहे मे प्रेम की तन्मयता का अच्छा खेल दिखलाया गया है। जिस समय अर्ध-निद्रावस्था—स्वप्नावस्था—मे नायिका नायक के ध्यान में तन्मय होती है, उस समय नायक उसे नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। परतु जैसे ही वह उसे छूने या पकड़ने की चेष्टा करती है, वैसे ही वह देखती है कि वहाँ कोई भी—कुछ भी—नहीं है। ध्यान की तन्मयता फिर होती है, और फिर वही प्रियतम नेत्रों के सम्मुख आ जाता है। पर स्पर्श-सुख के लिये उसकी ओर झपटने पर वहाँ कुछ भी नहीं मिलता। नायिका विक्षिप्त के समान उस ध्यान की मूर्ति को हृदय से लगाने के हेतु पलँग से उठकर उसकी ओर दौड़ती है, पर वह प्रेम-पात्र की मूर्ति अतर्धान हो जाती है। तब वह किवाड़ों की ओर देखती है, पर उन्हें पहले के ही समान बद पाती है। फिर मुँह फेरती है, तो वही प्रियतम की मोहिनी मूर्ति सम्मुख उपस्थित हो जाती है। जब वह पुनः उसकी ओर झपटती है, तब वह मूर्ति पुनः अतर्धान हो जाती है। नायिका किवाड़ों की ओर फिर देखती है, और उन्हें पूर्ववत् बद पाती है। इस क्रीड़ा से जब वह घबरा-सी जाती है, तब पास में पड़ी हुई सखी से कहती है—"देखो, मैं जाग रही हूँ। किवाड़ो में वैसी ही सॉकल लगी हुई है। कौन जाने मेरा वह प्रेम-पात्र यहाँ किस मार्ग से आ जाता है, और किस मार्ग से भाग जाता है।" इसमें कितना सुंदर कल्पनामय सजीव शब्द-चित्र है ?

(७) लग्यो सुमन ह्वै है सुफल, आतप-रोस निवारि,
बारी, बारी आपुनी, सींचि सुहृदता-बारि।
(बिहारी-सतसई)

तरुणी नायिका के घर नायक के आने की बारी (पारी) है। नायिका यद्यपि नायक पर अनुरक्त है, पर उसके आने मे विलब होने के कारण वह कुपित होकर उद्यान मे जी बहलाने के निमित्त

चली आई है। वहाँ उद्यान में माली तथा उस नायिका की बहि-रंगिणी सखियाँ उपस्थित हैं। नायक के पास से उसकी अंतरंगिणी सखी वहाँ आई है, और निम्न-लिखित वचन-चातुरी-पूर्ण बात कहती है। इसमें एक अर्थ तो माली पर लागू होता है, और दूसरा मुख्य अर्थ नायिका पर। सखी कहती है—

(१) माली प्रति—हे (बारी) माली! तेरी वाटिका में लगा हुआ यह सुमन (फूल) फल-युत (सफल) होगा। अतएव तू अपनी बगीची को सुहृदता के जल से (ऐसे जल से जो सुहृद्वत् लाभदायक सिद्ध हो) सींच, और आतप (घाम) के रोष अर्थात् प्रचंड ताप को निवारण कर, आतप के प्रकोप से इसे बचाए रख।

(२) नायिका प्रति - हे भोली कमसिन! अयि मुग्धे! जो तेरे मन में लगा है, सो सफल होगा, अर्थात् तेरा अभीष्ट सफल होगा। मेरी रानी! तू अपने इस दाहका रोष को दूर कर। तू अपनी पारी में नायक के प्रति क्रोध प्रदर्शित न कर। क्योंकि इससे उसे दु:ख होगा, और फिर तेरे यहाँ आने से विरक्ति-सी होने लगेगी। तू तो अपनी पारी में नायक के प्रेम-प्यासे हृदय को अपनी मैत्री के जल से सींचकर हरा-भरा रख।

मर्मज्ञ देखें कि इस पद्य में समर्थ महाकवि बिहारीलालजी ने अंतरंगिणी सखी द्वारा नायिका की अभीष्ट गुप्त बात किस विलक्षण चतुराई से माली की ओट में बहिरंगिणी सखियों और माली के सामने खुले खज़ाने कहलवा दी है। महाकवि के इस दोहे में मानवती नायिका के प्रति अंतरंगिणी सखी की मान-मोचन एवं मैत्री-प्रदर्शन की शिक्षा के साथ-साथ श्लेष अलंकार का कैसा अद्भुत सामंजस्य है।

किसी प्रोषितपतिका नायिका को वियोग में जगत् अंधकारमय दिखलाई देता है, उसे चाँदनी भी अंधकार का ही रूपांतर प्रतीत होती है। वह अपनी सखी से चाँदनी के विषय में कहती है—

(८) जोन्ह नहीं यह तम वहै, कियो जु जगत निकेत ,
होत उै ससि के भयो मानो ससिहर सेत ।
(बिहारी-सतसई)

"यह चाँदनी नहीं है । यह तो वही अधकार है, जिसने ससार को अपना घर कर रक्खा है । जान पडता है, मानो चद्रमा के उदय होने से वही अधकार हटकर सफेद हो गया है ।"

इसमें विरह-दशा मे दाहक चाँदनी को विरहिणी का अधकार समझना एव प्रियतम के विरह मे हर्षालोक के अभाव मे उसे सारे ससार मे अधकार का प्रसार दिखाई पडना बडे ही सच्चे वर्णन हैं । चाँदनी को अधकार कहकर दोहे मे जो यह उत्प्रेक्षा की गई है कि उदय को प्राप्त हुए अपने सबल शत्रु चद्रमा को देखकर डर से वही अधकार श्वेत वर्ण का हो गया है, इसमें निराली कल्पना का सौदर्य आ गया है ।

अब देखिए, सजल, श्यामल मेघो पर नीले, पीले, लाल और हरे रग के इद्र-धनुष का अनुपम और चमत्कार-पूर्ण दृश्य प्रकृति-निरीक्षक बिहारीलालजी अपनी अनुपम सूक्ष्म दृष्टि से घनश्याम श्रीकृष्ण की हरे रग की बाँसुरी मे किस प्रकार दिखलाते हैं । हरे रग की बाँसुरी, उस पर ओठों की लालिमा, दतावली की सफेदी, पीताम्बर का पीतवर्ण, नेत्रों की सफेदी, कालिमा और अरुणिमा, इद्र-नीलमणि के वर्णवाले श्यामसुदर के कपोलों और करो की नीलिमा आदि का आरोप इस वर्णन मे बडी खूबी से हुआ है । इस प्रकार से इंद्र-धनुप के विविध रगों का सम्मिश्रण श्यामसुदर के अधरो पर रक्खी बाँसुरी मे कर दिखलाना अपूर्व प्रतिमा-सपन्न महाकवि बिहारीलालजी का ही काम । लिखते हैं—

(९) अधर धरत हरि के परत ओठ-दीठ-पट-जाति ,
हरित बाँस की बाँसुरी, इंद्र-धनुष-रँग होति ।
(बिहारी-सससई)

संपूर्ण हिंदी-साहित्य में इस दोहे की जोड का छंद ढूँढ निकालना कठिन है। हरि, हरित, अधर, धरत, परत, बाँस, बाँसुरी, जोति, होति आदि में जो शब्द-चमत्कार है, वह भला किस साहित्य-प्रेमी और कवि की बुद्धि को विमोहित न कर देगा। बड़े-बड़े धुरंधर "कवयोऽप्यत्र मोहिता।" तद्गुणालंकार का यह दोहा अनुपम उदाहरण है।

अब एक रूपगर्विता कृष्णाभिसारिका परकीया का वर्णन देखिए। यह अपनी अंतरंगिणी सखी से गई रात्रि के अभिसार का हाल सुनाती हुई कहती है—

(११) अरी खरी सटपट परी बिधु आधे मग हेरि ;
संग लगे मधुपन लई भागनु गली अँधेरि ।
(बिहारी-सतसई)

"हे अलि ! अर्ध मार्ग में चंद्रोदय देखकर मुझे अत्यंत (खरी) घबराहट हुई। परंतु भाग्य से (भागनु) मेरे शरीर की सुगंधि के कारण मेरे साथ लगे हुए भ्रमरों ने मार्ग को अंधकार-पूर्ण बना दिया।'

इसमें चंद्रोदय से घबराने से जान पड़ता है कि नायिका कृष्णाभिसारिका परकीया है। 'संग लगे मधुपन लई भागनु गली अँधेरि' से भी परकीयात्व की पुष्टि होती है। दोहे में 'सग लगे मधुपन' से नायिका का पद्मिनी होना पाया जाता है। इस वर्णन में समर्थ महाकवि ने भौंरों को किस प्रकार पद्मिनी नायिका के पीछे, उसके शरीर की सुगंध के लोभ ने, दौड़ाया है। फिर आधे मार्ग में चंद्रोदय होना भी किस अनोखे ढंग से लिखकर नायिका को चौंका दिया है। परंतु फिर शीघ्र ही नायिका के चकित होकर, घबराकर खड़े हो जाने से पीछे लगे सुगंध-लोभी भ्रमरों के पास आ जाने पर अंधकार कराके उसकी घबराहट मिटाई है। यह सब कौशल दर्शनीय है। कृष्णपक्ष की रात्रि में

भी पिछले प्रहरों में चंद्र का उदय होता है, यह प्रकृति-निरीक्षक बिहारीलालजी ने कैसे अनोखे ढंग से वर्णन किया है ।

इस दोहे में शृंगार-रस का अच्छा प्रस्फुटन हुआ है । नायिका पद्मिनी नागरी है । रात्रि का अभिसार विशेषकर कुंजादि में जाना ग्रामीणता-सूचक कहा जा सकता है, पर काम की प्रबलता का वर्णन न होने से नागरत्व ही ठहरता है । पद्मिनी नायिका शृंगार-रस का आलंबन है । भ्रमर-गुंजार एवं अंधकार उद्दीपन विभाव हैं । अँधेरी रात्रि में अभिसार करना अनुभाव है । सटपटाने में शंका एवं त्रास संचारी भाव हैं, रति स्थायी भाव है ही । इस प्रकार दोहे में रति स्थायी भाव आलंबन और उद्दीपन विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव से परिपुष्ट होकर पूर्ण शृंगार-रस की दशा को प्राप्त है । दोहे में नायिका का कृष्णाभिसारिका, पद्मिनी और परकीया होना व्यंग्य ही से जाना जाता है । अतएव यह दोहा व्यंग्य-प्रधान काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है, और व्यंग्य काव्य का जीव माना जाता है, इसलिये यह रचना श्रेष्ठतम है ।

भाषा-सौंदर्य की भी दोहे में अनुपम छटा है । एक भी शब्द व्यर्थ या भरती का नहीं है । अन्वय देखिए—"अरी ! आधे मग विधु हेरि खरी सटपट परी । भागनु संग लगे मधुपन गली अँधेरि लई ।"

इसमें प्रसाद-गुण की मात्रा यथेष्ट है । दोहे में माधुर्य तो ओत-प्रोत है, भाषा में छेक और वृत्त्यानुप्रास की छटा के साथ अर्थव्यक्ति-गुण का अद्भुत मेल है ।

इस दोहे में अलंकारों का भी अच्छा समावेश है । अर्थालंकार के बिना तो भारती विधवा के समान जानी जाती है । देखिए—

(१) 'संग लगे मधुपन' ने 'भागनु' (भाग्यवशात्) 'गली अँधेरि लई' । इसमें आकस्मिक कारणांतर के योग से कार्य सुगम तथा अतएव समाधि अलंकार है ।

(२) 'प्रतिबंधक के होत हू होय काज जेहि ठौर'—यहाँ तृतीय विभावना अलंकार होता है। इस दोहे में भी चंद्रोदय-रूप प्रतिबंधक के रहते हुए भी अभिसार का कार्य हुआ है, अतएव यहाँ तृतीय विभावना अलंकार हुआ।

(३) 'वस्तु बिनासे हू बहुरि तरह पीछली होय'—यहाँ द्वितीय पूर्वरूप अलंकार होता है। नायिका का अंधकार में जाना, मार्ग में चंद्रोदय से उस अंधकार का नष्ट हो जाना एवं भ्रमरों के द्वारा फिर उस अंधकार का वैसा ही हो जाना दोहे में वर्णित हुआ है, अतएव पूर्वरूप अलंकार हुआ।

(४) 'जतन बिना ही होत है जहँ चित-चाही बात'— यहाँ प्रथम प्रहर्षण अलंकार होता है। यहाँ यत्न न करने पर भी भ्रमरों ने गली को अंधकारमय बना दिया, जो नायिका को अभीष्ट था, अतएव प्रथम प्रहर्षण अलंकार हुआ।

(५) चंद्र-ज्योत्स्ना का गुण नायिका के परकीया होने के कारण अभिसार में दोष हुआ, अतएव प्रथम व्याघात अलंकार हुआ।

बिहारीलालजी के इस दोहे में मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधु-विनोद' में अवज्ञा अलंकार माना है। लिखा है- "चांद्र दीप द्वारा दोष न लगने से अवज्ञा अलंकार आया (पृष्ठ ४५)।' मेरी समझ में यह इन महाशयों की भूल है। यदि चांद्र दीप से दोष न लगता, तो फिर बिहारीलालजी को—'अरी खरी सटपट परी बिधु आधे मग हेरि' लिखने की आवश्यकता ही क्या थी। जान पड़ता है, इन्होंने दोहे का पूर्ण अर्थ समझे बिना अलंकार का नाम लिख दिया है। कुवलयानंदकार ने अवज्ञा के लक्षण को उल्लास के लक्षण के बाद लिखते हुए कहा है—

एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि ।

अर्थात् "जहाँ एक के गुण-दोष से दूसरे को गुण-दोष हो, वहाँ उल्लास अलंकार है।" फिर अवज्ञा के विषय में लिखा है—

ताभ्यां तौ यदि न स्यातामवज्ञालंकृतिस्तु सा।

अर्थात "अन्य के गुण-दोष से जो अन्य को गुण-दोष न हो, वह अवज्ञा है। पंडितराज जगन्नाथ त्रिशूली ने भी 'रसगंगाधर' में उल्लास का लक्षण लिखने के बाद अवज्ञा के विषय में लिखा है— 'तद्विपर्ययोऽवज्ञा' अर्थात् "उल्लास के विपर्यय में अवज्ञा अलकार है।" जैसे—

करि वेदांत विचार हू शठहिं बिराग न होय।

अथवा—

'तुलसी' दोष न जलद को, जो जल जरै जवास।

परंतु बिहारीलालजी के दोहे में अभिसारिका नायिका को चाँद दोष से दोष लगा है, जो उसके 'खरी सटपट परी' कथन से स्पष्ट है।

इस प्रकार कहाँ तक दिखलावें, संपूर्ण सतसई ही काव्य-कला की चरम सीमा के उदाहरण में पेश की जा सकती है। इन दस दोहों में ही पाठकों ने देखा होगा कि काव्य-कला-कुशलता की दृष्टि से महाकवि बिहारीलालजी अद्वितीय ही हैं। इस महाकवि का काव्य-कौशल ऐसा अनुपम है कि उसकी प्रशंसा शब्दों में नहीं की जा सकती। धन्य बिहारीलालजी और धन्य उनका अप्रतिम काव्य-कौशल।

प्रेम-वर्णन

गिरि तैं ऊँचे रसिक मन, बूडे जहाँ हजार ।
वहै सदा पसु नरन को प्रेम-पयोधि पगार ।
(बिहारी-सतसई)

प्रेम-तत्त्व का निरूपण करना टेढी खीर है। ससार की किसी भी भाषा में प्रेम की पूरी परिभाषा नहीं मिलती। विश्व के संपूर्ण महानुभाव प्रेम की प्रशंसा के गीत गाते आए हैं। यह निर्विवाद है कि प्रेम रागात्मक मनोविकार है। मेरा अपना मत तो यह है कि चित्त की हर्ष से भरी हुई अत्यंत आसक्ति ही प्रेम है। मनोराज्य के अधिपति कलाविद् कवीश्वरों ने मानसिक जगत् का रहस्य अनेक रूपों में प्रकट कर उसकी गूढ पहेलियों पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। इन सभी ने संपूर्ण मनोवृत्तियों पर प्रेम-वृत्ति को ही प्रधानता दी है। संसार के अणु-अणु में व्याप्त प्रेम-रस की अमृतमयी अविरल धारा बहाना ही विश्व के महान् कवीश्वरों का एकमात्र उद्देश्य रहा है। प्रेम के विभिन्न रूपों का मनोरम, श्लाघ्य वर्णन ही श्रेष्ठतम काव्यों में पाया जाता है। महाकवि Baily ने ठीक ही कहा है—

"Poets are all who love, who feel great truths,
And tell them and the truth of truth is love."

अर्थात् "वे सब कवि हैं, जो प्रेम करते हैं, जो महान् सत्यों की हृदय में अनुभूति करते और उन्हें प्रकट करते हैं। वह सत्य का सत्य (परम सत्य) है प्रेम।"

इनमें भी शृंगारी कवि पर प्रेम-वर्णन की बडी ज़िम्मेदारी आ

पड़ती है। क्योंकि शृंगार प्रेममय है। शृंगार मे यथार्थ प्रेम-वर्णन ही होता। प्रेम-तत्त्व की अनुभूत अभिव्यजना ही शृंगार-रस की जान है। इसमे स्थूल, सभोग और बाह्य सौंदर्य का वर्णन उपकरण भले ही हो, परंतु प्रधानता प्रेम-भाव की सहज सुकुमार, आनदमयी, हर्षातिरेक पूर्ण अभिव्यजना ही की होनी चाहिए, ऐसा न हो कि स्थूल संभोग की काली मेघ-घटा मे प्रेम-चद्र ढक जाय, और हमे उसकी उस हर्ष-चाँदनी के सुखद प्रकाश की एक धुँधली-सी किरण भी प्राप्त न हो, जिससे हृदय प्रफुल्लित होता है।

महाकवि श्रीबिहारीलालजी हिंदी-भाषा के सर्वश्रेष्ठ शृंगारी कवि हैं। आर्य-साहित्य मे द्विविध शृंगार है—(१) मानुषीय शृंगार और (२) भक्ति-शृंगार। मानुषीय शृंगार मे मानवीय प्रेम का वर्णन है, और भक्ति-शृंगार में ईश्वरीय प्रेम का। सतसई मे इस द्विविध प्रेम का उदात्त और प्रकृष्ट वर्णन है। सतसई मे मानुषीय शृंगार-रस-पूर्ण रचना मे महाकवि बिहारीलालजी का प्रधान लक्ष्य प्रेम-भाव के विभिन्न रूपों का वर्णन और नूतन सौंदर्य की सृष्टि रहा है। ऐसी रचनाओं में भी सृजन-शक्ति के साथ काव्य-कला का नैपुण्य बड़ा ही हृदयहारी है। इसमें उदात्त प्रेम-भाव के विभिन्न रूपो के विन्यास में कवि-कल्पना का उच्च कोटि का विकास देखकर स्तभित होना पड़ता है। सकोच और लज्जा, अनुराग और विलास एव गूढ़ व्यथा और अभिमान आदि को व्यक्त कर कवि-कल्पना द्वारा अमूर्त भाव को प्रत्यक्ष मूर्ति देने और केवल इने-गिने शब्दों के मनोरम विन्यास द्वारा पाठकों के अतस्तल मे एक अपूर्व भाव उदित करने मे महाकवि बिहारीलालजी की रचना अप्रतिम है। इसी से वह परम प्रशसनीय है। बिहारीलालजी ने प्रेम की सभी अवस्थाओ का वर्णन किया है, और जीवन के अतस्तल में प्रविष्ट होकर एक निराले सौंदर्य की सृष्टि की है। इस प्रकार के वर्णनो मे यद्यपि कल्पना,

आवेश और विलास पाया जाता है, तो भी प्रेम-भाव की ऐसी सत्य और सुखद अभिव्यंजना है, जिससे हृत्तंत्री के तार झनझना उठते हैं।

भक्ति-शृंगार में भक्त आत्मा भगवान् में कांत अर्थात् पति-भाव से भक्ति करती है, और अपना सर्वस्व—लोक और परलोक—भगवान् के श्री-चरणों में समर्पित करती है। इस प्रकार की भक्ति श्रीभागवत धर्म या वैष्णव-धर्म के प्रेम-मूलक भक्ति-मार्गी महान् भक्तों ने की है। इसमें अशेष सौंदर्य-निधि, प्रेम-मूर्ति भगवान् से मिलन की तीव्रतम आकांक्षा होने पर प्रियतम भगवान् से भावना-रूप से तदाकारता प्राप्त हो जाती है। भगवान् में यह भाव भक्ति की तल्लीनता में उस समय होता है, जब भक्त जीवात्मा को यह दृढ़ अनुभवात्मक ज्ञान हो जाता है कि भोक्ता तो केवल भगवान् है, और संपूर्ण चराचर भोग्य है। जब तक अपने आपमें भोग्य दृष्टि भली भाँति न हो जाय, तब तक भगवान् में भोक्ता की दृष्टि असंभव है। ऐसी भक्ति में भक्त जीवात्मा का ध्येय संभोग होता है। वह चिर-संभोग की लालसा से प्रेम-मार्ग में अवतीर्ण होता है, इस दशा में उसके रसिक हृदय में प्रेम-रस-पूर्ण जो मधुर तरंगें उठती हैं, उनमें संभोग की लालसा रहती है। एक क्षण के लिये भी द्वैत का भाव—विलग रहने का भाव—उसे असह्य हो उठता है। उसके संपूर्ण मनोविकारों में संभोग की आशा एवं विप्रलंभ की कसक ओत-प्रोत रहती है। विप्रलंभ की कसक की अनुभूति का वर्णन करता हुआ वह संभोग की लालसा से अग्रसर होता है। उसे रात-दिन उसी प्रियतम का ध्यान रहता है। इस प्रकार की भक्ति श्रीकृष्ण-भक्ति के विभिन्न संप्रदायों, रहस्यवादियों के विभिन्न पंथों में एवं सूफी-मत के अनुयायियों में प्रचुरता से पाई जाती है। इन सबकी अपेक्षा श्रीभागवत धर्मांतर्गत श्रीकृष्ण-भक्ति के संप्रदायों में इस प्रेम-मूलक भक्ति का चरम उत्कर्ष है। प्रेम-तत्त्व की जैसी

उदात्त अभिव्यजना वैष्णव कवियो मे पाई जाती है, वैसी संसार-साहित्य में सर्वथा दुर्लभ है। विस्तार-भय से यहाँ उसका निरूपण और दिग्दर्शन नहीं कराया जा सकता। हो सका, तो मैं शीघ्र ही अपने किसी दूसरे ग्रंथ में इसका सविस्तर वर्णन उपस्थित करूँगा।

हम बिहारीलालजी के परिचय में लिख आए हैं कि वह श्रीस्वामी हरिदास की श्रीकृष्ण-भक्ति के अनन्य सप्रदाय के वैष्णव थे। इसी से इष्ट-धर्मी श्रीबिहारीलालजी ने सतसई के मगलाचरण में ही श्रीराधिकाजी की स्तुति की है। इस सप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत का यहाँ उल्लेख दुस्साध्य है, अतएव मै यहाँ इस सप्रदाय के एक मुसलमान-वैष्णव कवि की रचना का कुछ अश उद्धृत कर देना ही पर्याप्त समझता हूँ। इसी से इस सप्रदाय के सिद्धात का बहुत कुछ परिचय प्राप्त हो जायगा, और साथ ही यह भी स्पष्टतया विदित हो जायगा कि इस सप्रदाय के हिंदू-वैष्णव तो ठीक ही, मुसलमान-वैष्णव भी इसके सिद्धातों से किस प्रकार परिचित थे। देखिए, इस सप्रदाय के अनुयायी मुसलमान सज्जन परम वैष्णव रस-रगजी लिखते हैं—

चौदह तबक हैं या विराट में, तामे तीनो देवा ;
जेते जीव जहान तिते सब करत इन्हीं की सेवा।
ता आगे सुख और बताऊँ जहाँ मियाँ का डेरा ;
आलमीन अल्लह जहँ बैठा सबका करै निबेरा।
ता आगे सुख और बताऊँ जहाँ रमापति राजै ;
बेद कितेब कहैं ह्याँ ही लौ आगे फिर जिय लाजै।
ताके आगे ज्योति निरंजन इन सब ही को मूल :
सप्त शून्य फिर और बताऊँ मेटौं सबको शूल।
ऊपर अक्षर ब्रह्म अपारा जाकर सकल पसारा,
सो तो है आभास धाम का जानत जाननहारा।

सो तो है गोलोक, अनेकन राम-कृष्ण जहँ दोई ;
करि सतसंग जाय कोउ बिरला बड़ी पहुँच जो होई ।
छर-अच्छर निअच्छर छाँड़ै तजै अच्छरातीत ;
आगे हंस हिंडंबर बैठ्यो सत्त सुकृत को जीत ।
ताके आगे और पुरुष है गहे आपनी टेक ;
इन सबहिन को करै सकेला रहै अकेला एक ।
हद बेहद बेहद के आगे एतौ सब कहि आए ;
कोटिन ब्रह्म प्रेम कोटिन पर जहँ कोउ गए न आए ।
ताके आगे रास-विलासी रूप-रंग अनियारा ,
रहै पास साहब नहिं जानैं यह तो अचरज भारा ।
हाँ ता रचौ रूप सुभानी हाँ तो अजब तमासा ,
सखी-समूह रहैं बीचहि में जाय न कोऊ पासा ।
सो ता निविचन राज विराजै रंगमहल ता माहीं ;
श्रीस्वामी हरिदास बताओ कोऊ पहुँचत नाहीं ।
साँची शरण लेय स्वामी की सो तो पहुँच न पावै ,
नातरु रहै बीच ही हिलग्यो कोटि कल्प नहिं जावै ।

तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी श्रीस्वामी हरिदास के सम्प्रदाय के महंत श्रीनरहरिदासजी के शिष्य और माधुर्य रस-पूर्ण सखी-भाव की भक्तिवाले श्रीराधाकृष्ण के अनन्य उपासक थे । उनकी सतसई में इस प्रेम के वर्णन भी भरे पड़े हैं । सतसई के अधिकांश दोहों में इसी दिव्य ईश्वरीय प्रेम का वर्णन है । इस प्रकार के वर्णनों में ब्रह्मानंद के प्रति तीव्र संवेग की स्पष्टता और कर्म-ज्ञान एवं उपासना का श्रीकृष्ण-भक्ति में अद्भुत, अभिन्न सामंजस्य है । हमारे अनेक विद्वान् आलोचकों ने इस रहस्यमय वर्णन को समझने में भूल की है । इसका कारण यह है कि इनके रचयिता परम वैष्णव भक्त कवि लोक-परलोक से परे केवल प्रेमानंद का वर्णन करने में

तल्लीन रहते हैं। उन्हें लोक-रक्षा, लौकिक मर्यादा से कोई सबध ही नहीं रहा। उनका वर्णनीय कृष्ण-गोपी-प्रेम भक्त के भावना-लोक का वर्णन है। उसमें लौकिकता को गुंजाइश नही है। इनका एकात उद्देश्य परब्रह्म श्रीकृष्ण और व्रजगोपियों विशेषकर ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति श्रीराधिका को लेकर प्रेम-तत्त्व की विस्तृत अभिव्यजना-मात्र है। इन रचनाओं में श्रीकृष्ण के लोक-पक्ष का समावेश नही है। यथार्थ मे ऐसे वर्णनों में तो माधुर्य-पूर्ण प्रेम-भक्ति का ही वर्णन रहता है।

ध्यान रहे, आर्य-साहित्य में भक्ति के प्रधान आचार्य देवर्षि नारद ने प्रेम-मूलक चूडात भक्ति का आदर्श व्रजगोपियो ही को ठहराया है। लिखा है—"यथा व्रजगोपिकानाम्"। परमहस श्रीशुकदेव-जी का मत है—

> नेयं विरञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया,
> प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात्।
>
> (श्रीमद्भागवत)

अर्थात् "विमुक्ति देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण से जिस कृपा (प्रसाद) को गोपियों ने प्राप्त किया था, उसे न ब्रह्मा, न शकर और न उन हरि के वामाग मे निरतर वास करनेवाली लक्ष्मी ही प्राप्त कर सकीं।"

भक्ति-शास्त्र के अनुसार ये ही व्रज-गोपिकाएँ भक्ति का चूडात आदर्श हैं। और, इनमें भी राधिका का प्रेम तो इस मधुर गोपी-प्रेम का चूडात निदर्शन है। इनकी चरण-रज को प्राप्त करने के हेतु ब्रह्मादिक देवता भी लालायित रहते हैं। भक्ति के चरम आदर्श गोपी-प्रेम को समझने के लिये इस अशुद्ध एव अन्नमय देह और इद्रियों तथा वासनामय अतःकरण को विकसित करना पडेगा। इनके बहुत ऊपर उठकर शुद्ध भाव से भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने के हेतु सपूर्णतया आनद-घन भगवान् की शरण लेनी पडेगी। इस

प्रकार जब विशुद्ध अंतःकरण में प्रेममय इंद्रियाँ और शरीर नूतन उत्पन्न हों, और प्रेममय जगत् में विहरण करे, तब कहीं गोपियों के विशुद्ध प्रेम को समझने की सामर्थ्य हो सकती है। गोपियों के प्रेम में लौकिकता के साथ अलौकिक भक्ति का अद्भुत, अभिन्न सामंजस्य है। उनकी उद्दाम चित्त-वृत्ति में प्रेम-भक्ति और वासना का संगम हुआ है। कांत-भाव की भक्ति करनेवाली गोपिकाओं के मनोभावों में इन तीनों की प्रधानता है इसी से वे कृष्ण-लीलामयी और कृष्ण-विलासिनी थीं। उनके श्रीकृष्ण अनादि, अनंत, सर्वांतर्यामी एवं सृष्टिकर्ता, पालक एवं संहारक होते हुए भी उनके लिये यशोदा के पुत्र, ग्वालों के सखा और गोपी-जन-वल्लभ हैं। उन्होंने श्रीकृष्ण में मनुष्यत्व और देवत्व को पृथक् करके नहीं देखा है। वृंदावन के गोपीजन-प्रिय श्रीकृष्ण के अलौकिक में लौकिक जिस मधुर रूप को लेकर इस प्रकार की भक्ति-शृंगारमयी रचनाएँ की गई हैं, उनमें हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनंत सौंदर्य का समुद्र है। इसमें लोक-पक्ष की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा है, और उस सौंदर्य और प्रेम के निधान सच्चिदानंद के आगे प्रायः शील और संकोच को न्योछावर कर दिया है। इसी से महान् आध्यात्मिक भावना से परिपूर्ण भक्ति-शृंगार की वैष्णव शाखा के भक्त कवीश्वरों ने अपने भगवत्-प्रेम की पुष्टि के लिये जिस शृंगारनदी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से जनता को रसोन्मत्त किया, उसका लौकिक, स्थूल दृष्टि रखनेवाले जीवों पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसकी ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। इसी से मलिन-हृदय, विषयांध लोगों ने इस रचना में विषय की प्रधानता समझने का भ्रम किया है। महान् भक्त वैष्णव कवि भगवत्-रसिक, जो बिहारीलालजी के समान ही श्रीस्वामी हरिदास के संप्रदाय के अनन्य वैष्णव थे, इसी को लक्ष्य कर लिखते हैं—

यह रस-रीति प्रिया - प्रियतम की, दिव्य दृष्टि जल जैसे री,
विषयी, ज्ञानी, भक्त, उपासक, प्राप्त सबन को तैसे री।
कदली - खंभ, पपीहा, सीपी, स्वाँति-बूँद जल जैसे री,
'भगवत' कछू विषमता नाहीं, भूमि भाग्य फल तैसे री।

इस प्रकार की रचना मे माखन-चोरी, दान-लीला, चीर-हरण, रास, होरी, मान एव विरह और उद्धव-गोपी-सवाद के वर्णन प्रमुख हैं। इसमे ब्रज-गोपियो विशेषकर श्रीराधा को प्रेम की विभिन्न अवस्थाओ के अनुसार विभिन्न नायिकाओ के रूप मे चित्रित किया है। बिहारी-सतसई मे श्रीराधाकृष्ण के इसी अलौकिक मे लौकिक प्रेम के चित्र अधिकता से अकित हैं, जिनमे परब्रह्म श्रीकृष्ण के चरित्र द्वारा मानव-जीवन के प्रेममय सपूर्ण भावों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। इसी सप्रदाय के सिद्धातानुसार परब्रह्म मे तल्लीन होने के पूर्व भक्त जीवात्मा की परकीया दशा मानकर बिहारीलालजी ने परकीया का उत्तम वर्णन किया है। इसमे आचार्यों ने सर्वोत्कृष्ट प्रेम सिद्ध किया है, और 'रसस्तु परकीया' की घोषणा की है।

इस द्विविध प्रेम के वर्णन मे महाकवि श्रीबिहारीलालजी ने उत्कृष्ट प्रेम-भाव की अनोखी अवस्थाओं के साथ जिस उत्कृष्ट काव्य-कला का अद्भुत सामजस्य दिखलाया है, वह अप्रतिम ही है –

(१) रति स्थायी भाववाले शृगार को साहित्याचार्यों ने दो भागो मे विभक्त किया है। प्रथम सयोग-शृगार और द्वितीय वियोग-शृगार। रति मे सयोग-काल के अविच्छिन्नत्व मे प्रथम अर्थात् सयोग-शृगार है। परतु सयोग केवल दपति के सामान्याधिकरण्य मे या एक शय्या पर शयन करने मे ही नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्था मे भी मान के समय सयोग न होकर वियोग-शृगार ही होगा। इसी प्रकार वियोग-काल के अविच्छिन्नत्व मे वियोग-शृगार है, परंतु उपर्युक्त कारण से वियोग भी केवल विदेश-गमन मे न होकर मिलन मे भी हो सकता है।

यथार्थ में संयोग या वियोग-शृंगार चित्त की वृत्ति पर ही निर्भर है। मान को वियोग-शृंगार के अंतर्गत मानने का भी प्राचीन आर्य-साहित्य के आचार्यों ने यही कारण निर्देश किया है। विरह में संयोग-शृंगार मानने से अनेक लोगों को आश्चर्य हो सकता है, पर इसमें शंका करने की कोई बात नहीं। जिस प्रकार संयोग-काल में मान में वियोग-शृंगार माना जाता है, उसी प्रकार विरह में मन-संभोग में संयोग-शृंगार मानना पड़ेगा। विरह में संयोग-शृंगार प्रेम की अथवा लगन की पूर्णता में ही संभव है। इसका वर्णन, भाषाओं के भाल की बिंदी हिंदी के शृंगारी कवियों के मौलि-मुकुटमणि महाकवि बिहारीलालजी ने बड़ा ही अपूर्व किया है। लिखते हैं—

> ध्यान आनि ढिग प्रानपति, मुदित रहति दिन-राति;
> पल कंपति, पुलकति पलक, पलक पसीजति जाति।

उत्तमा पतिव्रता प्रेमिका अपने प्राणपति को ध्यान के द्वारा अपने निकट बुला लेती है। ध्यान करने से उसके प्रियतम की मूर्ति उसके सम्मुख उपस्थित हो जाती है, ध्यान द्वारा निकट बुलाई हुई प्रियतम की उस मूर्ति के दर्शन से उसे सात्त्विक, कायिक अनुभाव होते हैं। वह क्षण-क्षण में पुलकती और पसीजती है, एवं क्षण-क्षण में उसे कंप भी होता है। जिसे मनुष्य अधिक चाहता है, जिस पर उसे अत्यंत प्रेम है, जिसके दर्शन की उत्कट अभिलाषा मनुष्य के हृदय में सदैव बनी रहती है, जिसे कलेजा चीरकर हृदय के सिंहासन पर बैठाने की इच्छा रहती है, उसके दर्शनों से कंप, रोमांच तथा स्वेद-प्रवाह का होना कितना स्वाभाविक है, इसे वे ही जान सकते हैं, जिन्होंने प्रेम किया है—प्रेम के देवता का पवित्र प्रसाद प्राप्त किया है। फिर केवल ध्यान-दर्शन से प्रत्यक्ष दर्शन के समान ही जिसे सात्त्विक होता है, उसके प्रेम का क्या ठिकाना! फिर वह भी घड़ी-दो घड़ी के

लिये नहीं—घटे-दो घटे के लिये नहीं, दिन और रात। प्रेम की परा काष्ठा है—चरम सीमा है। धन्य है ऐसी पतिपरायणा नारी को, और धन्य है ऐसे आदर्श प्रेम के वर्णन करनेवाले महाकवि विहारीलालजी को! महर्षि नारद ने भक्ति-सूत्र में एक स्मरणाशक्ति-नामक भेद माना है। विहारीलालजी का यह दोहा स्मरणाशक्ति का अच्छा उदाहरण है।

(२) प्रेमी मुक्ति की भी इच्छा नहीं करता। उसकी दृष्टि में वह भी तुच्छ है। बात तो यह है कि प्रेमी के पैरों पर लक्ष्मी लोटती है—मुक्ति उसके पीछे नाचती है। प्रेमी विहारीलालजी कहते हैं—

जो न जुगति पिय-मिलन की धूरि मुकति मुँह दीन,
जो लहिए सँग सजन, तो धरक नरक हू कीन।

प्रेम के सार-तत्त्व को समझनेवाले प्रेमी-प्रवर महाकवि विहारीलालजी ने इस दोहे में बड़ा ही उत्कृष्ट प्रेम-वर्णन किया है। भक्ति-मार्ग और प्रेम की उत्कृष्टता का यह दोहा बढ़िया उदाहरण है। कैसे अनूठे ढंग से कहा है—

"जो मुक्ति प्रियतम से मिलने की युक्ति नहीं है, यदि उससे प्रियतम का मिलन नहीं है, तो उस मुक्ति के मुख पर धूल डालो। वह मुक्ति किस काम की? यदि 'सजन' का संग हो—प्रियतम का साथ हो—तो नरक में प्रवेश करना भी इस प्रेमी के लिये श्रेयस्कर है। नरक में स्वर्ग से बढ़कर आनंद है, केवल प्रेम-पात्र पास हो।"

इस दोहे में मुक्ति को सजीव प्राणी के समान वर्णन करके उसके मुख पर भक्ति या प्रेम के आवेश में, बड़ी खूबी से, विदग्धता से, धूलि डलवाई गई है। जब ऐसा हो, तभी उत्कृष्ट प्रेम कहा जा सकता है।

हिंदी-कवि-कुल-कुमुद-कलाधर महात्मा तुलसीदासजी ने ऐसा ही भाव व्यक्त करते हुए अपने जगत्-प्रसिद्ध महाकाव्य रामायण में कहा है—

अर्थ न धर्म न काम-रुचि, गति न चहौं निर्बान ;
जन्म-जन्म रति राम-पद, यह बरदान न आन।

यद्यपि महात्मा तुलसीदासजी के दोहे में भक्ति की स्पष्टता होने से अधिक पवित्रता विदित होती है, परंतु इसमें बिहारीलालजी के दोहे के समान प्रेम की प्रखरता नहीं है, यह स्पष्ट है।

कविवर रहीम कहते हैं—

काह करौं बैकुंठ लै, कल्पबृच्छ की छाँहिं ;
रहिमन ढाँक सुहावनो, जो प्रीतम-गल-बाँहि।
(अहमद या रहीम)

रहीम के दोहे में यद्यपि प्रेम का भाव बहुत ऊँचा है, परंतु वह भी 'जो लहिए सँग सजन, तो धरक नरक हू कीन।' के भाव से बहुत नीचा है। 'ढाँक की छाँहि' और 'धरक नरक हू कीन' में बहुत अंतर है।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त करते हुए लिखा है—

स्वर्ग नर्क अपवर्ग में कै चौरासी माँहिं ;
रहैं जहाँ निज कर्म-बस, छुटै कृष्ण-रति नाँहिं।

इस दोहे में यद्यपि रहीम के दोहे से अधिक प्रेम है, एवं तुलसी-दासजी के दोहे के समान भक्ति की पवित्रता है, परंतु इसमें लापर-वाही है। ये कहीं भी रहना पसंद करते हैं। यदि प्रियतम के साथ स्वर्ग में रहे, तो इसमें क्या? अपवर्ग में रहने से भी क्या? हाँ चौरासी और नरक में रहना सचमुच उत्कृष्ट प्रेम का द्योतक है। इसमें बाबू हरिश्चंद्र ने यह नहीं लिखा कि वह नरक में सुख से रहेंगे या नहीं। दुख से भी नरक भोगा जा सकता है। इनके दोहे में इन्हें कर्म की शिकायत है। बिहारीलालजी का दोहा इनसे श्रेष्ठ है। बिहारीलालजी कहते हैं—

जो न जुगति पिय-मिलन की, धूरि मुकति मुँह दीन ;
जो लहिए सँग सजन, तो धरक नरक हू कीन ।

यहाँ निर्भय होकर स्वय प्रसन्नता से, कर्म-वश से नहीं, अपनी मर्जी से प्रियतम के साथ नरक में जाने के लिये कमर कसे तैयार बैठे हैं। प्रेम की परा काष्ठा का चित्र बिहारीलालजी के दोहे में ही सर्वोत्कृष्ट कुशलता से अकित हुआ है, एव प्रेम की तल्लीनता तथा प्रेमावेश बिहारीलालजी के दोहे मे ही अधिक है।

(३) प्रेम में प्रेम-पात्र को मन-समर्पण करने का सतसई मे अनूठा वर्णन है। देखिए—

कहा भयौ जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ,
उड़ी जाति कितऊ गुड़ी, तऊ उड़ायक हाथ।
(बिहारी-सतसई)

प्रेमिका नायिका कहती है—"हे नायक ! क्या हुआ, जो तुम बिछुड गए ? वियोग तो मन का मन से विच्छेद होने मे है। सो मेरे मन का तुम्हारे मन से विच्छेद हो ही नहीं सकता। मैने अपने मन की पतग को प्रेम की डोरी से बाँधकर तुम्हारे मन के हाथ सौंप दिया है। मेरा मन तो तुम्हारे मन की मर्जी पर ही उडेगा। जब तक प्रेम की डोर बँधी है, तब तक तुम्हारे विलग रहने पर भी मेरा मन तुम्हारे मन ही के साथ है। पतग कहीं भी उडे—कितनी ही दूर आकाश मे उडे, परंतु जब तक वह डोर से बँधी है, तब तक उडाने-वाले ही के हाथ है।"

इस दोहे मे प्रेम-डोर के बँधने में प्रेम का आकर्षण अच्छा व्यक्त हुआ है। कथन का ढग बडा ही सुहावना एवं चित्ताकर्षक है। भाषा भाव के बहुत ही अनुकूल है। दृष्टातालकार की छटा सोने में सुगध के समान है। इसके अतिरिक्त वर्णन-शैली का बाँकपन

अवर्णनीय है। कथन में लापरवाही के साथ-साथ दृढ़ता का समावेश अनूठा है।

इसी प्रकार का निम्न-लिखित दोहा भी है, जिसमें प्रेमिका संदेश-वाहक के हाथ में प्रियतम के नाम प्रेम-पत्र देकर कहती है—

कागद पर लिखत न बनत, कहति सँदेस लजाति,
कहिहै सब तेरो हियौ मेरे हिय की बात।
(बिहारी-सतसई)

इसमे दांपत्य प्रेम की दृढ़ता और एक दूसरे के दृढ़ प्रेम के विश्वास का आधिक्य होने से प्रेम का अधिक प्राबल्य है।

(४) महर्षि नारद भक्ति-सूत्र में लिखते हैं—

"तत्प्राप्य तदेवालोकयति तदेव शृणोति तदेव चिन्तयति।"

अर्थात् "प्रेमी प्रेम-पात्र के प्रेम को प्राप्त कर सर्वत्र उसी को देखता है, उसी के विषय में श्रवण करता है, और उसी का चिंतन भी करता है।"

महाकवि बिहारीलालजी ने अपने निम्न-लिखित दोहों में इसी प्रकार के प्रेम के प्रकृष्ट उदाहरण दिए हैं। देखिए, 'तदेव शृणोति' के विषय में लिखते हैं—

लई सौंहँ-सी सुनन की, तजि मुरली धुनि-आन,
किए रहति है रात-दिन, कानन लागे कान।
(बिहारी-सतसई)

'तदेव चिन्तयति' के विषय में लिखते हैं—

प्रेम अडोल डुलै नहीं, मुख बोलै अनखाय,
चित उनकी मूरति बसी, चितवन माँहिं लखाय
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे का भाव बड़ा ही मनोहारी है। किसी नायिका के हृदय-पटल पर उसके प्रियतम की मूर्ति अंकित हो गई है। वह उसे

ही प्रियतम जानकर उसके दर्शन करते-करते ध्यानावस्थित योगी की तरह (अडोल) अचल हो रही है। हृदय-ही-हृदय मे वह उस प्रेम-प्रतिमा से काल्पनिक बातचीत कर रही। यदि कोई सखी उससे उस समय कुछ बोलती है, तो उसकी ध्यानतन्मयता मे विघ्न पडने के कारण वह उससे अनखती है—रुष्ट होती है। उसके हृदय-देश मे बसी हुई प्रियतम की मूर्ति की आभा नेत्रो मे झलकती है।

'तदेवालोकयति' के विषय मे लिखते हैं—

मोहनि मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ,
बसत सुचित अंतर, तऊ प्रतिबिंबित जग होइ।
(बिहारी-सतसई)

इसमे प्रेमी को प्रेम-पात्र के सर्वत्र दिखाई देने का बडा ही हृदयहारी वर्णन है। इस दोहे में भक्ति की अनन्यता के साथ-साथ एकेश्वर-वाद के दार्शनिक सिद्धात की भी अनुपम झलक है।

(५) प्रेम कैसा होना चाहिए, इसके विषय मे महाकवि बिहारीलालजी का मत है—

चित दै देखु चकोर त्यों तीजै भजै न भूख,
चिनगी चुगै अँगार की, पियै कि चंद-मयूख।
(बिहारी-सतसई)

यदि प्रीति करना है, तो चकोर के समान चित्त देकर देख। या तो चकोर चंद्रमा की किरणों की सुधा-पान करता है, या अंगार की चिनगारियाँ चुगता है। तीसरे किसी प्रकार से उसकी भूख मिटती ही नहीं। इसी प्रकार जो प्रेमी या तो अपने हृदयाराध्य प्रियतम के चद्रमुख की रूप-सुधा से आनद मनाता है, या अपने प्रियतम के विरह में—विरहाग्नि में शरीर दग्ध करता है, परतु तीसरे किसी प्रकार से आनद मनाने का इच्छुक नहीं होता, उसी का प्रेम यथार्थ प्रेम है। इसमे प्रियतम के सिवा प्रेमी को कोई भी प्रसन्न करने

में समर्थ नहीं है। प्रियतम के चरणों में प्रेमी अपने संपूर्ण स्वार्थों और सुखों को किस प्रकार अर्पण करता है, यह चकोर के प्रेम में देखिए। महाकवि बिहारीलालजी ने इस दोहे में प्रेम का सच्चा आदर्श दिखला दिया है। इसमें प्रेमी बदला नहीं चाहता।

(६) जो प्रेम-मार्ग प्रेमियों को बड़ा कठिन दिखाई देता है, उसे ही मूर्ख पुरुष सरल पंथ समझते हैं। जहाँ हजारों रसिक डूब गए, हजारों प्रेमियों ने जिस मार्ग का ओर-छोर न पाया, उसी मार्ग को—उसी प्रेम-मार्ग को—लाँघना दुर्बल-हृदय मूर्खों को एक साधारण-सी बात समझ पड़ती है। महाकवि बिहारीलालजी कहते हैं—

> गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन बूड़े जहाँ हजार;
> वहै सदा पसु नरन को प्रेम-पयोधि पगार।
>
> (बिहारी-सतसई)

जिस प्रेम-पयोधि में रसिक प्रेमियों के पर्वत से भी ऊँचे और विशाल हृदय एक-दो नहीं, हजारों की संख्या में डूब गए, उसी प्रेम-पयोधि को—उसी अथाह प्रेम-सागर को—पशु के समान हीन-बुद्धि तथा तुच्छ और क्षुद्र हृदयवाले मनुष्य 'पगार' समझते हैं।

'पगार' उस छोटे जलाशय को कहते हैं, जिसमें घुटने तक पानी रहता है, और जिसे पाँव-पाँव चलकर पार कर सकते हैं।

इस दोहे में 'रसिक-मन' को 'गिरि तैं ऊँचे' लिखने से मन का अचल-अटल रहना व्यंजित होता है, जिससे प्रेम की दृढ़ता जानी जाती है। 'पसु-नरन' से 'पाशविक स्थूल-संभोग' के इच्छुक विषयी लोगों से तात्पर्य है, जो प्रेम के आध्यात्मिक भाव को समझने में सर्वथा असमर्थ हैं। वे केवल पाशविक विषय-लोलुपता को ही प्रेम समझते हैं, अतएव उन्हें प्रेम-मार्ग कुछ भी कठिन नहीं जान पड़ता। पर जो सच्चे प्रेमी हैं, वे प्रेम की कठिनता को खूब ही जानते हैं।

'रसनिधि' कहते हैं—

असनेही जानें कहा नेही-मन-अनुराग,
कहुँ हंसन की चाल को चल जानत हैं काग।
(रतनहजारा)

प्रेम-हीन हृदयवाले मनुष्य क्या प्रेमियो के हृदय के अनुराग को कभी जान सकते हैं ? कहीं कौआ भी हस की चाल चलना जान सकता है ?

कबीरदासजी ने भी कहा है—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं;
सीस उतारै भौं धरै, सो पैठे इहि माहिं।

कहना न होगा कि बिहारीलालजी का दोहा साहित्याकाश का एक परमोज्ज्वल नक्षत्र है। इस दोहे की भाव-गंभीरता एव कवित्व-कमनीयता विलक्षण प्रतिभा का परिचय देती है।

(७) एक प्राण, दो देह के उत्कृष्ट प्रेम का वर्णन करते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

उनको हित उनहीं बनैं, कोई करो अनेक,
फिरत काक-गोलक भयो दुहूँ देह ज्यो एक।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे मे 'प्राण' का उल्लेख न करके बिहारीलालजी ने न्यून-पद-दोष किया है, परतु फिर भी जिस प्रकार कलकी चद्रमा सुदर होता है, उसी प्रकार यह भी सुदर है। प्रेम की परा काष्ठा का इस दोहे में चित्र-सा खिंच गया है। दृष्टात भी बड़े मार्के का है। यह जन-श्रुति है कि कौवे की एक ही आँख मे तिल होता है। वही एक तिल दोनो आँखों के गटेनों मे घूमता है। इसी से वह दोनो आँखों से देख सकता है। काना नहीं कहा जा सकता। यही अवस्था नायक और नायिका के दोनो शरीरों की है। उन दोनो के शरीरो में

एक ही जीव है, अर्थात् वे एक प्राण, दो देह हैं। कितना उत्कृष्ट प्रेम है।

तत्त्वदर्शी महात्मा कबीरदासजी ने भी कहा है—

प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समायँ।

(८) मध्या नायिका के प्रेम की अवस्था का वर्णन करते हुए बिहारीलालजी कहते हैं—

इत तैं उत, उत तैं इतै, छिन न कहूँ ठहराति;
जक न परत चकई भई, फिर आवति फिर जाति।

(बिहारी-सतसई)

नायिका यहाँ से वहाँ जाती है, और वहाँ से यहाँ आती है। वह कहीं एक क्षण-भर के लिये भी नहीं ठहरती। उसे 'जक' पड़ती ही नहीं। प्रेम में शांति कहाँ? जिस प्रकार डोर में बँधी हुई चकरी किसी के द्वारा फिराई जाने पर यहाँ से वहाँ आती-जाती रहती है, उसी प्रकार प्रेम की डोर से बँधी हुई नायिका विरह के द्वारा घुमाई जाने से फिर-फिर यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ आती-जाती रहती है। उसे शांति मिलती ही नहीं।

(९) मित्र-प्रेम का वर्णन देख लीजिए। दो सन्मित्रों की प्रीति देखकर दुष्ट लोग उस प्रेम में बाधक बन जाते हैं, परंतु यदि मित्र सच्चे हैं, उनकी प्रीति सच्ची है, तो दुष्टों के बाधा पहुँचाने पर भी उसमें किसी प्रकार का अंतर नहीं पड़ता, वह यथावत् बनी रहती है। इसी बात को विशेषोक्ति में बढ़ई, कुल्हाड़ी और वृक्ष का रूपक बाँधते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

खल बढ़ई बल करि थके, कटै न कुबत कुठार;
आलबाल उर झालरी, खरी प्रेम-तरु डार।

(बिहारी-सतसई)

काटने से प्रीति घटती नहीं, वरन् और-और बढ़ती जाती है। बिहारीलालजी कहते हैं—

करत जात जेती कटनि, बढ़ि रस सरिता सोत;
आलबाल उर प्रेम-तरु तितौ-तितौ दृढ़ होत।
(बिहारी-सतसई)

(१०) प्रेम करने में अपने प्राणों को प्रेम-पात्र के हाथ में सौंप देना पड़ता है। इसका वर्णन करते हुए बिहारीलालजी ने किसी सखी से नायिका के प्रति कहलवाया है—

मन न धरति मेरो कह्यो, तू आपने सयान,
अहे परनि पर प्रेम की पर-हथ पारन प्रान।
(बिहारी-सतसई)

(११) प्रेमी प्रेमिका को प्रेम के चिह्न-स्वरूप 'मुँदरी' की भेंट देता है। मुँदरी प्राप्त कर प्रेमिका की कैसी स्थिति होती है, इस बात का वर्णन करते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

छला छबीले छैल को नवल नेह लहि नारि
चूमति, चाहति, लाय उर, पहिरनि, धरति उतारि।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में भी प्रेम की अवस्था का अच्छा खाका खींचा गया है। 'नवल नेह' में 'छबीले छैल' का 'छला' प्राप्त करके प्रेमिका नारी उसे (छला को) चूमती है, उसे प्यार करती है, उसे हृदय से लगाती है, फिर पहनती है। पहनने से कहीं मैला न हो जाय, प्राणपति का दिया हुआ प्रेम-प्रसाद है, इसे उज्ज्वल रखना—प्राणों से अधिक सुव्यवस्थित और सुरक्षित रखना मेरा धर्म है, यह सोचकर वह उस छल्ले को उतारकर रख देती है। प्रेम का कैसा सजीव वर्णन है। काव्य-प्रतिभा की परा काष्ठा है। नायिका का चित्र बरबस नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। हम सिनेमा के समान नायिका का

नवल नेह में पड़ना, उसमें छबीले छैल से छल्ले की प्राप्ति, फिर उस छल्ले को नायिका जिस प्रकार 'चूमति, चाहति, लाय उर, पहिरति, उतारि' आदि-आदि सभी देखते हैं।

(१२) जिस प्रकार स्वकीय प्रेम के वर्णन में बिहारीलालजी ने अपूर्व प्रतिभा दिखलाई है, उसी प्रकार परकीय प्रेम के वर्णन में भी वह बाज़ी मार ले गए हैं। महाकवि ही ऐसी अनूठी रचना करने में समर्थ हो सकते हैं। देखिए, कोई परकीया नायिका सखी द्वारा परकीय प्रेम-संबंधी नीच-ऊँच समझाई जाने पर उस सखी से कहती है—

कीन्हें हूँ कोटिक जतन, अब गहि काढ़े कौन;
भो मन मोहन-रूप मिलि पानी में को लौन।

(बिहारी-सतसई)

'हे सखी, तेरा समझाना-बुझाना सब व्यर्थ है। करोड़ों यत्न करने पर भी अब ऐसा कोई भी समर्थ नहीं, जो मेरे मन-रूपी नमक को मोहन के रूप-सिंधु से निकाल सके। भला तू सोच तो कि कहीं अपार पानी में घुला हुआ नमक भी निकल सकता है। मेरा मन मोहन के प्रेम में डूब गया है, तू मुझे व्यर्थ शिक्षा देकर अपना समय नष्ट न कर। जा, अपना काम देख।

इस भाव पर अनेक प्रसिद्ध कवियों ने काव्य-रचना की, बहुत सिर खपाया, पर बिहारीलालजी के इस दोहे के भाव का 'लखो न आधो आव'। देखिए—

पहले देव कवि को ही लीजिए। लिखते हैं—

बोरयो बंस बिरद में बौरी भई बरजति,
मेरे वार-बार बीर कोई पास बैठो जनि;
सिगरी सयानी तुम बिगरी अकेली हौं ही,
गोहन में छाँड़ो मोसों मोहन उमेठो जनि।

कुलटा कलंकिनी हौं कायर कुमति कूर,
काहू के न काम की निकाम यातैं ऐंठो जनि,
'देव' तहा बैठियत जहाँ बुद्धि बाढ़े, हौं तो
बैठी हों भिकल कोइ मोहिं मिलि बैठो जनि * ।

परकीया नायिका की परकीय प्रेम के कारण कई जगह निंदा हो रही थी । दूसरों के मुख से उसकी बड़ी निंदा सुनकर उसकी एक सखी प्रेम-वश उसे समझाने आई । ज्यों ही वह समझाने लगी, त्यों ही नायिका ने उसे झिड़कते हुए एकदम कहा—"कुलटा कलंकिनी हौं कायर कुमति कूर काहू के न काम की निकाम यातैं ऐंठा जनि ।" इससे स्पष्ट है कि वह ग्रामीणा है । बिहारीलालजी के दोहे की नायिका के समान नागरी नहीं है । बातचीत का ढग तक वह जानती नहीं । गँवारी के समान 'बोरयो बस ......' आदि कह डालती है । फिर 'भो मन मोहन-रूप मिलि पानी में को लौन' में जो भाव है, वह देव के कवित्त में स्वप्न में भी नहीं । उस भावोत्कृष्टता तक देव स्वप्न में भी नहीं पहुँचते ।

---

* सभवत दव न यह छद 'रसखानजी' के निम्न-लिखित सवैया को देखकर बनाया है । इम देखिए—

तुम चाहे जो कोउ कहो, हम तो
नँदवारे के संग ठई सो ठई ;
तुम ही कुल बीनी प्रवीनी सबै
हमहीं कुल छाँड़ि गई सो गई ।
'रसखानि' यों प्रीति की रीति नई
जु कलंक की मोटैं लई सो लई ;
इहि गाँव के बासी हँसैं सो हँसैं,
हम स्याम की दासी भई सो भई ।

देव से कई गुना श्रेष्ठ वर्णन ठाकुर के निम्न-लिखित छंद में है। नायिका परकीय प्रेम में पड़ने पर सखियों के तानों से तंग आकर कहती है—

हम तो पर-नारि भई सो भई,
　　तुम तो सुघरो सखियाँ सिगरी;
यह रीति चले जग नाम धरे,
　　तिहि तें न कढ़ो मग मो ढिग री।
कवि 'ठाकुर' फाटी कलंक की चादर,
　　हैंउ कहो कहँ लौ थिगरी;
तुम आपुनी ओर बचाव करो,
　　हम तो बन के बिगरी बिगरी।

कविवर ठाकुर का यह छंद देव के छंद से श्रेष्ठ है। देव के समान—'कुलटा कलंकिनी हौं कायर कुमति कूर . . .' आदि ग्रामीणता-सूचक शब्द ठाकुर के छंद में नहीं हैं। 'हम तो पर-नारि भई सो भई' में ही ठाकुर ने देव के छंद का आधे से अधिक वर्णन भर दिया है। ठाकुर के छंद की नायिका में नागरीत्व भी पाया जाता है। उसमें बातचीत करने की योग्यता भी है। फिर जो बात ठाकुर के 'यह रीति चले जग नाम धरे तिहि तें न कढ़ो मग मो ढिग री' में है, वह 'देव तहाँ बैठियत जहाँ बुद्धि बाढ़े, हौं तो बैठी हौं विकल कोऊ मोहिं मिलि बैठो जनि' में कभी है ही नहीं। 'मोहिं मिलि बैठो जनि' से 'न कढ़ो मग मो ढिग री' बहुत श्रेष्ठ है। कहाँ मिलकर पास बैठने की मनाही और कहाँ मग में ढिग (पास) से निकलने की मनाही। आकाश-पाताल का अंतर है। कहना न होगा कि देव का वर्णन ठाकुर के वर्णन से बहुत नीचा है। पर ठाकुर का यह वर्णन भी बिहारीलालजी के 'मो मन मोहन-रूप मिलि पानी में

को लौन' के भाव तक नहीं पहुँचता। उसमें जो तदाकारता है, वह ठाकुर के छंद में कहाँ?

शंभु कवि की उक्ति भी देखिए। नायिका शिक्षा देनेवाली सखी से कहती है—

नलिनी रवि मध्य को आड करै,
जुग फूटे जुराफा उड़ावहि को,
मन चुंबक बीच को लोह भयो,
तहँ दूसरो रूप दिखावहि को।
कवि 'संभु' सनेह की रीति यही,
बिछुरे जल मीन जियावहि को;
गुनवारे गुपाल की आँखिन सों
अरुझी अँखियाँ सुरझावहि को।

कवि शंभुजी का यह वर्णन देव, रसखान और ठाकुर, तीनो के वर्णनों से श्रेष्ठ है। 'गुनवारे गुपाल की आँखिन सों अरुझी अँखियाँ सुरझावहि को' में एक नई बात है। 'आँखों का उलझना' हिंदी-भाषा का मुहाविरा है, जिसका अर्थ प्रेम में फँसना होता है। एवं 'गुनवारे' मे गुण और रस्सीवाले, दोनो अर्थ निकलते हैं— प्रेम में फँसना और गुणवाले गोपाल के। यह बडे ही मार्मिक ढग से कहा गया। साथ-साथ रवि और नलिनी, लोह और चुबक तथा जल और मीन की स्नेह-रीति का वर्णन भी अच्छा बन पड़ा है। पर इसमे भी बिहारीलालजी के 'भो मन मोहन-रूप मिलि पानी में को लौन'वाली बात नही है। वैसी तदाकारता का वर्णन इनसे भी न हो सका।

भारतेंदु बाबू हरिश्चद्र ने भी एक ऐसी ही उक्ति कही है। परकीया नायिका सिखापन देनेवाली सखी से कहती है—

वह सुंदर रूप बिलोकि सखी,
　　मन हाथ सों मेरे भग्यो सो भग्यो;
चित माधुरी मूरति देखत ही
　　'हरिचंद'जू जाय पग्यो सो पग्यो।
मुहि औरन सो कछु काम नहीं,
　　अब तो जो कलंक लग्यो सो लग्यो;
रँग दूसरो और चढ़ैगो नहीं,
　　अलि, साँवरे रंग रँग्यो सो रँग्यो*।

इस सवैया की नायिका मे नागरीत्व यथेष्ट है। वर्णन मे स्वाभाविकता की मात्रा विशेष है। अंतिम पंक्ति बहुत ही भाव-पूर्ण है। 'साँवरे-रंग रँग्यो सो रँग्यो' मे भाव की गंभीरता है। साँवरे रंग पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। चित्त मे श्याम का प्रेम-रंग चढ़ गया है। इसमे भी प्रेम की उत्कृष्टता है, पर 'पानी में को लौन' हो जाने मे प्रेम-वृत्ति की जैसी लवलीनता और तदाकारता है, वैसी इसमे भी नहीं है।

इसी प्रकार अनेक कवियों के वर्णन हैं, जिन्हें मैं विस्तार-भय से

---

* भारतेंदुजी का यह छंद ठाकुर कवि के निम्न-लिखित उत्कृष्ट सवैये का अनुकरण मात्र है। देखिए—

जब तैं दरसे मनमोहन जू,
　　तब तैं अँखियाँ ये लगीं सो लगीं;
कुल-कानि गई सखि वाहि घरी,
　　जब प्रेम के फंद पगीं सो पगीं।
कवि 'ठाकुर' नेह के नेजन की
　　उर में अनी आनि खगीं सो खगीं,
हम गाँवरे नाँवरे कोऊ धरो,
　　हम साँवरे-रंग रँगीं सो रँगीं।

यहाँ उद्धृत करने मे असमर्थ हूँ, पर इतना अवश्य है कि उनमे से कोई भी बिहारीलालजी के इस दोहे की समता नहीं कर सकता।

(१३) यह सभी जानते हैं कि सौंदर्य मे आकर्षण है। ब्रह्म भी 'सुदर' है। कला केवल सौंदर्य का ही तो निदर्शन करती है। सुदरता में कुछ ऐसा जादू है, जो बरबस मोह लेता है।

सौंदर्य-जन्य प्रेम का वर्णन विश्व के सभी महाकवियों ने किया है। महाकवि बिहारीलालजी ने भी इसका अनूठा वर्णन किया है। दो उदाहरण देखिए—

डर न टरै, नींद न परै, हरै न काल-बिपाक,

छिन छाकै उछकै न फिरि, खरौ बिषम छबि-छाक।

(बिहारी-सतसई)

सौंदर्य-जन्य प्रेम का मद (नशा) बडा ही विषम है। अन्य नशे डर से उतर जाते हैं, पर इसका नशा डर से भी नहीं उतरता। अन्य नशों मे नींद आ जाती है, पर इसमे 'नींद न परै' नींद सदा के लिये भाग जाती है। काल-विपाक भी इसका हरण नहीं करता, अर्थात् जिस प्रकार अन्य नशो का असर कुछ समय व्यतीत होने पर स्वयमेव चला जाता है, वैसा सौंदर्य-मद का असर नहीं चला जाता। जब तक वह सौंदर्य है, उस सुदरता की मूर्ति है, तब तक उसका प्रभाव कभी नष्ट नहीं होता। सौंदर्य-मद जहाँ एक बार चढा, फिर क्षण-भर के लिये भी नहीं उतरता। प्रेम के नशे मे और अन्य नशो में यही विषमता है। व्यतिरेकालकार का यह दोहा बहुत ही श्रेष्ठ उदाहरण है।

(१४) चित्त की नौका को 'अग-अग छबि-भौंर' के भँवर मे किस प्रकार फँसाया है, इसे भी बिहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहे मे देखिए—

फिर-फिर चित उतही रहत, टुटी लाज की लाव;
अंग-अंग छबि-झौंर में भयो भौंर की नाव।

(बिहारी-सतसई)

प्रेम-पात्र के अंग-अंग की छवि के 'झौंर' में प्रेमी का चित्त भँवर की नाव बना हुआ फिर-फिरकर उसी (प्रेम-पात्र की) ओर रहता है। अन्य किसी ओर नहीं जाता, क्योंकि उसे प्रेम-पात्र की ओर से खींचनेवाली लाज की (लाव) रस्सी टूट गई है। इस दोहे के रूपक में 'अंग-अंग छबि-झौंर' बहुत भारी और चक्करदार भँवर आ पड़ा है, जिसमें पड़ने से लाज की मजबूत लाव भी टूट चुकी है। अब उसमें से चित्त-रूपिणी नौका' का निकलना हो ही नहीं सकता।

(१५) तत्त्वदर्शी महाकवि बिहारीलालजी ने सौंदर्य के विषय में जो विचार किया है, उसे भी देख लीजिए, क्योंकि उसी के अनुसार तो सौंदर्य-प्रेम का वर्णन है। सुंदरता का यह निदर्शन परम दार्शनिक कवि के सिवा और कर ही कौन सकता है ? जब परमात्मा का रूप ही 'सत्य शिव सुन्दर' मान लिया, और जब यह मान चुके कि समग्र सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में उस परमात्मा की ज्योति है— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' या 'सर्व विष्णुमय जगत्' है, तब असुंदर कह ही किसे सकते हैं। और, फिर सुंदरता की कोई परिभाषा भी तो नहीं बनाई जा सकती। महाकवि बिहारीलालजी कहते हैं—

समै-समै सुंदर सबै रूप-कुरूप न कोय;
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती छबि होय।

(बिहारी-सतसई)

समय-समय पर सब सुंदर हैं, रूपवान् और कुरूप कोई नहीं। मन की जहाँ जितनी रुचि (आसक्ति) होती है, वहाँ उतनी ही सुंदरता (विदित) होती है।

कितना गंभीर, गवेषणा-पूर्ण सिद्धात है। सुदर सभी हैं, केवल काली लैला को मजनूँ बनकर देखने की आवश्यकता है।

रसनिधि ने इसीलिये कहा है—

चसमन चसमा प्रेम को पहले लेहु लगाय,
सुंदर मुख वह मीत को तब अवलोको जाय।
(रतन हजारा)

(१६) इसीलिये बिहारीलालजी प्रेम के उस आदर्श का वर्णन करते हैं, जिसमें प्रेम की दृढता होती है। वह प्रेम का व्यभिचार वर्णन नहीं करते। देखिए, उसका आदर्श निम्न-लिखित दोहा है। लिखते हैं—

सब ही तन समुहाति छन चलति सबन दै पीठि,
वाही तन ठहराति यह किबुलनुमा लौं दीठि।
(बिहारी सतसई)

कैसा अनूठा प्रेम दर्शित किया है। पक्का प्रेम जो एक जगह जम जाता है, उसे कितना ही हिलाओ-डुलाओ, पर वह हिर-फिरकर वहीं उसी जगह आकर ठहरता है। प्रेमी की दृष्टि अपने प्रेम-पात्र के अतिरिक्त अन्य पर कब ठहर सकती है। सबके सम्मुख दृष्टि जाती है, पर क्षण-भर के लिये। पश्चात् सबको पीठ देकर अर्थात् सबकी ओर से हटकर वह उसी प्रेम-पात्र की ओर ठहरती है, स्थगित हो जाती है। कितना गभीर प्रेम है। इस दोहे में 'दृष्टि का सबको पीठ देना' लिखकर बिहारीलालजी ने मुहाविरे को जिस विदग्धता से चस्पाँ किया है, उसे देखिए। साथ-साथ दृष्टि के पीठ देने में जो बारीक बीनी है, उस पर भी विचार कीजिए। इतना सब होते हुए 'किबुलनुमा' की उपमा देकर तो कविवर ने गज़ब ढा दिया है। कैसी सजीव और नवीन उपमा है, इसे अलंकार-प्रेमी देखें। क़िबलेनुमा' की सुई का रुख सदैव एक निश्चित दिशा की ओर रहता

है। जी चाहे, जहाँ को उसका रुख फेर दो, पर वह तुरंत ही निश्चित दिशा की ओर हो जायगा। प्रेमी की दृष्टि की भी यही अवस्था है। कोई अन्य कितना भी सुंदर, मनोहर क्यो न हो, उसे उससे क्या संबंध। उसे तो उसका प्रेम-पात्र ही सबसे अधिक सुंदर है।

(१७) प्रेमी के नेत्रों द्वारा प्रेम प्रकट हो जाता है। प्रेम-भरी आँखों को कोई छिपा नहीं सकता। भारतेंदु हरिश्चंद्र कहते हैं—

छिपाए छिपत न नैन लगे।

कबीरदासजी कहते हैं, प्रेम छिपता नहीं, नेत्रों द्वारा प्रकट हो जाता है। इसी से —

कहत कबीरा क्यों दुरै रुई-लपेटी आग।

बिहारीलालजी लिखते हैं—

बहके, सब जिय की कहत, ठौर-कुठौर लखैं न;
छिन औरे छिन और से, ये छबि-छाके नैन।

(बिहारी सतसई)

प्रेमी का कथन है—मैं क्या करूँ। प्रेम को कैसे छिपाकर रक्खूँ। मेरे छवि-मद पीकर मत्त हुए नेत्र बहक गए हैं, अर्थात् अपने वश में नहीं रहे, निरंकुश हो गए हैं। ये क्षण-क्षण में और-ही-और प्रकार के हो जानेवाले नेत्र मेरे जी की मन (छिपी हुई बात) कह देते हैं। और तो और भी, ये इतने बहक गए हैं कि मेरे अंतरंग हृदय का संपूर्ण भेद कहते समय 'ठौर-कुठौर' नहीं देखते। नीके-नीके भी इन्हें कुछ भी खबर नहीं रहती।

कविवर रसलीन का भी इसी प्रकार का यह दोहा है —

एक दीप तें गेह की प्रकट सबै निधि होय,
तन-सनेह कैसे दुरै, जहँ दृग-दीपक होय।

इसी प्रकार के भाव को एक अन्य हिंदी-कवि ने निराले ही ढंग से व्यक्त किया है। लिखा है—

मन-महीप की खबर सब दृग-दिवान कह देत।

पर बिहारीलालजी के दोहे का आलम इन सब उक्तियों से निराला ही है।

(१८) प्रेम-नगर के अंधेर का भी बिहारीलालजी ने वर्णन किया है। लिखते हैं—

क्यो बसिए, क्यों निबहिए, नीति नेह-पुर नाहिं ;
लगालगी लोचन करैं, नाहक मन बँध जाहिं।
(बिहारी-सतसई)

प्रेम-नगर में नीति तो है ही नहीं, बसे, तो क्योंकर बसें और निर्वाह करें, तो क्योंकर करें। नेत्र तो 'लगालगी' करते हैं, और मन व्यर्थ ही बंधन में पड़ता है, अरे! यह नीति कैसी कि—

और करै अपराध कोउ, और पाय फल-भोग।

(१९) प्रेम-नगर की एक विचित्र रीति का वर्णन और भी देखिए, और फिर कहिए कि क्या 'नेह-नगर' में कुछ भी नीति है। लिखते हैं—

छुटन न पैयतु छिनिक बसि नेह-नगर यह चाल ;
मार्‍यो फिरि-फिरि मारिए, खूनी फिरत खुस्याल।
(बिहारी-सतसई)

नेह-नगर की यह निराली चाल है कि इसमें क्षण-मात्र बसकर फिर कोई भी जन्म-भर छूटने नहीं पाता। यही नहीं (प्रेम-पात्र की चितवन का), मारा हुआ तो इस नगर में फिर-फिर (बार-बार) मारा जाता है, किंतु खूनी को जरा भी दंड नहीं दिया जाता, वह खुशहाली से (प्रसन्नता-पूर्वक) स्वतंत्र घूमता है।

मक्तूल का बार-बार क़त्ल होना एवं खूनी का खुशहाल फिरना

बड़ा ही आश्चर्योत्पादक है। प्रेम-नगर की इस धाँधली की बलिहारी है।

(२०) सुदर और गुणवान् भी प्रेम-हीन होने से शोभा को प्राप्त नहीं होता। प्रेम-हीन की सुदरता और गुण दोनो ही तुच्छ हैं। इस सिद्धात को काव्य-कला-कुशल, प्रेमी, महाकवि बिहारीलालजी अपने निम्न-लिखित दोहे में प्रकट करते हैं। देखिए, कैसा सुदर और उत्कृष्ट वर्णन है—

जद्यपि सुंदर सुघर, पुनि सगुनौ दीपक-देह;
तऊ प्रकास करै तितौ, भरिए जितौ सनेह।

(विहारी-सतसई)

दीपक-रूपी देह यद्यपि सुदर, सुगठित (सुघर, अच्छी गठन-वाली) हो, फिर सगुनौ (१ गुण-सपन्न। २ बत्ती से युक्त) भी क्यों न हो, तथापि उतना ही प्रकाश (१ उजाला। २ शोभा) उसमें होता है, जितना स्नेह (१ प्रेम। २ तेल) उसमें भरा जाता है।

(२१) जिनका मानुषी-प्रेम सच्चा होने के कारण ईश-प्रेम में परिवर्तित हो गया, वह महाकवि बिहारीलालजी अपने श्रीकृष्ण-प्रेम में डूबे हुए प्रेमी मन की अवस्था के विषय में स्वय लिखते हैं—

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय;
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याम-रँग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।

(विहारी-सतसई)

उक्ति में चमत्कार है। श्यामसुदर भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम में ज्यों-ज्यों मन डूबे, त्यों-त्यों उसका उज्ज्वल, सतोगुण-प्रधान, पवित्र होना जितना मद और स्वाभाविक है, उतना ही आश्चर्यकारी श्याम रँग में डूबकर पट का उज्ज्वल होना—शुभ्र होना—है।

इस प्रकार बिहारीलालजी ने अत्यत परिमार्जित उत्कृष्ट शैली में

सुरुचि-उत्पादक प्रेम का प्रकृष्ट वर्णन किया है। प्रेमी विहारीलालजी और उनके डोम-संगीत को धन्य है, धन्य है, धन्य है।

(१) भक्ति-शृंगार में श्रीराधिकाजी ब्रह्म की माधुर्यमयी आह्लादिनी शक्ति, हैं, एव ब्रह्म सर्वथा उनके अधीन हैं। रसमय ब्रह्म की प्राप्ति गोपी-भाव की साधना से हो सकती है। भगवान् की जो रस-प्राप्ति की कामना है, वह पूर्ण भाव से श्रीराधिका में विराजित है। इसी से जिस रस की पिपासा जीव के प्राण-प्राण में है, उस रस का विकास राधातत्त्व द्वारा लभ्य है। श्रीराधिका के साथ परब्रह्म श्रीकृष्ण की जो ब्रज-लीला है, वही रस का आश्रय अथच रस-साधना है। आत्मा में राधा-कृष्ण के तत्त्व का सम्यग्रूपेण विकास करके ही जीव पूर्ण रस और आनद का अधिकारी होता है। इसके लिये प्रथम आह्लादमय प्रेम द्वारा रस-प्राप्ति के लिये 'रसो वै सः' की पूर्ण प्राप्ति के लिये श्रीराधिका की शरण लेनी पड़ती है। यदि जीव राधा-तत्त्व को हृदय में प्रतिष्ठित कर सका, तो फिर वह सासारिक बधनों से मुक्ति पा जाता है, और उसे ब्रह्म-सान्निध्य की प्राप्ति हो जाती है। महाकवि श्रीबिहारीलालजी लिखते हैं—

> मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोय ;
> जा तन की झाईं परे स्याम हरित-द्युति होय।
>
> (बिहारी-सतसई)

इन्हीं राधिका की कृपा से माया-मुग्ध जीव संपूर्ण भ्रम-जाल को छिन्न कर आत्मसाक्षात्कार द्वारा आत्मा मे राधाकृष्ण-तत्त्व का विकास कर जन्म-मरण से छुटकारा पाता और केवल आनंद को प्राप्त करता है।

श्रीसूरदासजी ने भी अपने निम्न-लिखित पद में श्रीराधिका से विनय की है—

राग सारंग

रमा, उमा अरु सची अरुंधति, नित-प्रति देखन आवैं;
निरखि कुसुम सुरगन बरसत हैं, प्रेम-मुदित जस गावैं।
रूप-रासि, सुख-रासि राधिका, सील महागुन-रासी;
कृष्ण-चरण ते पावहिं स्यामा, जे तुव चरन-उपासी।
जगनायक जगदीस पियारी, जगत-जननि जगरानी;
नित बिहार गोपाल लाल सँग, वृंदावन रजधानी।
रसना एक, नहीं सत-कोटिक, सोभा अमित अपारी;
कृष्ण-भक्ति दीजे श्रीराधे, 'सूरदास' बलिहारी।

(२) गोपी-जन-वल्लभ आत्माराम, मुरलीमनोहर, भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रेमोन्मादिनी, प्रभु-वल्लभा गोपिकाओं को मुरली-नाद द्वारा वन में बुलाया। क्योंकि उन्होंने भगवान् कृष्ण की प्राप्ति के हेतु कठिन कात्यायिनी व्रत किया था, एवं भगवान् में उनको माहात्म्य-ज्ञान-सापेक्ष प्रेम था। इस मुरली-नाद के विषय में भागवतकार ने लिखा है—

दृष्ट्वाकुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं
रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणं;
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं
जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्।

अर्थात् कुमुद-पुष्पों से परिपूर्ण अखंड मंडलमय वन को, जो लक्ष्मीजी के मुख के अरुण नव-कुंकुम से तथा चंद्रमा की कोमल किरणों से रंजित हो आभामय था, देखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने व्रजांगनाओं के मनों को हरण करनेवाला 'कल' वंशी-नाद किया।

इस 'कल' से स्पष्ट है कि यह 'क्लीं' काम-बीज का गान है। यह काम-बीज वह है, जिसमें संपूर्ण कामनाओं का लय हो जाता है। सब

रसों के मूल में 'रसो वै सः' के सिद्धातानुसार एक परमात्मा का अद्वितीय रस ही सर्वत्र व्याप्त है। यही रस (आनद) संसार में अनेक रूपों में व्याप्त है। एक अद्वैत ब्रह्म-रस को अनेक रसों के रूप मे दिखलाना माया का कार्य है, एव भिन्न-भिन्न भावों या रूपों में आनद का बोध होना रस का कार्य है। भक्त-वत्सल भगवान् की कृपा से जीव को जब यह बोध हो जाता है कि भिन्न-भिन्न रसों की कल्पना मायामय है, एव सबका मूल एक ही रस है, तब उसे समस्त द्वैत जगत् के प्रेम के मूल में अद्वितीय भगवान् के एक ही प्रेम-रस का अनुभव होने लगता है। इसी से वह ससार से वैराग्यवान् होकर भगवान् का अनन्य भक्त बन जाता है। श्रीकृष्ण भगवान् की त्रिभुवन-विमोहिनी मुरली से यही काम-बीज का कल गान निकला था, जिसे श्रवण कर गोपियों ने ससार के सब द्वैत-मूलक प्रेम को भूलकर, लोक-परलोक का भय त्यागकर श्रीकृष्ण के चरण-कमल की शरण ली थी। जब क्लीं काम-बीज है, तब क्लीं का नाद काम बढानेवाला होगा ही। परतु यह वह काम था, जिसमें सपूर्ण कामनाओं की परिसमाप्ति हो जाती है। गोपिकाओं ने मुरली-नाद श्रवण कर 'कातासक्ति'-भाव से भगवान् को भजने के हेतु सर्वस्व त्यागकर वन की राह ली। इसी वशी-नाद के वर्णन में भक्ति-शृ गारी बिहारीलालजी लिखते हैं—

> कितीं न गोकुल कुल-बधू काहि न किन सिख दीन;
> कौनें तजीं न कुल-गलीं, ह्वै मुरली-सुर-लीन।
> (बिहारी-सतसई)

(२) शृ गार-भक्ति में भक्तजीवात्मा का उद्देश्य परमात्मा से चिर-सभोग होता है। यह प्रेम-भक्ति की पूर्णता में ही सभव है। ध्यान रहे, 'आत्मा' ही प्रियतम है, एवं भगवान् ही आत्माराम हैं। भगवान् श्रीकृष्ण सर्वव्यापक परमात्मा हैं, एव समस्त जीवों के अतरात्मा स्वरूप हैं। जब गोपियों का प्रेम और आत्मसमर्पण उन्हीं

परमात्मा में हो गया, तब उनके लिये गृहस्थ स्त्री का पति-पुत्रादि के प्रति कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रह सका। उन्होंने धर्माधर्म त्यागकर अनन्य भाव से भगवान् की शरण ली। उनकी प्रार्थना पर भगवान् कृष्ण ने उनकी इच्छा-पूर्ति की। इसी के विषय में भागवत में लिखा है—

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः,
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्।

इस श्लोक में योगेश्वर और आत्माराम पदों पर ध्यान देने से इस रास का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। इसमें निर्लिप्तता और स्वरूप में स्थिति का अच्छा स्पष्टीकरण होता है। कांत-भाव से भक्ति करनेवाली भक्त आत्मा की साधना का यही अंतिम फल है, जिसमें परमात्मा-रूप प्रियतम का प्रत्यक्षीकरण होता है। इसी अवस्था के विषय में रहस्यवादी निर्गुण-मार्गी कबीरदास ने अपने निम्न-लिखित दोहे में संकेत किया है। लिखा है—

विरह - जलंती देखकर साईं आए धाय;
प्रेम-बूँद से छिरकिकै जलती लई बुझाय।

(साखी)

स्मरण रहे, भक्त की भावना के अनुसार हृदय में प्रतिष्ठित भगवान् की साकार मूर्ति में एकाग्र ध्यान लगाने से ध्यान के परिपाक में भगवान् की साकार मूर्ति के दर्शन होते हैं। परंतु सर्वांतर्यामी परमात्मा का यथार्थ दर्शन भक्त को उस समय होता है, जब भक्ति और ज्ञान का एकीकरण हो जाता है, और सगुण के साथ निर्गुण का भी साधन हो जाता है। गोपियों ने परमात्मा की साकार मूर्ति के दर्शन तो कर लिए, परंतु पूर्ण आनंद की प्राप्ति तो उन्हें भगवान् को सर्वत्र देखने में ही हो सकती थी। परमात्मा के सर्वत्र दर्शन करने ही में परमानंद का पूर्ण लाभ है।

रास मे गोपियो की परा भक्ति की परा काष्ठा हुई थी। उन्होंने सर्वत्र भगवान् के दर्शन किए थे। इसी रास मे गोपियॉ परमात्मा श्रीकृष्णचद्र के चरण-कमलो मे अपने जीवन को समर्पण कर और परमानद-रूप समुद्र में अपने शरीर, मन, प्राण और जीवात्मा को विलीन करके कृतार्थ हुईं थीं। महाकवि श्रीविहारीलालजी ने रास के वर्णन में भक्ति-शृ गार के अलौकिक, आध्यात्मिक भाव को लौकिक भाव मे, निम्न-लिखित दोहे में, बडी ही सुदरता से, अकित किया है। लिखा है—

गोपिन संगति शरद की रमत रसिक रस रास,
लहाछेह अति गतिन की सबन लखे सब पास।
(विहारी-सतसई)

(४) श्रीमद्भागवत मे लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति पर गोपियों को सौभाग्य के अत्यत गर्व से मान हुआ। विशेष मान श्रीराधिका को हुआ, क्योकि इन्हीं के प्रेम में तो मधुर गोपी-प्रेम का चूडात निदर्शन है। इस मधुरतम मान-लीला का वर्णन वैष्णव-भक्ति-शृ गारी कवियों ने बडा ही भाव-पूर्ण किया है। महाकवि श्रीविहारीलालजी के अनेक दोहों मे इसका काव्य-कला-पूर्ण उत्कृष्ट वर्णन पाया जाता है। निम्न-लिखित दोनो दोहे देखिए—

तो ही को छुटि मान गो देखत ही व्रजराज,
रही घरिक लौ मान सी, मान किए की लाज।
सतर भौंहैं रूखे वचन, करति कठिन मन नीठि,
कहा करौं ह्वै जाति हरि, हेरि हँसौ ही डीठि।
(विहारी-सतसई)

निम्न-लिखित दोहे में तो भक्ति-शृ गार-पूर्ण मान का प्रेममय अनूठा निदर्शन है। लिखा है—

सखी सिखावति मान-विधि, सैनन बरजति बाल;
हरुवे कह मो हिय बसत सदा बिहारीलाल।
(बिहारी-सतसई)

इसमें प्रेम-भाव का सहज भोलापन द्रष्टव्य है।

(५) जब भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा ने गोपियों के सौभाग्य के मद एवं मान को देखा, तब वह वहाँ अंतर्द्धान हो गए। भक्त-वत्सल भगवान् भक्त की उन्नति में बाधक अहंकार को नाश करके भक्ति-मार्ग को निष्कंटक कर देते हैं। इसी से गोपियों पर अनुग्रह करके उनके अहंकार को नाश करने के हेतु वह अंतर्द्धान हो गए। इस पर गोपियों का अहंकार नष्ट हो गया, और वे अनुताप करने लगीं। गोपियों की यह विरहावस्था ही भक्त के अनुताप की अवस्था है। इस अनुताप की अग्नि से भक्त जीवात्मा के चित्त का संपूर्ण दोष-रूप मैल भस्म होकर चित्त निर्मल हो जाता है, जिससे उसके हृदयासन पर भगवान् आ विराजते हैं। यह विप्रलंभ (विरह)-अवस्था ही जगद्गत साधक जीवों को अधिक आनंददायक है, क्योंकि इसमें श्रीकृष्ण-स्मृति निरंतर जाग्रत् रहती है। इसमें अखिल विश्व की बाह्य प्रतीति नष्ट हो जाती है। इसमें प्राणवल्लभ भगवान् के संयोग की तीव्र आसक्ति रहने से हृदय की तल्लीनता प्राप्त हो जाती है। इसी से जीवात्मा की संपूर्ण भावनाएँ भगवान् में लय हो जाती हैं। इसी विरह में प्रेम की पूर्णता होती है। बिहारी-सतसई में इस विरह के अनेक वर्णन मिलते हैं। उदाहरण-स्वरूप कुछ दोहे दीजिए:—

गोपिन के अँसुवन भरी, सदा असोस (प) अपार;
डगर-डगर नै ह्वै रही, बगर-बगर के बार।
(बिहारी-सतसई)

स्याम-सुरति कर राधिका, तकति तरनिजा-तीर;
अँसुवन करति तरौंस कौ, खिनकु खरौंहौं नीर।
(बिहारी-सतसई)

ऐसे भक्त को भगवान् का एक पल का विरह भी सह्य नहीं होता। बिहारीलालजी लिखते हैं—

जाति मरी बिछुरी घरी जल-सफरी की रीति;
छिन-छिन होति खरी-खरी, अरी जरी यह प्रीति।
(बिहारी-सतसई)

यह विरह ही ध्यान की अवस्था है। इसी विरह की तीव्रता मे—तीव्रतम संवेग मे—ध्याता, ध्यान और ध्येय का एकीकरण हो जाता है, और भक्त जीवात्मा के रोम-रोम मे भगवान् के आनदमय रूप के सिवा कुछ भी नही रहता। इसी अवस्था मे भगवान् से तन्मयता प्राप्त होती है। श्रीमद्भागवत में लिखा है—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिका ,
तद्गुणान्येव गायन्त्यो नात्मागाराणि संस्मरुः।
पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः;
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिता।

अर्थात् वे गोपियाँ तन्मय होकर भगवान् के आलाप में निरत हुई। वे तत्स्वरूप होकर उन्हीं के गुणों को गाती हुई अपने-अपने घरों को भूल गई। फिर कृष्ण-भावना-भावित अतःकरणवाली वे यमुना-तट पर आकर एकत्र सम्मिलित हो भगवान् श्रीकृष्ण के आने की प्रतीक्षा करने लगीं। महाकवि बिहारीलालजी ने ऐसी ही दशा के वर्णन मे लिखा है—

जहाँ-जहाँ ठाढ़ौ लख्यौ स्याम सुभग-सिरमौर;
उनहूँ बिन छिन गहि रहत दृगन अजौं वह ठौर।
(बिहारी-सतसई)

(६) राधाकृष्ण-तत्त्व की हृदय में प्रतिष्ठा कर आत्मा में उनकी अनोखी झाँकी निहारकर भक्ति-शृंगारी-अनन्य प्रेमी विहारीलालजी कहते हैं—

नित प्रति एकतहीं रहत बैस-बरन-मन-एक,
चहियत जुगलकिसोर लखि, लोचन-जुगल अनेक।
(बिहारी-सतसई)

और इसी में ब्रह्मानंद का अनुभव करनेवाले भक्ति-शृंगारी कविवर ने लिखा है—

तज तीरथ हरि-राधिका-तन-दुति कर अनुराग;
जेहि ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग-पग होत प्रयाग।
(बिहारी-सतसई)

इस प्रकार बिहारी-सतसई में भक्ति-शृंगार का समुज्ज्वल वर्णन प्राप्त होता है। इस वर्णन के इनके अनेक दोहे हैं, जिन्हें स्थानाभाव के कारण यहाँ देने में असमर्थ हूँ। फिर भी केवल चार-छः दोहे यहाँ उद्धृत करता हूँ—

दान-लीला के विषय का यह दोहा दर्शनीय है—

लाज गहो, बे काज कत, घेर रहे, घर जायँ.
गोरस चाहत फिरत हौ, गोरस चाहत नायँ।
(बिहारी-सतसई)

मुरली-लीला के विषय का यह दोहा है—

बत-रस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाय;
सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै, नटि जाय।
(बिहारी-सतसई)

इसी प्रकार भिन्न-भिन्न अवसर के ये दोहे भी देखने योग्य हैं—

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल,
कहुँ मुरली कहुँ पीत-पट, कहूँ लकुट-बन-माल।

षट्-ऋतु-वर्णन

सत्य तो यह है कि मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है, और कला सौंदर्य का केवल अनुकरण ही नहीं करती, वरन् नूतन सौंदर्य की सृष्टि भी करती है। यदि हम कहें कि कविता सुंदरता का मूर्तिमान् रूप है, तो अत्युक्ति न होगी। सौंदर्योपासना द्वारा हम सुंदर वस्तु के अस्तित्व को सार्थक कर अपनी और समूचे संसार के एकत्व की स्थापना करते हैं। यह विश्व-व्यापिनी उपासना है। इसका क्षेत्र अत्यंत विशाल है। इसमें कोई साम्प्रदायिक भेद-भाव नहीं होता। मत-मतांतरों के झगड़ों से यह कोसों दूर है। इसी उपासना द्वारा हम उस सौंदर्य की झलक प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं, जिससे संपूर्ण विश्व की सुंदर-सुंदर वस्तुओं को अनूठी सुंदरता प्राप्त होती है। इसी उपासना से समष्टि और व्यष्टि के आदर्श का मेल हो जाता है। प्राकृतिक दृश्यों द्वारा समष्टि के आदर्श के साथ व्यष्टि के आदर्श की समानता हमें इसी उपासना में दृष्टिगोचर होने लगती है।

सच पूछा जाय, तो प्राकृतिक सौंदर्य के मनोहर दृश्यों को देखने से उदासीनता दिखाना मानो सृष्टिकर्ता ईश्वर के प्रति उदासीनता दिखलाना है। प्राकृतिक सौंदर्य-दर्शन से आनंद-विह्वल होना मन का एक उत्तम गुण है। वसंत के शोभाकर वन अपने सौरभित सुमन-समूहवाले तरु-दल की अलौकिक छटा दिखलाते हुए किसका मन हरण नहीं करते? कुहुका कोकिल की सुरीली कूक किसे सुहावनी नहीं लगती? नदी का निर्मल जल कलरव करता हुआ जब प्रवाहित होता है, तब किसके नेत्र और कान उससे आनंदित होकर अंतरात्मा

को उल्लसित नहीं करते ? वर्षा-काल का बहुरंगा इंद्र-धनुष अपनी अलौकिक आभा की सुखद छटा दिखलाकर किसे चकित नहीं करता ? सायकालीन सूर्य की अरुणिमा पश्चिमीय गगन से जब गगन-चुंबी पर्वत-मालाओं पर पड़ती है, एव सरोवर के जल मे जब उसका प्रतिबिंब सांध्य समीरण के प्रवाह से उठती हुई लहरो के कारण डोलते हुए जल मे दिखलाई पड़ता है, तब कौन आनदित नहीं हो उठता ? निर्मल आकाश मे शारदीय पूर्णिमा का चद्र नक्षत्रो के साथ कैसी शोभा सरसाता है ? जब रात्रि में चद्र-चाँदनी शात और स्तब्ध तरु-वृ द को आभामय बनाती है, तब उसे अवलोकन कर किसका हृदय प्रफुल्लित नहीं हो उठता ? प्रकृति के इस सौंदर्य का उपभोग तो पशु-पक्षी तक करते हैं। चकोर पूर्ण चद्र की ओर टकटक देखता रह जाता है। मयूर मेघ को देखकर उन्मत्त हो नाचने लगता है। सर्प केतकी-गध से आकृष्ट होता है। आम्र-मजरी के विकसित रूप-माधुर्य को देखकर कृष्णा कोकिल पचम स्वर मे गान करने लगती है। कवि भी इस सौंदर्य को देखकर आनदातिरेक से विह्वल होता है, और फिर सुदर काव्य मे प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन करने लगता है।

हिंदी-कवियों ने प्राकृतिक सौंदर्य का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है। प्राकृतिक सौंदर्य की सर्वश्रेष्ठ क्रीडा-भूमि भारतवर्ष मे (१) वसत, (२) ग्रीष्म, (३) वर्षा, (४) शरद्, (५) शिशिर और (६) हेमत-नामक छ ऋतुएँ होती हैं। इन ऋतुओं मे प्रकृति के सौंदर्य में विलक्षण नूतनता उत्पन्न होती है। स्थिर निष्प्राण प्राकृतिक सौंदर्य मे भी इन छ ऋतुओं में सजीवता का ऐसा मोहक विकार उत्पन्न होता है, जो तीव्र मादक सौंदर्य-युक्त होता है। हिंदी-कवियो ने ऋतु-वर्णन मे प्रकृति का ऐसा उत्कृष्ट वर्णन किया है कि उसकी प्रशसा शब्दो में नहीं की जा सकती। इसमे कविजनोचित कल्पना

का पूर्ण प्राबल्य तो है ही, साथ ही प्रकृति का भी—प्राकृतिक सौंदर्य का भी—ऐसा सच्चा और हृदय-ग्राही सजीव चित्र अंकित किया है, जिस पर रसिक काव्य-प्रेमी हृदय न्योछावर करते हैं। प्रत्येक ऋतु में प्रकृति के सौंदर्य के ऐसे उत्कृष्ट शब्द-चित्र खींचे हैं, जिन्हें पढ़ते ही—समझते ही—प्रकृति का—उस ऋतु-विशेष का—रमणीयतामय चित्र नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। इसमें ऋतु-विशेष के फल, फूल, हिंदू-उत्सव और हिंदू-त्योहार, उन त्योहारों (उत्सवों) के समय के व्यवहार आदि, उस ऋतु-विशेष में प्रकृति की दशा, उसका मनुष्यों और इतर प्राणियों पर प्रभाव आदि अनेक ऐसे-ऐसे रोचक विषयों का वर्णन है, जो पढ़ने पर ही जाने जा सकते हैं।

यह ध्यान रहे कि जन-साधारण के कथन की अपेक्षा कवियों के वर्णनों में कुछ विलक्षणता होती है। वे केवल यही कहकर नहीं रह जाते कि "नदी बहती है। उसका जल निर्मल है। उसके दोनो तट ऊँचे हैं। उसमें भँवर भी पड़ते हैं।" यह वर्णन कवि का नहीं है। यह जन-साधारण की दृष्टि है। कवियों की दृष्टि कहीं और ही रहती है। हमारे हिंदी-कवियों ने जिन आँखों से प्रकृति की बाँकी झाँकी निहारी है, वे आँखें कुछ और ही हैं। जन-साधारण के लिये पर्वतों के भीतर से आती हुई शुभ्र और निर्मल जलवाली नदी एक नदी-मात्र है, परंतु कवि के लिये उस श्वेत-वस्त्रा, लाजवंती का शरीर शृंगार की रंगभूमि है। कवि-कुल-गुरु कालिदास के जगत्-प्रसिद्ध खंड काव्य मेघदूत में ऐसे अनेक वर्णन हैं। हिंदी-कवियों ने ऐसे अनेक प्राकृतिक चित्र अंकित किए हैं। लू का चलना जन-साधारण अथवा वैज्ञानिक के लिये ग्रीष्म ऋतु का एक गुण-विशेष है, पर महाकवि बिहारीलालजी लिखते हैं—

अरी, न यह पावक प्रबल, लुएँ चलति चहुँ पास ;
मानहुँ बिरह बसंत के ग्रीषम लेति उसास ।
(बिहारी-सतसई)

इसके अतिरिक्त प्रकृति से हमें गहन-से-गहन शिक्षा सदा-सर्वदा सर्वत्र मिल सकती है। प्रत्येक वृक्ष का प्रत्येक पत्र महाकाव्य का पत्र हो सकता है, जिस पर अनमोल शिक्षा और अनत सत्य का वज्र-लेख लिखा है। इसके लिये केवल देखनेवाला चाहिए। प्रकृति के साधारण पदार्थों के स्वभावमय चित्रण के साथ-साथ वे जिस अटल सत्य की अलौकिक शिक्षा की सदा-सर्वदा घोषणा कर रहे हैं, उसका भी हिंदी-कवियो ने ऐसा अनूठा दिग्दर्शन कराया है, जिस पर हृदय न्योछावर करना उपयुक्त जान पड़ता है। इसके उदाहरण मे कवि-श्रेष्ठ तुलसीदास के वर्षा-वर्णन की तीन पक्तियाँ यहाँ देता हूँ। देखिए—

दामिनि दमकि रहन घन माहीं,
खल की प्रीति जथा थिर नाहीं।
छुद्र नदी भरि चलि इतराई ;
जनु थोरेउ धन खल बौराई।
बुंद-अघात सहैं गिरि कैसे,
खल के बचन संत सहैं जैसे।
(रामचरित-मानस)

इस प्रकार के प्राकृतिक वर्णनो मे नीति और कला का अद्भुत मेल है। इन पंक्तियों में मनोरम प्राकृतिक चित्र की सुदरता अक्षुण्ण रखते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने जो अनुरूप उपमान उपस्थित किए हैं, वे विलक्षण काव्य-चमत्कार-पूर्ण और अटल सत्यमय हैं।

इन दो प्रकार के प्राकृतिक वर्णनो के अतिरिक्त तीसरे प्रकार के ऐसे वर्णन भी हिंदी-कवियों ने प्रचुरता से किए हैं, जिनमें प्राकृतिक

सौंदर्य के साथ-साथ मनुष्य के अंतर्जगत् के सौंदर्य का भी वर्णन पाया जाता है। इनमें यह दिखलाया जाता है कि मनुष्य के हृदय पर प्राकृतिक सौंदर्य का कैसा प्रभाव पड़ता है, आभ्यंतर प्रकृति से बाह्य प्रकृति का कैसा संबंध है, उनका पारस्परिक प्रभाव कैसा पड़ता है, एवं प्रेम आदि के स्थायी भाव एकांत और रमणीक स्थल में कैसे जोरों से उठते हैं? सच पूछो, तो इस प्रकार के वर्णनों से ही कवि की रचना-कुशलता का पता चलता है। इस प्रकार के वर्णन हिंदी के प्रमुख प्रतिभाशाली कवियों ने शृंगार-रस के विभाव-पक्ष में प्रचुरता से लिखे हैं। इनमें कविजन बाह्य प्रकृति के साथ अंतरंग प्रकृति का अद्भुत मेल मिलाकर जो कलामय शब्द-चित्र अंकित करते हैं, उनमें सर्वथा विलक्षण आनंद होता है। ऐसे शब्द-चित्र काव्य-कला-उत्कर्ष के रमणीय उदाहरण होते हैं। सच तो यह है कि कविता में बाह्य सौंदर्य के साथ हमें अंतरंग सौंदर्य के भी दर्शन होते हैं, जो बाह्य जगत् के सौंदर्य से कहीं अधिक आनंददायी और मूल्यवान् होता है। सुंदर स्थल में सुंदर व्यक्तियों के सत्य-प्रेम आदि अंतरंग सौंदर्य के मेल से जिस निराले सौंदर्य की सृष्टि होती है, वह सर्वथा अतुलनीय है। शृंगार-रसाचार्यों के मत से तो सृष्टि-सृजनकारी रति-भाव के कारण ही सुधांशु अपने रूप-लावण्य की परा काष्ठा पर आकर समुद्र का हृदय डावाँ-डोल कर देता है। बाल-सूर्य की कोमल किरणें कमलों का द्वार खोल देती हैं। कोकिला की कूक में वसुधा का प्रभाव भरा शृंगार परिलक्षित होता है। सच तो यह है कि शृंगार और सौंदर्य का अविच्छिन्न संबंध है। प्रकृति की सुंदरता की उपासना शृंगार में ही होती है। सुंदर वन, सुंदर उपवन, सुंदर मंदिर, सुंदर वस्त्र, सुंदर आभूषण, सुंदर वेश-भूषा, सुंदर सामग्री, सुंदर संगीत और वह सब जो 'शिव सुंदर' है, उन सबका वर्णन शृंगार में ही पूर्णतया होता है। इसी से आद्य

साहित्य-संगीताचार्य भगवान् भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में यह आदेश दिया है—"यत्किञ्चिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वल वा दर्शनीय वा तत्सर्वं शृङ्गारेणोपमीयते।"

हिंदी के अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों ने षट्ऋतु-वर्णन पर पृथक् प्रबंध लिखे हैं, उनमे प्राकृतिक वर्णनों की मनोहरता और काव्य-कला-उत्कर्ष, दोनो ही दर्शनीय हैं। कविवर श्रीबिहारीलालजी ने भी अपने गागर में भरे सागर में—सतसई मे—षट्ऋतुओं का सर्वांगपूर्ण और सुंदर वर्णन किया है। यह कितना श्रेष्ठ है, कितना मनोहर है, एव इसमें प्राकृतिक वर्णनों का कैसा चरम उत्कर्ष है, इसे मर्मज्ञ देखें। हमारे अनेक ज्ञान लवदुर्विदग्ध सज्जनों को बिहारी-सतसई में प्राकृतिक वर्णनो का अभाव दिखाई देता है। इनका ध्यान हम Imperial Gazetter of India के निम्न-लिखित मत की ओर आकृष्ट करते हैं—

"He is particularly happy in his description of natural phenomena, such as the scent-laden breeze of an Indian Glooming, the way-worn pilgrim from the Sandal South, a dust, not from the weary road, but from his pollen quest, brow-headed with rose-dew for sweat, and lingering 'neath the trees, resting himself, and inviting others to repose" (Vol II p 423)

इस पर अधिक न कहकर मैं पाठकों के सम्मुख बिहारीलालजी का ऋतु-वर्णन उपस्थित करता हूँ—

वसंत-वर्णन

छकि रसाल-सौरभ सने मधुर माधवी गंध,
ठौर-ठौर झौंरत झँपत, भौंर-झौंर मधु-अंध।
(बिहारी-सतसई)

रसाल (आम्र) की सौरभ से सने * माधवी-गंध की मधुरता से छककर भ्रमरों के झुंड जो मधु से अंधे हो रहे हैं—उन्मत्त हो रहे हैं—ठौर-ठौर 'झौंरते' हैं, और आनंद-विह्वल हो 'झँरते' हैं। इसमें वासंती पुष्प-वृद्धि एवं पुष्पों के पराग के साथ-साथ स्थान-स्थान पर भ्रमरों की गुंजार बड़ी सुहावनी कथित की गई है। भ्रमरों की अवस्था का भी सुंदर वर्णन है। फिर भाषा कितनी नियंत्रित और अर्थ-गांभीर्य-युक्त है। वीप्सा और छेकानुप्रास का तो अपूर्व संघट्टन है।

इस दोहे की शब्द-समृद्धि कई हिंदी-कवियों ने अपनाई है। कवि किशोर लिखते हैं—

आमन के मौंर लागे, अंकुरन मौर लागे,
भौंर लागे झँपन, बसंत आयो अब री।

कोई दिवाकर कवि लिखते हैं—

ब्रज में बसंत, बाग-बाग मे बसंत,
बन-बेलिन बसंत सरसंत आमै बौर में;
भनत 'दिवाकर' समीर नीर तीर-तीर,
बनिता बसंत करि दीन्हीं और तौर में।
ठौर-ठौर कोकिला को बोल अनमोल भयो,
बगरो बसंत है मलिंदन के झौंर में,
और-और लौर-लौर घर-घर जहाँ-तहाँ,
कियो है बसंत सलसंत सब ठौर में।

---

* माधवी-गंध से वसंत-काल के विकसित कुसुमों की सुगंधि से तात्पर्य है। महाराज कालिदास ने महाकाव्य रघुवंश में राम-लक्ष्मण को 'मधुमाधवाविव' लिखा है। मल्लिनाथजी ने मधु-माधव की टीका में चैत्र-वैशाख लिखा है। प्राचीन कवि मधु-माधव मास को वसंत-ऋतु मानते हैं। कालिदास आदि के समान बिहारीलालजी भी मधु-माधव मास-द्वय को ही वसंत मानते हैं।

कवि देव ने लिखा है—

माधुरी भौंरनि आम के बौरनि
भौंरन के गन मंत्र-से बाँचैं।

पर इनमें से एक भी बिहारीलालजी के वर्णन को नहीं पहुँच सका। 'ठौर-ठौर भौंरत झँपत भौर-भौंर मधु-अंध' में जो बात है जो काव्य है, जो शब्द-समृद्धि है, उसे देव आदि नहीं ला सके नहीं ला सके।

दिसि-दिसि कुसुमित देखिए उपवन-विपिन-समाज,
मनहुँ वियोगिन को कियो सर-पिंजर ऋतु-राज।
(बिहारी-सतसई)

दिशा-दिशा में हर जगह कुसुमित उपवनों और वनों को देखने से ऐसा जान पड़ता है, मानो ऋतु-राज वसत ने अभागे वियोगियों के प्राण लेने को सर-पिंजर बनाया हो।

'सर-पिंजर' तीरों के उस पिंजड़े को कहते हैं, जिसमें व्याधा पक्षियों को फँसाकर उनके प्राण हरण करता है। इस दोहे में महाकवि बिहारीलालजी ने सिद्धास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा का किस विदग्धता से वर्णन किया है, यह देखिए। प्रत्येक दिशा में कुसुमित उपवनों और वनों को 'सर-पिंजर,' ऋतु-राज वसत को व्याधा और वियोगियों को विहग बनाकर बिहारीलालजी ने प्रशसनीय उत्प्रेक्षा कही है।

फिरि घर को नूतन पथिक चले चकित चित भागि,
फूल्यो देखि पलास-वन, समुहे समुझि दवागि।
(बिहारी-सतसई)

वन में फूले हुए पलाश को देखकर और उसे (लाल रग का होने के कारण) दावाग्नि समझकर नवीन पथिक (क्योंकि नवीन पथिक ही अनुभव-शून्य होने के कारण अपनी-अपनी प्राणप्रिया को छोड़कर यात्रा करने निकले थे। उन्हें इतना विदित नहीं था कि

कहीं कोई वसंत-ऋतु में भी अपनी प्रणयिनी को छोड़कर यात्रा करने निकलता है।) चकित चित्त से घर की ओर फिरकर (मुड़कर) भाग चले।

इस वर्णन में पथिक को विकसित पलाश-पुष्प देखने से कामोद्दीपन हुआ है, और प्रियतमा का वियोग उसे असह्य हो उठा है। उसके हृदय में वियोगानल से दाह होने लगी है। वह अनुभव-शून्य नवीन पथिक उस दाह का कारण पलाश-पुष्पों को जानता है, अतएव विकसित पलाश को दावाग्नि समझता है।

कितना समीचीन वर्णन है, इसे सहृदय देखें। अलंकारवाले इसे भले ही 'भ्रांति' कहें, पर प्रेमी जन इसे बिलकुल स्वाभाविक कहेंगे।

इस भाव पर अनेक कवियों ने रचना की है। दो-चार की बानगी देख लीजिए।

बिहारीलालजी के भावों को अपनाकर नवीन छंद गढ़नेवाले देव कवि लिखते हैं—

बैरी बसंत के आवन में बन बीच दवानल-सी प्रजरैगी;
फूले पलास के डारन की डरि बेर डरावन डीठि परैगी।

कहना न होगा कि देव का यह वर्णन बिहारीलालजी के दोहे के सम्मुख बिलकुल निष्प्रभ है।

नरेश कवि कहते हैं—

हाय! न कोऊ तलास करै, ये पलासन कौने दवाँर लगाई?

पलाश के दवाँरवाली बात नरेश ने भी कही है, पर बिहारीलालजी का वर्णन तो निराला ही है।

इसी भाव पर भुवनेश कहते हैं—

बीस बिसे बन फूले पलासन देखि अँगारन सों दहि जायगी।

इस वर्णन में भी बात तो वही है, पर बिहारीलालजी की वह काव्य-कुशलता और वर्णन की वह उत्कृष्टता इसमें भी नहीं है।

कवि मंसाराम ने इसी भाव पर एक उत्तम छंद कहा है—

प्यारे के वियोग आली, उठी आगि बृंदाबन,
जरती सदेह कुंजैं सुंदरी महाँ-महाँ;
बौरे कचनार, आँच उठति पलासन तें,
कुसुम करील दीठि परति जहाँ-जहाँ।
'मंसाराम' तिन्हें भेटि आवति समीर बीर,
तजो जात तन तातो लागति तहाँ-तहाँ;
मृग अधमारे, बिलुलात हैं भँवर कारे,
कोयल हू कोप लै पुकारती कहाँ-कहाँ।"

मंसाराम का यह वर्णन देव और नरेश के वर्णनों से अच्छा होने पर भी बिहारीलालजी के वर्णन को कहाँ पहुँचता। बिहारीलालजी के वर्णन में बात ही कुछ और है। फूले पलाश पर सेनापति कवि की उक्ति भी दर्शनीय है। लिखते हैं—

'सेनापति' माधव-महीना में पलास तरु
देखि-देखि भाव कबिता के मन आए हैं,
आधे अनसुलगि सुलगि रहे आधे मानो,
बिरही दहन काम कैला परचाए हैं।

कविवर सेनापतिजी की उक्ति बहुत ही अच्छी है। खिले और अनखिले पलाश-पुष्पों को आधे सुलगे और आधे अनसुलगे कोयला बनाकर विरही को काम जलाना चाहता है। कहना विदग्धता से खाली नहीं है। उत्प्रेक्षा अच्छी है, भाव सुंदर है। देव आदि कवियों से सेनापति की रचना उत्कृष्ट होते हुए भी बिहारीलालजी के दोहे की भावोत्कृष्टता को नहीं पहुँचता। बिहारीलालजी के—

फिरि घर को नूतन पथिक चले चकित चित भागि,
फूल्यो देखि पलास-बन, समुहें समुझि दवागि।

में जो बात है, जो काव्य है, वह अनुपम है।

रनित भृंग घंटावली, झरत दान मधु-नीर;
मंद-मंद आवत चल्यो कुंजर कुंज समीर।

महाकवि विहारीलालजी का यह दोहा काव्य-जगत् में खूब प्रसिद्धि पा चुका है। इसके समान सुदर और पवित्र समअभेद रूपक हिंदी-संसार में कठिनता से मिलेगा। माधुर्य और प्रसाद-गुण के विषय में जो कुछ कहा जाय, सो थोड़ा है। इसका अर्थ मैं काव्य-कला-कुशलतावाले अध्याय में दे चुका हूँ। वासती वायु का ऐसा हृदय-हारी वर्णन ढूँढ़े भी न मिलेगा।

इसी दोहे के भाव को अपनाते हुए सैयद गुलामनवी 'रसलीन' कहते हैं—

सरवर माहिं अन्हाइ अरु बाग-बाग बिरमाइ;
मंद - मंद आवत पवन राजहंस के भाइ।

'रसलीन' ने विहारीलालजी के समीर-कुंजर को देखकर पवन को राजहस बनाना चाहा, पर इनके वर्णन में न तो विहारीलालजी के दोहे के सदृश मनोहर भाषा है, न वह काव्य है, न वह भाषा का समुचित नियन्त्रण। और, इतने पर भी 'रसलीन' से सीधा-सादा रूपक भी तो न बँध सका। 'राजहस के भाइ' कहकर रूपक की छटा नष्ट-प्राय कर दी।

इसी प्रकार का भाव किसी कवि ने अपने निम्न-लिखित कवित्त में व्यक्त किया है—

लसत तमाल तरु असित बिसाल अंग,
चंचरीक घटावलि सबद सुनायो है;
पुष्प मकरंदन के झरत अनत पद,
सीतल पवन मद गवन सुहायो है।
नाना खग मीर कीर कोकिल महूत लोग,
लतिका-जँजीर-जाल पाँयन बँधायो है;

मदन महीपति को दीरघ दिमागदार
आज ऋतु-राज गजराज बनि आयो है।

यद्यपि इसके और दोहे के भाव में अंतर है, परंतु दोहे की भाव-चोरी इस छंद में स्पष्ट झलक रही है। यह होते हुए भी छंद अच्छा बन पड़ा है। ऋतु-राज को गजराज बनाकर कवि ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। पर इतना तो विवश होकर कहना ही पड़ता है कि यह भी बिहारीलालजी के दोहे को नहीं पाता। वह वर्णन, वह भाषा, वह माधुर्य कुछ और ही है।

चुँवत स्वेद मकरंद-कन, तरु-तरु तर बिरमाय,
आवत दच्छिन-देस तें थक्यो बटोही बाय।

इसकी विवेचना मैं काव्य-कला-कुशलतावाले अध्याय में दिखला आया हूँ। यहाँ इतना ही कह देना अलम् होगा कि यह दोहा हिंदी के माथे की बिंदी है।

लगभग इसी प्रकार के भाव पर हरिकेश कवि ने अपना यह निम्न-लिखित छंद बनाया है। लिखा है—

मलय गुलाबी हाथ सुमन-पियाले आले,
चटक गुलाब चोख चाखत बिचारो सो;
कहै 'हरिकेस' मोद चारो ओर छायो जोर,
मधुर अलापै राग ताल कूक भारो सो।
मुनि-मन बसन लथोरे नेह बोरे बलि,
हेर झकझौरे करै कोरैं पिय प्यारो सो,
सुरभी-कलार कुंज-सदन सु छाक्यो बाँक्यो,
मंद-मंद आवत मरुत मतवारो-सो।

हरिकेशजी का यह छंद सचमुच बड़ा अच्छा है। इसमें रूपक भी बड़ा सुहावना है। वर्णन में भी एक निराला बाँकपन आ गया है। "कुंज के सदन में सुरभि के कलार से लेकर मलय के गुलाबी हाथों

से सुमन के आले प्याले में मरुत को मकरंद-मद्य पीकर मतवाला बनना, फिर मधुर अलाप एव ताल-स्वर-युक्त राग का मुजरा सुनना, पीछे मतवालों के समान मद-मद डोलते हुए आना बड़ा ही मनोरम वर्णन है। हरिकेशजी की यह प्रशसनीय रचना यथार्थ में सुकवि की प्रवीण रचना है।

लपटो पुहुप-पराग-पट, सनी स्वेद-मकरंद,
आवति नारि नवोढ़ लौं सुखद वायु गति मद।

पुष्पों के पराग-रूप सुवस्त्रों से आवृत नवोढा के समान वायु मंद गति से आ रही है। जान पड़ता है, नवोढा के समान अल्हड़पन से चलने के कारण स्वेद-बिंदु-रूप मे मकरंद झर रहा है। मकरद-बिंदु का झरना स्वेद के बिंदु हैं। वायु के समान सुकुमार नवोढा के चलने मे उसका अग मकरद-रूप स्वेद से भीगा हुआ है। तभी तो उसमें भीगी सुगध और शीतलता है। इस दोहे में नवोढा की उपमा देते हुए शीतल, मद, सुगधित वायु का वर्णन कवि ने कितनी चतुरता से किया है, इसे मर्मज्ञ देखें। छेक और वृत्ति अनुप्रास भाषा की शोभा बढ़ा रहे हैं। भाषा का समुचित नियत्रण भी मनोहर है। यहाँ यह देखिए कि रसिक बिहारीलालजी ने वायु को भी कैसी सुकुमार नवोढा के समान कहा है, जो मंद-मद चलने मे भी मकरद-स्वेद से सन जाती है। सपूर्ण दोहे मे अभेद रूपक से परिपुष्ट पूर्णोपमालकार की छटा है। कैसे मजे मे थोड़े मे कह गए हैं—

"पुष्प-पराग-पट परिधान किए, स्वेद-मकरद में सनी वायु नवोढ़ा नारी के समान सुखद, मंद गति से आ रही है।"

इसी दोहे के भाव को लेकर सैयद गुलामनबी 'रसलीन' कहते हैं—

सुमन-सुगंधन सों सनी, मंद-मंद चलि आय,
प्रौढ़ा-लौं मन को हरति हिय लगि बरसा-बाय।

दोहा वैसे तो ठीक है, पर बिहारीलालजी के दोहे की तुलना में रक्खा ही नहीं जा सकता। वह बात ही कुछ और है।

वृहद्‌व्यंग्यार्थ-कौमुदी के रचयिता कविवर गोकुल ने वासती वायु को नटी के रूप मे वर्णन करते हुए निम्न-लिखित सुंदर छद कहा है—

बागन मे चारु चटकाहट गुलाबन की,
ताल देत तालिया तुलै न तुक तंत की;
गुजत मलिंद-बृंद तान-सी उपज पुज,
कलरव गान कोकिलान किलकंत की।
'गोकुल' अनेक फूल फूले हैं रँगे दुकूल,
झूमै आम-बौर हाव-भाव रसवंत की,
लहरै तरुन तरु, छहरै सुगंध मंद,
नाचत नटी-सी आवै वैहर वसंत की।

कविवर गोकुल का यह छद बहुत ही बढिया है। बागो मे जो गुलाब की कलियो की चटकाहट है, वही 'तालिया' तान दे रहा है। मलिंद-वृ द की गुजार तान की उपट है, कोकिलाओ की कूक कलरव गान है। अनेक रग के फूले हुए फूल रगीन वस्त्र हैं, आम्र के बौर का झूमना ही रसीले हाव-भाव हैं। नवयुवक-रूपी तरुण तरुओ को हर्ष से लहराती हुई, प्रफुल्लित करती हुई, मद सुगंध छहराती हुई यह वसत की वायु नटी के समान नाचती-सी आ रही है।

कितना उत्कृष्ट रूपक है। इस छद की भाषा भी प्रौढ और अनुप्रास-युक्त है। यद्यपि इसमें बिहारीलालजी के दोहे के समान प्रसाद-गुण नहीं है, और न वैसा हृदयहारी भाव है और न वैसी नाजुक-खयाली है, फिर भी इसमे रूपक से परिपुष्ट पूर्णोपमालकार और अनुप्रास की छटा बिहारीलालजी के दोहे के समान ही है। साथ-साथ माधुर्य और प्रसाद-गुण भी अच्छा है। पाठक देखें, देव कवि का समीर के वर्णनवाला निम्न-लिखित छंद इस छद के सम्मुख कितना निष्प्रभ है—

अरुन उदोत सकरुन ह्वै अरुन-नैन
तरुनी तरुन तन तूमत फिरत हैं;

द्रुमन-द्रुमन दल दूमत मधुप 'देव',
सुमन-सुमन मुख चूमत फिरत है।
(देव और विहारी, पृष्ठ ११५)

इसमें दक्षिण नायक का वर्णन समीर के साथ-साथ करना यद्यपि अच्छा है, परंतु फिर भी शब्दों के प्रयोग शोभनीय नहीं। चूमत में अनुप्रास जोड़ने के लिये तूमत और दूमत लिखना प्रसाद-गुण की हत्या तो है ही, साथ-साथ भाषा की भ्रष्टता भी है। इसे विहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहे से मिलाकर पढ़िए, और कहिए कि क्या देव विहारीलालजी की समता के हो सकते हैं ?

रह्यो रुक्यो क्यों हू सुचलि आधिक राति पधार ;
हरत ताप सब द्यौस को उर लगि यार बयार।

दिवाकर कवि विहारीलालजी के दोहे के भाव और शब्द-समृद्धि का अपहरण करते हुए लिखते हैं –

सुमन रसाल-मकरंद लपटी है, नीकी
दच्छिन से आइ सुभ लागति सरीर में ,
मंद-मंद चाल में मराल को लजाति जाति,
वपु ह्वै पवित्रता नहाए गंग-नीर में।
सुखद सुहावन लुभावन मुनीस-मन,
नवोढ़ा-सी नारि गति चलै अति धीर में ;
भनत 'दिवाकर' सुधा सों निसि सनो प्रात,
जानी क्या बहार है बसंत की समीर में।

दिवाकर ने विहारीलालजी के दोहे के भाव और शब्द-समृद्धि पर प्रगाढ़ आसक्ति प्रदर्शित की है।

विहारी	दिवाकर
(१) 'गति मंद'	(१) 'मंद-मंद चाल से
(२) लपटी पुहुप-पराग-पट	(२) मकरंद-लपटिकर

(३) नारि नवोढ-लौं (३) नवोढ़ा-सी नारि
(४) सुखद (४) सुखद

इसी को प्रबंधहरण भी कह सकते हैं।

फाग-वर्णन

इस प्रकार बासंती वायु का वर्णन कर सूक्ष्मदर्शी बिहारीलालजी ने वसंतांतर्गत होली (फाग) का उत्कृष्ट वर्णन किया है। देखिए, नायिका किस प्रकार होली खेल रही है—

पीठि दिए ही नेक मुरि, कर घूँघट-पट टारि,
भरि गुलाल की मूठि तिय गई मूठि-सी मारि।
(बिहारी-सतसई)

काव्य-मर्मज्ञ भावुक देखें कि बिहारीलालजी ने फाग खेलती हुई सुंदरी नायिका का कैसा चित्र खींच दिया है। विषय के अनुकूल शब्द रखकर सोने में सुगंध ला दी है। भाषा का समुचित नियंत्रण और भाषा-भव्यता तथा माधुर्य और प्रसाद-गुण कितने सुहावने हैं। अनुप्रास भी मनोहर हैं। कहते हैं—

"कोई लज्जाशीला सुंदरी नायिका 'पीठि दिए ही' थोड़ा मुड़कर (घूमकर) हाथ से घूँघट को कुछ सरकाकर दूसरे हाथ से गुलाल की मुट्ठी भरकर 'मूठि-सी' मार गई।"

लीला-हाव का ऐसा वर्णन कदाचित् ही कहीं मिलेगा।

बिहारीलालजी के इस दोहे पर भी कई कवियों ने हाथ साफ किया है। इसका भाव चुराकर अपने-अपने छंद बनाए हैं, पर बिहारी-लालजी के वर्णन को नहीं पा सके। कुछ उदाहरण देखिए।

हिंदी-भाषा के सुप्रसिद्ध कवि पद्माकर लिखते हैं—

ये नँदगाँव तें आए यहाँ,
उन आई सुता वह कौन हू ग्वाल की ;

त्यों 'पद्माकर' होत जुरा-जुरी
दोउन फाग रचो इहि ख्याल की।
दीठि चली उनकी इनपै,
इनकी उनपै चली मूठि उताल की;
दीठि-सी दीठि लगी इनके,
उनके लगी मूठि-सी मूठि गुलाल की।

पाठक देखें, कविवर पद्माकरजी ने बिहारीलालजी के दोहे को किस प्रकार अपनाया है। भाव तो ठीक ही पदहरण तक किया है, फिर भी बिहारीलालजी के उस वर्णन को कहाँ पा सकते हैं। बिहारीलालजी के—

पीठि दिए ही नेक मुरि, कर घूँघट-पट टारि।

में जो बात है, उस तक पद्माकरजी पहुँच ही न सके। गुलाल की मूठि मूठि-सी मार गई, या गुलाल की मूठि मूठि-सी लगी में एक ही बात है।

सुप्रसिद्ध कवि गिरिधरदास या गिरिधारनजी बिहारीलालजी के दोहे का भावापहरण करते हुए लिखते हैं—

डारत ही 'गिरिधारन' दीठि अबीरन के कन साथ लुठी है;
मोहन के मन मोहन को भटू मोहनी मूठि-सी तेरी मुठी है।

गिरिधारनजी मोहनी विशेषण भले ही जोड़ दें, पर 'मूठि-सी मुठी' इस बात की सदैव साक्षी देता रहेगा कि उनके छंद की भाव-समृद्धि और यह सुंदर सूक्ति बिहारीलालजी के दोहे से ली गई है। गिरिधारनजी का वर्णन तो पद्माकरजी के वर्णन से ही बहुत नीचा है।

छुटत मुठिन सँग ही छुटी लोक-लाज, कुल-चाल;
लगे दुहुनि इक सँग ही चलचित नैन गुलाल।
दियो जु पिय लखि चखनि में खेलत फाग खियाल;
बाढ़त हू अति पीर सु न काढ़े हू सु गुलाल।
(बिहारी-सतसई)

महाकवि बिहारीलालजी के दोनो दोहे सरल और सुस्पष्ट हैं। पाठक स्वय देखे, इन दोहो में प्रेम का कैसा अच्छा वर्णन है। गुलाल के निकल जाने पर भी प्रेम कम नहीं होता। 'नैन' में गुलाल के साथ-साथ गुपाल भी तो लगे थे। गुलाल निकल गई, तो क्या हुआ, गुपाल तो नहीं निकले।

बिहारीलालजी के इन दोनो दोहों का कतरन लेकर पद्माकरजी ने अपने इस प्रसिद्ध छद की रचना की है। देखिए —

एकै सँग धाए नँदलाल औ' गुलाल दोऊ,
दृगन गए हैं भरि आनँद मढ़ै नहीं;
धोय-धोय हारी 'पदुमाकर' तिहारी सौंहैं,
अब तो उपाय एकौ चित्त पै चढ़ै नहीं।
कहाँ जाऊँ, कासों कहौं, कौन सुनै मेरी पीर,
कोऊ तो निकासौ जासों दरद बढ़ै नहीं;
एरी मेरी बीर, जैसे-तैसे इन आँखिन तै
कढ़िगो अबीर, पै अहीर को कढ़ै नहीं।

पद्माकरजी का यह छद भाषा-काव्य-जगत् मे बहुत प्रसिद्ध है। लोग इसकी भूरि-भूरि प्रशसा करते नहीं अघाते। पर इसमें पद्माकर की करतूत नीचे देखिए—

लगे दुहुनि इक संग ही चलचित नैन गुलाल।
(बिहारी)

एकै सँग धाए नँदलाल औ' गुलाल दोऊ
दृगन गए हैं भरि आनँद मढ़ै नहीं।"
(पद्माकर)

बाढत है अति पीर सुन काढ़े हू सु गुलाल।
(बिहारी)

एरी मेरी वीर, जैसे-तैसे इन आँखिन तैं
कढ़िगो अबीर, पै अहीर को कढ़ै नहीं।
(पद्माकर)

पर इतना तो स्पष्ट ही है कि विहारीलालजी के दोहे की—

छुटत मुठिन सँग ही छुटी लोक-लाज, कुल-चाल।

वाली बात पद्माकर नहीं ला सके।

गिरै कंपि कछु, कछु रहै कर पसीज लपटाइ,
डारत मुठी गुलाल की छुटति झुँठी ह्वै जाइ।
(विहारी-सतसई)

कोई प्रेमिका नायिका अपने प्रियतम के साथ फाग खेलने आई है। वह मुट्ठी में गुलाल भरकर नायक पर फेकना चाहती है, पर उसे नायक-दर्शन से सात्त्विक होता है। अतएव हाथ काँपने से कुछ गुलाल गिर जाता है। जो थोड़ा-सा शेष रह जाता है, वह सात्त्विक होने के कारण स्वेद की उत्पत्ति से हाथ के पसीजने पर हाथ से लपटकर रह जाता है। इस प्रकार नायिका यद्यपि साहस करके गुलाल की मूठि प्रियतम पर फेकती है, पर उसका गुलाल फेकना झूठा हो जाता है। गुलाल प्रियतम तक पहुँचता ही नहीं।

हिंदी-भाषा के आचार्य कविवर रघुनाथ ने भी फाग में सात्त्विक होने का वर्णन किया है। देखिए—

फागु मची वरसाने के बाग में,
पूर रह्यो थल तान-तरंग सों,
गोप-वधू इत ठाढ़ी, गुपाल
उतै 'रघुनाथ' वढ़े सव संग सों।
घूँघट टारि, सखीन की ओट ह्वै
प्यारी चलाई जो प्रेम उमंग सों;

लागी तो मूठि अबीर की आय,
पै प्यारो अन्हाइ गयो उहि रंग सों।

रघुनाथ ने नायक को सात्त्विक होने का वर्णन किया है। नायिका ने मुट्ठी में भरकर नायक पर गुलाल फेंका। नायक गुलाल से सराबोर हो गया। रघुनाथ का छंद भी बिहारीलालजी के दोहे के सम्मुख नहीं ठहरता। बिहारीलालजी के—

पीठि दिए ही नेक मुरि, कर घूँघट-पट टारि,
भरि गुलाल की मूठि तिय गई मूठि-सी मारि।

में जो बात है, जो वर्णन है, वह क्या रघुनाथ के—

घूँघट टारि, सखीन की ओट ह्वै
प्यारी चलाई जो प्रेम उमंग सों;

में स्वप्न में भी है।

संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ कविवर प० अम्बिकादत्त व्यास ने भी फाग में सात्त्विक होने का वर्णन किया है। वह भी देखिए—

आजु की बात कहा कहौं मैं,
मुख सों कछु हू कहो जात न प्यारी,
साध सबै मन की मन ही रही,
ऐसी कछू बिधि बात बिगारी;
'अंबिकादत्त' जू जादू कर्‌यो
जनु मैं अपनी सुधि हाय बिसारी,
देखत ही मनमोहन को मुख
हाथ सों छूटि परी पिचकारी।

अम्बिकादत्तजी कहते हैं कि नायिका ने जैसे ही मनमोहन का मुख देखा, वैसे ही उसे सात्त्विक कंप हुआ, और उसके हाथ से पिचकारी छूट पड़ी। इसका उसे दुःख हुआ, इसीलिये वह अपनी सखी से कहती है कि मनमोहन के साथ फाग खेलने की मेरी साध

मन मे ही रह गई । इसमे सात्त्विक होने का वर्णन कुछ बुरा नही है, पर बिहारीलालजी के समान कवित्व की कमनीयता इनके छद मे कहाँ ? आ ही कैसे सकती है ?

फगुआ-वर्णन

फाग के समय वृज की स्त्रियाँ किसी सम्माननीय पुरुष को पकड़ लेती हैं। उसे उन्हें कुछ ले-देकर अपना पिंड छुड़ाना पड़ता है। इस अवसर पर जो कुछ दिया जाता है, उसे व्रज के लोग 'फगुआ' कहते हैं। बुदेलखड के कई स्थानों मे भी इसका रिवाज है। फगुआ का वर्णन हिंदी के दो-चार कवियों ने ही किया है। बिहारीलालजी ने वसत-ऋतु, वासती वायु, फाग और फगुआ, सबका बड़ा ही मनोहर और क्रमवार वर्णन किया है। लिखते हैं—

ज्यों-ज्यों पट झटकति, हठति, हँसति, नचावति नैन,
त्यों-त्यों निपट उदार हू फगुआ देत बनै न।
(बिहारी-सतसई)

ज्यों-ज्यों कोई सुदरी मोहिनी नायिका नायक के वस्त्र के छोर को पकड़कर झटकती है, फगुआ लेने के लिये हठ करती है, उसके हास्य-पूर्ण वचनो पर हँसती और नेत्रों को नचाती है, त्यों-त्यो उस नायक को उसके हाव-भाव और भ्रू-विलास देखकर बड़ा आनद प्राप्त होता है। अतएव वह बहुत उदार होने पर भी फगुआ नहीं देता। दे भी कैसे ? फगुआ दे देने पर नायिका की सुखद क्रीड़ाओं का अत हो जायगा, और वह रसिक उसकी विलासमयी चेष्टाओं पर ही रीझ रहा है।

धन्य हैं रसिक बिहारीलालजी ! नायिका के हाव-भावादि पर निपट उदार नायक को रिझाकर फगुआ देने मे विलब कराते हुए तुमने जो शृगार-रस का स्रोत बहाया है, उसे रसिक प्रेमी ही जान सकते हैं।

हिंदी के कवियों के दो उत्तम छंद फगुआ-वर्णन के और हैं,

जिन्हें पाठकों के अवलोकनार्थ उद्धृत करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता। वे दोनो ये हैं—

> मधुर-मधुर मुख मुरली बजाय धुनि,
> धाम-धाम धमकि धमारन की कै गयो,
> कहै 'पदमाकर' त्यों अगर-अबीरन की
> करिकै घलाघली, छलाछली चितै गयो।
> को है वह ग्वालिनि गुवालन के संग मैं,
> सु अंग छविवारी रस रंग मैं भिजै गयो,
> छ्वै गयो सनेह-बीज, छ्वै गयो छरा को छोर,
> फगुआ न दै गयो, हमारो मन लै गयो।
>
> (पद्माकर)

पद्माकरजी ने मधुर आनुप्रासिक भाषा में फगुआ [illegible] अच्छा वर्णन किया है। प्रसाद-गुण भी पद्माकरजी [illegible] है। लिखते हैं—

देखिए, कोई सखी अपने साथ श्रीकृष्ण से फाग खेलनेवाली नायिका से कहती है—

> खेलति फाग जो मेरी भटू,
> इनसों बड़े चाव सो बावरी तैं है;
> केसरि के रँग की भरि सुंदरि,
> डारति कामरी पै पिचकैं है।
> त्यो ब्रजचंद्र जू साँवरे गातनि
> नावै सुगंधन की लपटैं है;
> जो मँगुआ दधि-माखन के,
> सो कहो कहँ तैं फगुआ तुहि दैहैं।

"हे सखी, जो तू इन श्रीकृष्ण से बड़े चाव से फाग खेलती है, सो तेरा यह पागलपन है। हे सुंदरी, तू काली कमली पर केशर के रंग की पिचकारियाँ व्यर्थ ही डालती है। साँवरे शरीर पर सुगंधि की लपटों से भरे हुए द्रव्य को डालना भी मुझे उचित नहीं जान पड़ता। यदि तू यह सब इनसे फगुआ लेने की आशा से करती है, तो तेरा यह काम बिलकुल व्यर्थ है, क्योंकि ये कृष्ण, जो दधि और माखन के माँगनेवाले हैं, तुझे फगुआ कहाँ से देंगे?"

इसमें कवि का भाव बड़ा ही मनोरम है। उक्ति भी भक्ति-भाव एवं प्रेम-रस से भरी हुई व्यंग्य-पूर्ण एवं मनोहर है। कथन-शैली में भी बाँकपन है, पर बिहारीलालजी के दोहेवाली बात इसमें भी नहीं है।

अब नायक और नायिका का जमकर होली खेलना भी देख लीजिए।

> रस भिजए दोऊ दुहुन तउ टिक रहे, टरैं न;
> छबि सों छिरकत प्रेम रँग भरि पिचकारी-नैन।
> (बिहारी-सतसई)

"यद्यपि रस (आनंद) से नायक-नायिका दोनो ने दोनो को तर

कर भिगो दिया, तो भी वे 'टिक रहे' उनमें से कोई भी हटता नहीं। 'छवि सों' 'नैन-पिचकारी' में 'प्रेम-रग' भर कर 'छिरकत' हैं।

इस दोहे में पाठक देखें कि नायक और नायिका नेत्र-रूपी पिचकारियों में प्रेम-रूपी रग भर-भरकर किस प्रकार एक दूसरे पर डाल रहे हैं, और फिर भी रस से सराबोर होने पर भी, दोनो मे से एक भी टलता नही। आनद में मग्न तथा रस में सराबोर होना कितना सुहावना है। नेत्रों मे पिचकारी और प्रेम में रग का रूपक बाँधना बड़ा ही विदग्धता-पूर्ण है। प्रेम-रग भाषा-साहित्य में बहुत ही प्रचलित है। प्रचलित शब्दों में ऐसा उत्कृष्ट रूपक बाँधना बिहारीलालजी-सदृश महाकवियों का ही काम है।

जान पड़ता है, महाकवि बिहारीलालजी के इसी दोहे का भावापहरण करके पद्माकरजी ने अपना निम्न-लिखित छद बनाया है। देखिए—

> या अनुराग की फाग लखो,
> जहाँ रागत राग किसोर-किसोरी।
> त्यों 'पद्माकर' घाली घली फिर
> लालहिं लाल गुलाल की झोरी।
> जैसी - की-तैसी रही पिचकी कर,
> काहू न केसर रंग मे बोरी,
> गोरिया के रँग भींजिगो साँवरो,
> साँवरे के रँग भींजिगी गोरी।

बिहारीलालजी के दोहे की अपेक्षा पद्माकरजी की भाषा मनोरम और शब्दालंकार-युक्त है। परंतु भाव, जो काव्य का प्राण है, पद्माकरजी के छद मे वैसा उत्कृष्ट नहीं आया, जैसा बिहारीलालजी के दोहे में है। बिहारीलालजी की अनुराग की फाग सचमुच अनुराग की

फाग है। पद्माकरजी ने अनुराग की फाग में केशर और गुलाल लिखकर अपनी हीनता दिखला दी। बेचारे करें, तो क्या करें ?

सिद्ध सारस्वतीक, अपूर्व-प्रतिभा-सपन्न महाकवि बिहारीलालजी की समता करना हँसी-खेल नहीं है।

ग्रीष्म-वर्णन

अब ग्रीष्म का वर्णन देखिए। ग्रीष्म का वर्णन भी बिहारीलालजी ने बड़ा ही मनोरम और सच्चा किया है। इस दोहे के भाव को भी हिंदी के अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ कविवरों ने अपनाया है। विस्तार-भय से केवल दो-एक उदाहरण ही दूँगा।

> नाहिंन ये पावक प्रबल लुएँ चलति चहुँ पास,
> मानो बिरह बसंत के ग्रीपम लेति उसास।
> (बिहारी-सतसई)

"हे सखी ! यह प्रबल पावक नहीं है, जिसकी आँच असह्य हो रही है। यह तो चारो ओर से लू चल रही है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, मानो ऋतुराज वसत (रूपी नायक) के विरह में ग्रीष्म-ऋतु (रूपिणी प्रोषितपतिका नायिका) जो उसास लेती है—गर्म आहें भरती है—उसी की 'तपन' के कारण यह वायु-मडल गर्म होकर इतना दाहक हो रहा है।"

इस दोहे में हेतूत्प्रेक्षा अलकार मे बिहारीलालजी ने ग्रीष्म-ऋतु को, विरहिणी नायिका और ऋतुराज वसत को नायक बनाकर अपनी विलक्षण प्रतिभा और प्रगाढ पाडित्य का परिचय दिया है। ग्रीष्म की भीषण ज्वाला का भी प्रबल पावक में भ्रात्यापह्नुति का आश्रय लेकर आरोप किया जाना कुछ कम महत्त्व-पूर्ण नहीं है। प्रबल पावक के समान ग्रीष्म की लू का वर्णन करके बिहारीलालजी ने ग्रीष्म की मध्याह्नवायु की रोमाचकारी भीषणता दिखलाई है। इस दोहे के

भाव पर अनेक कवियों ने छंद बनाए हैं, पर विस्तार-भय से उन्हें यहाँ नहीं देता।

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ;
जगत तपोबन-सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ।
(बिहारी-सतसई)

कहते हैं, महाकवि बिहारीलालजी ने किसी चित्रकार के चित्र को देखकर यह दोहा कहा था। साहित्य-संसार में यह खूब ही प्रसिद्ध है। इसके भाव को अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों ने अपनाया है। इर उदाहरण अनेक मिलेंगे।

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन मन माँहँ;
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँहँ।
(बिहारी-सतसई)

कितनी उत्कृष्ट रचना है। जेठ की दुपहरी का कैसा सच्चा और रोमांचकारी वर्णन है। जेठ की 'दुपहरी' (मध्याह्न) को देखकर छाँह भी छाँह चाहती है। ठिकाना है इस भीषण ताप का। भाषा की सुंदर सजावट पर भी एक दृष्टि कीजिए—बैठि, पैठि, सघन, सदन, बन, मन, मन माँह, देखि, दुपहरी, छाँहौं, छाँह में जो भाषा-माधुर्य और शब्द-वैचित्र्य है, उसकी प्रशंसा जितनी की जाय, थोड़ी है। भाषा-सौंदर्य में, ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में भाषा की दृष्टि से, बिहारीलालजी का आसन सबसे ऊँचा है।

कविवर सेनापतिजी, जिनका ऋतु-वर्णन हिंदी-काव्य-जगत् में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, इसी प्रकार का भाव अपने एक छंद में इस प्रकार वर्णन करते हैं—

वृष को तरनि-तेज सहसौ किरनि करि
ज्वालनि के जाल विकराल बरसतु हैं;

तपत धरनि, जग जरत झरनि सीरी,
छाँह को पकरि पंथी पच्छी बिरमत हैं।
'सेनापति' नेक दुपहरी के ढरत होत
घाम को विषम यों न पात खरकतु हैं;
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर को पकरि कौनौ
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवतु है।

सेनापतिजी के छंद की भाषा अनुप्रास-पूर्ण होने पर भी बिहारीलालजी के दोहे की भाषा को नहीं पहुँचती. यह स्पष्ट है। तुकांत भी निकृष्ट रहे जाने योग्य हैं। तुकांत में एक वचन 'है' और बहुवचन 'हैं' का प्रयोग श्लाघ्य नहीं कहा जा सकता। फिर—

'सेनापति' नेक दुपहरी के ढरत होत,
घाम को विषम यों न पात खरकतु हैं।

यह वर्णन अशुद्ध है। 'होत' पूर्वार्ध में न आकर उत्तरार्ध में 'होत घाम को विषम' के साथ में रक्खा जाना चाहिए था, तब प्रबंध-योजना अच्छी कहलाती। 'होत घाम को विषम' भी अपूर्ण है। विषम क्या? यह नहीं लिखा। घाम का विषम क्या होता है? इसके अभाव के कारण न्यून-पद-दोष है। वहाँ विषम विशेषण के साथ 'प्रकोप' आदि विशेष्य का उल्लेख आवश्यक था। 'घाम को विषम' के स्थान में यदि 'घाम की विषमता' का प्रयोग होता, तो वर्णन ठीक हो जाता। 'सहल' का 'सहलौं' भी बेहद तोड़-मरोड़ है। भाषा की तोड़-मरोड़ के साथ-साथ न्यून-पद-दोष और दुष्प्रबंध-दूषण भी सेनापतिजी के छंद के सौंदर्य को नष्ट कर रहे हैं। फिर भाव में भी 'छाँहौ चाहति छाँह'-वाली बात सेनापतिजी नहीं ला सके हैं। वैसे सेनापतिजी के छंद में वृष-राशि-स्थित सूर्य की ताप का अच्छा वर्णन है। उस काल में जीव-जंतुओं की स्थिति का भी सामान्यतः स्वाभाविक चित्रण है।

जल-विहार

ग्रीष्मातर्गत जल-विहार का भी विहारीलालजी ने अच्छा वर्णन किया है। यहाँ मैं दो दोहे उद्धृत करता हूँ। देखिए—

लै चुभकी चलि जाति जित-जित जल-केलि-अधीर,
कीजत-केसर नीर से तित-तित के सर-नीर।
(बिहारी-सतसई)

"सरोवर मे डुबकी लगाकर जल-केलि में अधीर हुई नायिका जहाँ-जहाँ जाती है, वहाँ-वहाँ के उस सरोवर के जल को अपने अग की आभा से वह केशर घुले हुए जल के समान कर देती है।"

नायिका के अग-प्रत्यग की केशर के समान काति है, अतएव उसके अग की आभा से सरोवर का निर्मल जल केशर घुले हुए जल के समान हो जाता है। दोहे की भाषा कैसी सुदर है। शब्द-समृद्धि के बल से बिहारीलालजी ने दोहे में एक निराला चमत्कार, बिना शब्दों को तोडे-मरोडे भाषा के सहज सौंदर्य को अक्षुण्ण रखते हुए, ला दिया है। केसर-नीर और के सर-नीर मे यमक है। जित-जित और तित-तित मे वीप्सालकार की छटा है। तथा लै, चलि, जल और केलि मे वृत्त्यानुप्रास की बहार है। माधुर्य और प्रसाद-गुण पर तो बिहारीलालजी का एकाधिपत्य जान पडता है।

कोई सखी किसी दूसरी सखी से कहती है—

छिरकौ नाह नवोढ़ दृग कर-पिचकी जल जोर,
रोचन-रँग-लाली भई विय तिय लोचन-कोर।
(बिहारी-सतसई)

"पति ने हाथ की पिचकारी से इस नवोढा पत्नी के नेत्रो मे जल छिडका। पर उस दूसरी स्त्री अर्थात् सपत्नी के नेत्रो के कोए मे (सौतिया डाह के कारण ईषत् क्रोध से) गोरोचन के रग की लाली हो गई।"

यह दोहा भी काव्य-कला-कुशलता का उत्तम उदाहरण है। नवोढा के नेत्रो मे जल छिड़का, पर लाल हुए सपत्नी के नेत्रों के कोए, अतएव असगति अलकार है। नाह, नवोढ, जल, जोर, रोचन, रग, लोचन, लाली एव तिय और तिय में भाषा-माधुर्य और छेकानुप्रास की अद्भुत छटा है। लोचन की लाली को गोरोचन की लालिमा कहना कवि के व्यापक ज्ञान का साक्षी है।

विस्तार-भय से मै ग्रीष्म-वर्णन को यहीं समाप्त करता हूँ।

पावस-वर्णन

बिहारीलालजी ने अन्य हिंदी-कवियों के समान पावस-ऋतु का वर्णन कुछ विस्तार से कहा है। पर हम यहाँ दो-चार दोहे उदाहरण-स्वरूप उद्धृत करते हैं। पावस का भी कैसा सागोपाग वर्णन कविवर बिहारीलालजी ने किया है, यह दर्शनीय है।

> धुरवा होंहिं न अलि, उठै धुआँ धरनि चहुँ कोद,
> जारत आवत जगत को पावस प्रथम प्रमोद।
>
> (बिहारी-सतसई)

कोई विरहिणी नायिका पावस को देखकर अपनी सखी से कहती है—

"रे सखी, ये धुरवा नहीं हैं। पृथ्वी मे चारो ओर से धुआँ उठ रहा है। (यहाँ धुएँ के रँग के धुरवाओं को धूम्र बनाना बड़ा ही सगत है।) ऐसा जान पड़ता है कि पावस-ऋतु का प्रथम मेघ-मडल जगत् को जलाता हुआ आ रहा है।'

इस दोहे में कवि की उक्ति बड़ी ही अनूठी है। आर्द्रता प्रदान करनेवाला मेघ-मडल विरहिणी नायिका को प्रियतम के विरह में दाहक जान पड़ता है। धुरवाओं को वह धूम्र समझती है। इसमें एक बात बहुत ही सुदर है। प्रकृति का अवलोकन और प्राकृतिक वर्णन अनूठा है। चारो ओर धुआँ और मेघ-मडल का दृश्य बरसात में

बड़ा ही सुहावना होता है। विरहिणी भले ही उसे दाहक समझे। दूसरे पक्ष में पावस का प्रथम मेघ-मडल ससार को दग्ध करता है, कहना भी बिलकुल ठीक है। निदाघ की दीर्घ दाघ से तप्त धरातल पर आषाढ-मास के प्रथम मेघ जब घिरते हैं, तब असह्य उष्णता होती है। गर्मी इतनी अधिक बढ जाती है कि निदाघ की दाघ भी उसके समक्ष कुछ भी नही जान पड़ती। तप्त पृथ्वी में से प्रथम वर्षा होने पर 'भभूकें' निकलती हैं। अतएव बिहारीलालजी का 'जारत आवत जगत को पावस प्रथम पयोद' कहना बिलकुल ठीक है। इसमें प्रकृति का अच्छा अवलोकन है।

> कौन सुने ? कासों कहौ ? सुरत बिसारी नाह;
> बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह।
>
> (बिहारी-सतसई)

नायिका विरह से व्याकुल हो रही थी। वर्षा-ऋतु के बादलो की ओर देखने से उसकी वेदना और भी बढ गई। वह कहती है—

"कौन सुनता है ? किससे कहूँ ? स्वामी ने सुधि भुला दी है। अब ये 'बदराह' 'बदरा' बदाबदी (होडा-होडी) प्राण लेते हैं।"

इस दोहे में भाषा के समुचित नियत्रण, भाषा-माधुर्य, शब्दालंकार और स्वाभाविकोक्ति पर ध्यान दीजिए। जो बात एक कवित्त मे कठिनाई से कही जा सकती है, उसी को एक छोटे-से दोहे में और उसे भी इतने अनूठे ढग से कहना बिहारीलालजी का ही काम है। इस दोहे की द्वितीय पक्ति की भाषा कई कवियो ने अपनाई है।

सुप्रसिद्ध कवि लाल कहते हैं—

> बेदरद बैरी बद बदरा बड़े ही बुरे,
> नितप्रति तासों प्रान कैसे के बचाय हैं।

हनुमंत कवि कहते हैं—

सावन मोहिं सुहात नहीं,
बदरा बदराह लगे जुरि धावन।

एक और कवि महाशय लिखते हैं—

काह कहौं सखि, नाह विना
अब ये बदरा बदराह बतावत।

इस प्रकार और भी अनेकों ने किया है। बिहारीलालजी के इसी दोहे के भाव पर सुप्रसिद्ध शृंगारी कविवर बोधा ने अपना यह छंद बनाया है—

ऋतु-पावस स्याम घटा उनई,
लखिकैं मन धीर धिरातो नहीं;
धुनि दादुर-मोर-पपीहन की
सुनिकैं छिन चित्त थिरातो नहीं।
जब ते बिछुरे कवि 'बोधा' हितू,
तब तें उर-दाह बुझातो नहीं;
हम कौन तें पीर कहैं जिय की,
दिलदार तो कोऊ दिखातो नहीं।

इसमें संदेह नहीं कि बोधा कवि की इस रचना में सहृदयता और भावुकता के साथ-साथ भाषा का स्वाभाविक प्रवाह बड़ा ही मनोरम है। कुछ हृदय पर आघात करता है, पर फिर भी 'कौन सुने ? कासों कहौं ?' में जो करुणा का भाव है, जो नैराश्य है, जो हृदय-तल को हिला देनेवाली बात है, वह 'हम कौन तें पीर कहैं जिय की, दिलदार तो कोऊ दिखातो नहीं' में कहाँ है ?

बिरह-जरी लखि जीगननि, कह्यो सु उहि कै बार,
अरी आव भगि भीतरैं, बरसत आज अँगार।
(बिहारी-सतसई)

"विरह-दग्ध कामिनी ने जुगनुओं को देखकर कितनी बार अपनी सखियों से कहा कि अरी सहेलियो, आज अंगार बरसते हैं, उठकर भीतर आ जाओ।"

जुगनुओं की चमक में अंगारों की वर्षा का आरोप खूबी से किया गया है। बिहारीलालजी के इसी भाव पर कोई करनेश या परमेश कवि कहते हैं—

कहैं 'करनेश' (परमेस) चमकति जुगनु नचाय,
मेरे मन आई ऐसी उक्ति अनुमान ते;
बिरही दुखारे तिन पर कूर दई मारे,
मानो मेघ बरसत अंगारे आसमान ते।

इन्होंने तो गजब ढा दिया। दूसरे की उक्ति को कितने गर्व से अपना अनुमान कह रहे हैं।

हिंडोला-वर्णन

हेरि हिंडोरे गगन तैं परी परी-सी टूटि,
धरी धाय पिय बीच हीं, करी खरी रस-लूटि।

(बिहारी-सतसई)

कोई अप्सरा के समान सौंदर्यवती, नवयौवना नायिका हिंडोले पर आनद से झूल रही थी कि अकस्मात् उसका पति आ पहुँचा। पति को देखकर उस सुदरी को सात्त्विक भाव हुआ, और सात्त्विक मे कंप होने से वह हिंडोले से गिर पडी। उस समय की अवस्था-विशेष का वर्णन करते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

"नायिका को हिंडोले-रूपी गगन से परी के समान धरा-मडल पर नीचे आते हुए देखकर पति ने दौडकर उसे बीच मे ही 'धरी' (पकडी) और 'खरी रस-लूटि करी'।"

इस दोहे मे हिंडोले को गगन और नायिका को परी बनाकर

बिहारीलालजी ने काव्य के साँचे में जिस अनूठे ढंग से उतारा है, वह सर्वथा स्तुत्य है। 'परी परी-सी टूटि' की उपमा और 'हिंडोरे-गगन' का रूपक दोनो ही चमत्कार-पूर्ण हैं।

इसी भाव पर, इसी दोहे के पदहरण करके, कवि तोष लिखते हैं -

> रावटी तिमहले की बैठी छबिवारी बाल,
> देखति तमासो गुड़ि आलिनि लगायो है,
> परि गयो नजर हरिन-नैनी जू के हरि,
> हरि हू ने तिरछि कटाछहि चलायो है।
> मैन सरवरी तरफर गिरी परी ऐसी,
> बीच हरि धरी खरी लूटि रस पायो है,
> सास-नंद धाइ आईं पायँ गहैं कहैं 'तोष'
> आज ब्रजराज घर ऊजरो बसायो है।

इतना तो स्पष्ट ही है कि बिहारीलालजी की भाषा तोष के छंद में बहुत ही ढीली-ढाली हो गई है।

बिहारी	तोष
(१) परी परी-सी टूटि	(१) गिरी परी ऐसी
(२) धरी धाइ पिय बीच हीं करी खरी रस-लूटि।	(२) बीच हरि धरी खरी लूटि रस पायो है।

तोष के छंद में 'रावटी तिमहले की' लिखना अप्रयुक्त जान पड़ता है। 'रावटी' छोटे-छोटे डेरों को कहते हैं, जिनमें तिमंजिला होता ही नहीं। फिर बिहारीलालजी ने हिंडोरे को 'गगन' लिखकर तदनंतर नायिका को उस पर से 'परी-परी-सी टूटि' लिखा था। तोष ने 'गगन' का कहीं भी उल्लेख न करके 'गिरी परी ऐसी' लिख मारा। यह न्यून-पद-दोष है। नायिका को तिमंज़िले से गिराकर भी तोष ने अच्छा काम नहीं किया। फिर नायिका के गिरने पर नायक का उसे

बीच में घर लेना और खरी रस-लूटि करना एवं उसी समय वहीं उस नायिका की सास-ननंद आदि का घबराहट में दौड़ी आना, और नायक से कहना कि तुमने आज उजड़ते हुए घर को बचा लिया है, आदि अनौचित्य-पूर्ण वर्णन है । इसमें शृंगार में भयानक का इस तरह स्थायी होना साहित्यिक दृष्टि से कवि के अज्ञान का सूचक है । तोष का छद बिहारीलालजी के दोहे के सम्मुख यों ही है, ज्यों हीरा आगे कॉच ।

शरद्-वर्णन

घन-घेरो छुटिगो, हरषि चली चहूँ दिसि राह ,
कियो सुचैनों आय जग, सरद-सूर नरनाह ।
(बिहारी-सतसई)

"घन (रूपी कटक) का घेरा छूट गया । हर्ष हुआ । चारो दिशाओं मे लोग प्रसन्नता से यात्रा करने लगे । शरद्-रूपी शूर नृपति ने आकर ससार को सुख-शातिमय कर दिया ।"

इस दोहे मे बादलों के घेरे को या मेघ-मडल को कटक का घेरा बनाकर ससार-रूपी नगर को चारो ओर से घिरवाना फिर शरद्-रूपी शूर नृपति के आगमन से उस मेघ-मंडल रूपी कटक का हट जाना एव सासारिक लोगों का वर्षा के अनतर मेघ-मंडल के कटक के घेरे से मुक्त होकर चारो दिशाओं मे व्यापारादि के लिये जाना, (जैसा कि प्राचीन काल मे भारतवर्ष मे होता था) आदि सच्चे और समीचीन वर्णन हैं । शरद्-ऋतु का चित्र, रूपक की छटा और सरद्-सूर, घन-घेरा, नरनाह आदि की सुदर योजना, सभी प्रशसनीय हैं ।

अरुन सरोरुह कर-चरन, दृग खंजन, मुख चंद :
समै आव सुंदरि सरद काहि न करहि अनंद ।
(बिहारी-सतसई)

"अरुण रंग के सरोज इसके हाथ और पैर हैं। (कर-कंज और पाद-पद्म भाषा-साहित्य में प्रसिद्ध हैं ही) खंजन इसके नेत्र हैं। शारदीय पूर्णचंद्र इसका मुख है। यह शरद्-रूपिणी सुंदरी समय पर आकर किसे आनंदित नहीं करती?"

इस दोहे में शरद्-सुंदरी का रूपक अच्छा है। साथ-साथ शरद्-ऋतु में आनंद देनेवाले चंद्रमा, खंजन और कमल का वर्णन भी कवि के प्रकृति-पर्यवेक्षण की साक्षी देता है। भाषा-माधुर्य तो अनूठा है ही। 'समै आव' कहकर कवि ने अपनी रसिकता का भी परिचय दिया है।

कई लोग यह आक्षेप करते हैं कि बिहारीलालजी ने यह दोहा निम्न-लिखित सुंदर श्लोक को देखकर बनाया है—

समुल्लसित्पङ्कजलोचनेन विनोदयन्ती तरुणानशेषान्;
शुद्धाम्बरागुप्तपयोधरश्री: शरन्नवोढेव समाजगाम।

"उल्लसित-पद्म-पलाश नेत्रा नवोढा-के समान शरद् शुद्धाम्बर ने पयोधरों की शोभा को छिपाए सर्व तरुण युवकों को आनंदित करती हुई आई।"

मैंने श्लोक को जैसा-का-तैसा हिंदी में लिख दिया है। संस्कृतज्ञ श्लोक से और भाषा जाननेवाले हिंदी-रूपांतर से श्लोक के भाव को देखें। फिर एक दृष्टि दोहे के भाव पर करें। दोहे में और श्लोक में बहुत अंतर है। श्लोक में 'शरन्नवोढेव' कहकर कवि ने रूपक को भ्रष्ट कर दिया है, 'पंकजलोचनेन' में रूपक बाँधा, पर शरद् को नवोढ़ा न बना पाया। केवल नवोढ़ा के समान लिखा है। बिहारीलालजी के रूपक में जो बात है, वह अनूठी है। संस्कृत-श्लोक में वैसी काव्य-कला-कुशलता नहीं। संस्कृत-पद्य का 'शुद्धाम्बर' और 'पयोधर' का श्लेष भी उस कमी को पूरा नहीं कर पाता। फिर दोहे में 'खंजन' और 'चंद्र' से शरद् का वर्णन स्पष्ट हो रहा है। संस्कृत-श्लोक में यह बात न होने से बड़ी हीनता है।

तात्पर्य यह कि संस्कृत का श्लोक दोहे से बहुत नीचा है।

महाकवि बिहारीलालजी के उपर्युक्त दोहे का भाव लेकर मुख-चंद्र और खंजन-नेत्रों का वर्णन करते हुए दिनेश कवि ने निम्न-लिखित सुंदर छंद कहा है—

आनँद को कंद लसै मुख-इंदु अरबिंद,
पानिप अमंद तन कीरति की काम की,
नासा-तिल-कुसुम, प्रकास काँस हाँस मानो
सकै को बखानि खानि सोहै बिसराम की।
खंजन 'दिनेस' दृग, त्रिवली - सरित, कुच
कलस उतंग छाई छबि कटि छाम की;
कीजिए कन्हाई मनभाई, आई कुंज-बन
सरद सुहाई कै निकाई उहि बाम की।

दिनेश कवि का यह छंद उत्तम बन पड़ा है। इसमें सुंदरी को शरद् में अच्छे ढंग से दिखलाया है। फिर 'नासा-तिल-कुसुम' एवं 'प्रकास हाँस काँस मानो' कहकर दिनेशजी ने बिहारीलालजी की अपेक्षा शरद् के वर्णन को और भी स्पष्ट कर दिया है। भाषा भी मनोरम और अलंकृत है।

रास-वर्णन

शरद्-ऋतु में कई भाषा-कवियों ने रास का वर्णन किया है। षट्-ऋतु का सांगोपांग वर्णन करनेवाले बिहारीलालजी ने भी शरद् के रास का वर्णन किया है। देखिए, कैसी सुंदर उक्ति है—

उयो सरद-राका-ससी, रमत रसिक रस-रास;
लहाछेह अति गतिन की सबन लखे सब पास।
(बिहारी-सतसई)

रसिक श्रीकृष्ण संपूर्ण गोपिकाओं को 'लहाछेह अति गतिन की' के कारण अपने-अपने निकट लखाई पड़ते हैं, किसी से भी दूर नहीं,

है। प्रेम-प्रतिमा कहीं प्रेमियों से दूर हो सकती है? भाषा में निराला बाँकपन, अनूठा शब्द-विन्यास और अलङ्कारों का आलोक-प्रसाद तथा माधुर्य देखते ही बन पड़ते हैं। दक्षिण नायक का ऐसा वर्णन दर्शनीय पवित्रता से करना प्रत्येक कवि का काम नहीं है।

इसी दोहे के भाव का अपहरण कर पदों तक को तद्वत् लेकर अभिमन्यु कवि कहते हैं—

यमुना के पुलिन उजेरो निसि सरद की,
राका को छपाकर किरन नभ चाल की,
नंद को लडैतो तहाँ गोपिका-समूह लैकैं
रची रास-क्रीड़ा बजै बीना डफ ताल की।
लहालहेउ गतिन की कही ना परत मोपै,
द्वै-द्वै गोपिकान मध्य छबि नँदलाल की,
सोभा अवलोकि 'अभिमन्यु' कवि बोल उठो,

प्रयोग शुष्क वैयाकरण को भी रस-पूरित कर देता है। 'ओक-ओक सब लोक सुख कोक सोक हेमत' को देखकर शब्दालकारों के प्रेमी आनंद-सागर में गोते लगाते हैं। 'त्यों-त्यों बढत बिभावरी ... हेमंत' पर ऋतुकाल के निरीक्षक लट्टू होते हैं। 'ज्यों-ज्यों बढत बिभावरी' के आगे 'त्यों-त्यो बढत अनत, ओक-ओक सब लोक सुख कोक सोक हेमत' पर रसिक काव्य-प्रेमी बलिहार होते हैं। हेमत-ऋतु में रात्रि का बड़ी होना, इससे सयोगी दपतियो को अनत आनद होना तथा चकई-चकवा को, जो रात्रि में बिछुड जाते हैं, अनत शोक होना आदि भी बडे ही समीचीन, सुहावने और स्वाभाविक वर्णन हैं।

मिलि बिहरत, बिछुरत मरत, दंपति अति रस-लीन,
नूतन बिधि हेमंत की जगत जुराफा कीन।
(बिहारी-सतसई)

"जो 'दपति अति रस-लीन' हैं, वे मिलकर विहार करते हैं, और बिछुड़ने से वियोगाग्नि में दग्ध होते हुए मरण-तुल्य कष्ट को प्राप्त होते हैं। हेमत-ऋतु के नूतन विधान को देखो। इसने ससार को (जगत् के लोगों को) जुराफा पक्षी के समान रंग-बिरगा बना डाला है।"

कितनी स्वाभाविक एव अलकृत भाषा में कैसा सुदर वर्णन है, इसे मर्मज्ञ देखें। कविवर के इसी दोहे का भावापहरण कर प्रसिद्ध कवि ग्वाल लिखते हैं—

जोमदार जीवन को जोम को जगैया बड़ो
आयो अब जाड़ो जग करन जुराफा-सो।

कियो सबै जग काम-बस, जीते जिते अजेय,
कुसुमसरहिं सर-धनुस कर अगहन गहन न देय।
(बिहारी-सतसई)

"अगहन (कामोद्दीपक होने के कारण) कामदेव का ऐसा वीर

दास है, जिसने बड़े-बड़े अजेय लोगों को भी जीतकर सब जग को काम (नृपति) के वश में कर दिया है। वह कुसुमशर कामदेव को हाथ में धनुष-बाण धारण नहीं करने देता। जब भृत्य ही ऐसा वीर है कि उसने सब जग को जीतकर, अजेय लोगों पर भी विजय प्राप्त करके उन्हें अपने स्वामी के अधीन कर दिया, तब स्वामी को स्वयं धनुष-बाण उठाने की आवश्यकता ही क्या है।"

इस दोहे में अगहन गहन का यमक 'कुसुमसरहिं सर-धनुस कर' का भाषा-सौष्ठव और अगहन का साभिप्राय विशेष्य सभी आनंददायी हैं। दोहे की प्रत्येक बात उत्कृष्टतामय अतएव प्रशंसनीय है।

पूस-मास सुनि सखिन मुख साँईं चलत सवार ;
लै कर बीन प्रवीन तिय गायो राग मलार।
(बिहारी-सतसई)

'पूस-मास में सखियों के मुख से यह सुनकर कि स्वामी प्रातःकाल विदेश-यात्रा करेंगे, प्रवीण पत्नी ने कर में वीणा लेकर मलार राग गाया। मलार का गाया जाना वर्षा-ऋतु का सूचक है, और संगीत-कोविदों के एक सम्प्रदाय की ऐसी धारणा है कि यदि विशुद्ध मलार गाया जाय, तो वर्षा होगी। वर्षा कराकर स्वामी को विदेश-यात्रा से रोकने के लिये प्रवीण पत्नी ने मलार राग अलापा, जिससे वर्षा हुई, और महाशय विदेश जाने से रुक गए। इस दोहे में कविवर ने जनश्रुति को आदर दिया है।'

इस दोहे का भावापहरण करके रसिकबिहारी उर्फ 'रसिकेश' कहते हैं—

सुनिकै सखियान पै सौंह सवार
चले इत पूस को मास जु लागो ;
'रसिकेस' रहो दुख होय महाँ,
अब कीजे कहा सु मनोभव जागो।

कछु ठानो उपाय दई को मनाय,
पसारिकैं आँचल सो बर माँगो;
गहिकै कर बीन प्रबीन तिया
तब हीं तहँ राग मलार सु रागो।

कहना न होगा कि रसिकबिहारीजी का यह वर्णन बिहारीलाल-जी के दोहे के सम्मुख नहीं ठहरता। क्या भाव और क्या भाषा, दोनों में ही यह महाशय पिछड़े हुए हैं। इसी दोहे के भाव पर लट्टू होकर इसका अपहरण करते हुए एक और कवि लिखते हैं—

सौत सबै परदेस को पीय-पयान सुनो वह रोवन लागी,
या ऋतु में क्यों हूँ ये रहैं घर, देवता पूजि मनावन लागी,
और उपाय तक्यौ न कछू, तब साजिकैं बीन बजावन लागी,
प्यारी प्रबीन भरे सुर मेघ-मलार अलापिकै गावन लागी।

इनका वर्णन तो रसिकबिहारी के वर्णन से भी बहुत नीचा है।

शिशिर-वर्णन

लगति सुभग सीतल किरन, निसि-दिन सुख अवगाहि;
माह ससी-भ्रम सुरज-त्यों रहति चकोरी चाहि।

"माह-महीने में सूर्य की किरणें उष्ण नहीं, शीतल जान पड़ती हैं। चकोरी भ्रम से सूर्य को चंद्र समझती है। इस प्रकार दिन में शीतल किरणोंवाला सूर्य चंद्र बनकर उसे सुख प्रदान करता है, और निशि में स्वयं चंद्रमा अपनी शीतल किरणों से उसे आनंद प्रदान करता है। इस प्रकार उसे निशि-दिन सुख-ही-सुख रहता है।"

इस दोहे में माह-मास की उत्कट ठंड का वर्णन है, जिसमें सूर्य की किरणों (घाम) में बैठने से भी ठंड दूर नहीं होती।

विस्तार-भय से मैं बिहारीलालजी के ऋतु-वर्णन को यहीं समाप्त करता हूँ। इसमें पाठकों ने देखा होगा कि महाकवि बिहारीलालजी

ने प्रत्येक ऋतु का कैसा समीचीन और सागोपाग विस्तृत वर्णन किया है। केवल सात सौ दोहों की सतसई में प्रत्येक विषय का ऐसा पूर्ण वर्णन देखकर यही कहना पडता है कि महाकवि बिहारीलालजी ने गागर में सागर बडी खूबी से भर दिया है।

शिख-नख-वर्णन

कविता का राज्य सौंदर्य है। वह सौंदर्य बहिर्जगत् में भी है, और अंतर्जगत् में भी। कविता में बहिर्जगत् और अंतर्जगत् दोनो के सौंदर्य का वर्णन प्रचुरता से पाया जाता है। यथार्थ में कला का प्रधान गुण उसका सौंदर्य ही है। कवि सौंदर्योपासक होता है, और प्राकृतिक सौंदर्य को चित्रित करने के साथ-साथ नूतन सौंदर्य की भी सृष्टि करता है। स्मरण रहे, संसार के संपूर्ण कवि सौंदर्योपासक और रूप के प्रेमी कहे जाते हैं। उन्होंने जहाँ रमणी के अंग-प्रत्यंग का बाह्य सौंदर्य वर्णन किया है, वहाँ उसके हृदय के प्रेम एवं करुणा आदि अंतर्जगत् के सौंदर्य का भी वर्णन किया है। जो कवि केवल बाहर के सौंदर्य का ही वर्णन सुंदर रूप से करते हैं, वे कवि अवश्य हैं, पर जो कवि मनुष्य के मन के प्रेम, करुणा आदि सौंदर्य का भी सुंदर रूप से वर्णन करते हैं, वे उनसे कहीं श्रेष्ठ हैं। बाह्य सौंदर्य चित्ताकर्षक अवश्य होता है, पर अंतर्जगत् अर्थात् हृदय के सौंदर्य की तो बात ही निराली है। फिर भी बाह्य और अंतर्जगत् के सौंदर्य में एक निगूढ़ संबंध रहता है। मानव-संसार में बाह्य सौंदर्य केवल क्षणिक आनंद देनेवाला नहीं है, उसका एक विशेष मूल्य है। बहिर्जगत् का सौंदर्य माधुर्य-पूर्ण होता है, और वह माधुर्य मनुष्य के हृदय पर प्रभाव डालता है, जिससे मन का विकास होता है। यह निश्चित है कि प्रेम, हर्ष, स्मृति, उत्साह और विस्मय आदि भावों एवं क्षमा, दया और सहिष्णुता आदि गुणों की उत्पत्ति भी इसी बाह्य सौंदर्य के बोध से होती है।

शृंगार-रस में तो सौंदर्य का अटल साम्राज्य रहता है। इसमें मानवीय रूप-सौंदर्य और प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन प्रचुरता से प्राप्त होता है। स्मरण रहे, बहिर्जगत् का सौंदर्य ऐसा है, जिसे हम हृदयंगम तो कर सकते हैं, पर उसकी सृष्टि नहीं कर सकते। मानवीय रूप-सौंदर्य के हम दर्शक-मात्र रहते हैं। यह सौंदर्य वस्तुगत ही होता है। बाह्य सौंदर्य भी बड़ा चित्ताकर्षक होता है। इसके प्रबल आकर्षण को संसार भली भाँति जानता है। यह चक्षु-ग्राह्य रूप-सौंदर्य सचमुच बड़ा प्रभावशाली होता है। इससे इंद्रिय-तृप्ति और हृदय-तुष्टि होती है। इस संबंध में हिंदी-संसार के प्रतिभाशाली कवीश्वरों ने अपनी प्रखर प्रतिभा के बल से ऐसे सौंदर्य-जगत् की सृष्टि की है, जो हिंदी-साहित्य की एक बहुत बड़ी विशेषता है। इस प्रकार के साहित्य को शिख-नख या नख-शिख-वर्णन का साहित्य कहते हैं। अनेक शृंगारी कवियों ने 'नख-शिख' या 'शिख-नख' के पूरे वर्णन प्रबंधों में लिखे हैं। इनमें से कई कवियों के नख-शिख-वर्णन के प्रबंध टकसाली हैं। उनमें बड़ी ही मनोहर उक्तियाँ पाई जाती हैं, जिनमें प्राकृतिक रूप-वर्णन के चित्रण के साथ नूतन सौंदर्य की भी सृष्टि की गई है।

ध्यान रहे, कवि प्रायः आध्यात्मिक होते हैं। वे सुंदरी नायिका के अंग-प्रत्यंगों की ओर संभोग-लालसा से नहीं, बल्कि सौंदर्यार्थ देखते हैं। और, पश्चात् एक नायिका में ही कल्पना के बल से सृष्टि के अनेक सुंदर पदार्थों के सौंदर्य का समावेश करते हैं। वे अनेक पदार्थों के सौंदर्य से नायिका के शारीरिक सौंदर्य का मिलान करके सौंदर्योपासक होने की योग्यता प्रकट करते हैं। स्मरण रखना चाहिए कि कवि स्थूल जगत् का उपासक न होकर आध्यात्मिक होने के कारण सूक्ष्म संसार का रहस्य उद्घाटित करता है। जैसे—

हे खग-मृग, हे मधुकर-श्रेनी, तुम देखी सीता मृगनैनी।
खंजन, सुक, कपोत, मृग, मीना, मधुप-निकर, कोकिला प्रबीना।
कुंद-कली, दाड़िम, दामिनी, कमल, सरद, ससि, अहि-भामिनी।
बरुन-पास, मनोज-धनु, हंसा, गज, केहरि निज सुनत प्रसंसा।
श्रीफल, कनक-कदलि हरषाहीं, नेकु न संक सकुच मन माहीं।
सुन जानकी तोहि बिन आजू, हरसे सकल पाइ जनु राजू।
(रामचरित-मानस, आ० कां०)

इसमे तुलसीदासजी ने सीताजी का नख-शिख-वर्णन किया है। इसमें कवि एक ही सीता के अगो मे अशेष सृष्टि-सौंदर्य-दर्शन की किस प्रकार इच्छा कर रहा है। क्या कोई कह सकता है कि उसकी दृष्टि कुवासना से मलिन है? ऐसे वर्णनों से तो यही स्पष्ट होता है कि सौंदर्योपासक कवि व्यष्टि मे समष्टि का दर्शन करता और कराता है। जैसे—

आनन है, अरबिंद न फूल्यो,
अलीगन, भूले कहाँ मँडरातु हो?
कीर, तुम्हे कहा बाय लगी,
भ्रम-बिंब के ओठन को ललचातु हो?
'दासजू' व्याली न, बेनी-बनाव हैं,
पापो कलापी, कहा इतरातु हो?
बोलती बाल, न बाजती बीन,
कहा सिगरे मृग घेरत जातु हो?
(काव्य-निर्णय)

इसमे देखिए, एक सुंदरी नायिका के शरीर मे ही अरविंद, बिंब, व्याली, बीन आदि का कैसा आरोप करके कवि ने किस प्रकार उस नायिका के पीछे भ्रमर, कीर, कलापी (मयूर) और मृग आदि को ललचाए हुए दौड़ाया है, एव फिर किस युक्ति से उन्हें मना

किया है, और सत्य बात का स्पष्टीकरण करके भ्रम निवारण किया है।

यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि इस प्रकार के सौंदर्य-वर्णन में एक निर्धारित शैली का बहुत कुछ हाथ रहा है। आर्य-हिंदुओं के साहित्य-शास्त्रकारों ने रूप-वर्णन के लिये जो एक आदर्श आकृति निर्दिष्ट कर ली थी, उसी की सीमा के भीतर बहुतेरे वर्णन रहे हैं। इसमें जो शैली है, उसी का अनुकरण कविता, स्थापत्य-कला और चित्रकला में किया गया है। कारण यह कि आर्य सभ्यता के केंद्र भारत में जो आर्य-जाति निवास करती थी, उसकी शारीरिक और मानसिक भावनाओं का जो उद्गम और विकास हुआ, वह प्राचीन संस्कृत-साहित्य से हिंदी में आया है। साथ ही उस जाति की आकृति और सभ्यता को वर्णाश्रम-धर्म ने भी बहुत कुछ अपरिवर्तित रक्खा। इसी से भारत के प्रांतीय कवियों के वर्णनों में विलक्षण साम्य पाया जाता है। हो सकता, अन्य देशवासियों को इसमें, रुचि-भेद के कारण, कुछ विलक्षणता दिखाई दे। फिर बात यह है कि आज तक रूप-सौंदर्य का कोई सार्वभौमिक सर्वमान्य माप-दंड नहीं बन सका। इसमें स्वभाव और शिक्षा के कारण सदैव मतभेद रहेगा। पर यह मतभेद सौंदर्य के आधार के विषय में ही सम्भव है। स्वयं सौंदर्य के विषय में तो मतभेद हो ही नहीं सकता।

साहित्य-शास्त्र की एक निर्धारित शैली के इस रूप-वर्णन में भी हिंदी-कवियों ने नवीन चमत्कार उत्पन्न किया है, जिसका कारण बाह्य प्रकृति न होकर अंतरंग-प्रकृति है। जब बाह्य प्रकृति से अंतरंग-प्रकृति का संबंध होता है, तब भाव साकार होता है। ऐसी दशा में बाह्य आकृति पर अंतरंग मनोभावों की जो छाया पड़ती है, उससे बाह्य आकृति में अंतर पड़ता है। वैसे तो बाह्य आकृति का सौंदर्य

स्थिर और अपरिवर्तनशील होने से निष्प्राण-सा रहता है, पर जब उसमें अंतःकरण की स्फूर्ति प्रकट होती है, तब उसमें सजीवता के साथ-साथ नवीनता आ जाती है। फिर भी भिन्न-भिन्न अंगों के लिये जो उपमान नियत किए गए हैं, उनमें उन-उन विशेष अंगो-रूप उपमेय से जो साम्य है, वे केवल काल्पनिक न होकर अनुभूति के आधार पर माने गए हैं। उनमें भी भावों के द्वारा आकृति में जो चंचलता आती है, उसका वर्णन करने के लिये कुशल कलाविद् कवियों ने प्राचीन उपमाओं में जो सुंदर कल्पनाएँ की हैं, उनसे एक निराले, नूतन सौंदर्य की सृष्टि हुई है। यथार्थ में कवि की कुशलता भावों के कारण रूप में जो चंचलता आती है, उसका चित्रण करना है। ऐसे वर्णन ही कठिन होते हैं, और ऐसे वर्णनों से ही प्रतिभाशाली कवि की सौंदर्य-सृजनकारी कारयित्री प्रतिमा का चमत्कार परिलक्षित होता है। जैसे किसी अल्हड़ मुग्धा बाला के विषय में बिहारीलालजी कहते हैं—

> लिखन बैठि जाकी सबिहिं गहि-गहि गरब गरूर,
> भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।
>
> (बिहारी-सतसई)

यथार्थ में सुंदर अंगों का वर्णन मनोभावों के साथ करना ही कवि-कर्तव्य है। बाह्य प्रकृति के सौंदर्य से अंतरंग-प्रकृति के सौंदर्य को मिलाकर वर्णन करने से बाह्य प्रकृति के सौंदर्य में शतगुणित अधिक सौंदर्य भासित होता है। इसी से तो हिंदी-भाषा के अत्यंत श्रेष्ठ कलाकार महाकवि बिहारीलालजी लिखते हैं—

> अनियारे दीरघ नयनि, किती न तरुनि जहान,
> वह चितवन औरै कछू, जेहि बस होत सुजान।
>
> (बिहारी-सतसई)

इसमें प्रकारांतर से महाकवि ने बाह्य सौंदर्य के साथ भाव-सौंदर्य

के अद्भुत, आनंददायक मेल की आवश्यकता की ओर इंगित किया है।

परम रसीली ब्रज-भाषा के पीयूषवर्षी महाकवि श्रीबिहारीलालजी ने शिख-नख बड़ा ही सुंदर कहा है। इसमें भी स्वाभाविक, सरस वर्णन और सुंदर कल्पनामयी ऊँची उड़ान, दोनो ही दर्शनीय हैं। समर्थ कवि ने अपनी प्रखर प्रतिभा के बल से ऐसा सरस और काव्य-कला-पूर्ण शिख-नख कहा है, जिसे देखकर यही कहना पड़ता है कि विश्व के बहुत थोड़े शृंगारी महाकवियों की रचनाओं में शिख-नख-संबंधी ऐसी अद्वितीय सूक्तियाँ कदाचित् ही प्राप्त हो सकती हैं। इनके इस वर्णन में भी प्रवीण कलाकार का हस्तलाघव दर्शनीय है। यहाँ मैं संपूर्ण वर्णन को विस्तार-भय के के कारण नहीं दे सकता। प्रत्येक अंग का वर्णन भी मैं न दे सकूँगा। केवल कुछ बानगी दिखलाना ही मेरा अभिप्राय है। इतने ही से हमारे विज्ञ पाठकों को बिहारीलालजी के शिख-नख-वर्णन की श्रेष्ठता का पता चल जायगा।

केश-वर्णन

छुटे छुटावैं जगत तें सटकारे सुकुमार ;
मन बाँधत बेनी बँधे नील छबीले बार।
(बिहारी-सतसई)

"सुंदरी, सुकेशिनी नायिका के 'सटकारे सुकुमार नील छबीले बार छुटे' जगत् से छुड़ाते हैं, और 'बेनी बँधे' मन को बाँधते हैं। किसी समय भी उनसे नहीं बच सकते।"

यदि छूटे हो, तो संसार से छुड़ाते हैं। (जो स्वयं मुक्त हैं, वे ही दूसरों को मुक्त कर सकते हैं ; कितनी सच्ची यथार्थ उक्ति है।) भाषा और भाव दोनो ही श्रेष्ठ हैं। जो स्वयं ही मुक्त नहीं हैं— छूटे नहीं हैं—वे दूसरों को क्या मुक्त करेंगे—छुड़ावेंगे ? जो मुक्त

हैं, वे ही जगत् से छुडाने में समर्थ हैं। जो बँधे हैं, वे बाँधते ही हैं। जो स्वय बधनो मे बँधे हैं, वे मन को बाँधने के सिवा मुक्त कर ही कैसे सकते हैं? सटकारे सुकुमार छबीले बाल जब छूटे होते हैं, तब वे ससार से छुड़ा देते हैं। छूटे बालों को देखकर दर्शक सुध-बुध खोकर सपूर्ण ससार को भूल जाता है। और, जब वे बाल वेणी में बँधे रहते हैं, तब मन को बाँधते हैं। मन उन्हीं बालो मे बँधकर रह जाता है। फिर वहाँ से छुटकारा नहीं पाता। दोनो दशाओ में मन को किस प्रकार उलझाया है, यह दर्शनीय है। भाषा का औचित्य-पूर्ण, सुदर, सरस प्रयोग और आनुप्रासिक शब्द-समृद्धि सर्वथा अप्रतिम है। भाव और भाषा दोनो की ऐसी श्रेष्ठतामयी सूक्ति बरबस रसिक काव्य-मर्मज्ञो को विमोहित करती है।

अलक-वर्णन

कुटिल अलक छुटि परति मुख, बढ़िगौ इतौ उदोत ;
बंक बिकारी देत ज्यों दाम रुपैया होत।
(बिहारी-सतसई)

"टेढी अलक (लट) जब छूटकर मुख-मडल पर आ गिरती है, तब मुख की द्युति (श्री-प्रभा) ऐसी बढ जाती है, जैसे टेढी बिकारी लगने से दाम रुपया हो जाती है।"

ध्यान रहे, छ दाम की एक छदाम होती है, दो छदाम या बारह दाम का एक अधेला होता है, दो अधेलों या २४ + १=२५ दामों का एक पैसा होता है। ६४ पैसे या २५×६४=१६०० दाम का एक रुपया होता है। इस प्रकार १ दाम पर यह बक बिकारी देने से १ दाम का (१)) एक रुपया होता है। अर्थात् उसका मूल्य १६०० गुना बढ जाता है। दोहे मे कवि का आशय यह है कि मुख पर अलक के वक्र होकर आ गिरने से सुदर मुख की काति सोलहसौगुनी बढ जाती है। इस दोहे में गणित-विषयक उपमा को लेकर मुख पर आ पड़ी

टेढ़ी लट के वर्णन में महाकवि ने पूर्णोपमा के साथ वर्ण्य विषय की सजीवता का बड़ी ही कुशलता से वर्णन करके पूर्णोपमा का सुंदर निर्वाह किया है। इसमें कुटिल अलक-सहित मुख उपमेय, बंक विकारी-सहित दाम उपमेय, ज्यों वाचक और उदोत धर्म है।

जूरा वर्णन

कच समेटि कर, भुज उलटि, खए सीस-पट टारि ;
काको मन बाँधे न यह जूरा बाँधनहारि।
(बिहारी-सतसई)

"हाथों से बालों को समेटकर, भुजाओं को उलटकर और भुज-मूलों पर सिर के वस्त्र को हटाकर यह जूड़ा बाँधनेवाली भला किसके मन को नहीं बाँधती ?"

भाषा का स्वाभाविक प्रवाह और स्वभावोक्ति का चमत्कार दर्शनीय है। दोहे में जूड़ा बाँधने की क्रिया का बड़ा ही सजीव और स्पष्ट वर्णन है। यथार्थ में स्वभावोक्ति वह है, जिसमें नेत्रों के सम्मुख वर्णित विषय का सच्चा चित्र खिंच जाय। जिन्होंने किसी सुंदरी को जूड़ा बाँधते हुए ध्यान से देखा होगा, वे ही इसके स्वाभाविक वर्णन की श्रेष्ठता समझ सकेंगे। अस्तु।

बिंदी-वर्णन

प्रथम मैं बिहारीलालजी के वर्णन में से सिंदूर-बिंदी के वर्णन के दो दोहे दिखलाता हूँ, जो हिंदू-समाज में सौभाग्य का चिह्न माना जाता है। देखिए—

भाल लाल बिंदी दिए, छुटे बार छबि देत ;
गह्यो राहु अति आह करि मनु ससि सूर-समेत।
(बिहारी-सतसई)

"सौभाग्यवती सुंदरी नायिका भाल पर लाल बिंदी दिए हुए है, उस पर छूटे हुए केश शोभा दे रहे हैं। यह दृश्य कविवर बिहारीलालजी

को ऐसा जान पड़ता है, मानो चंद्रमा ने सूर्य-समेत होकर अत्यत साहस करके राहु को पकड लिया है। तात्पर्य यह कि केश-रूप राहु ने चद्रमा-रूप मुख पर चढाई की, पर चद्रमा ने राहु के विपक्षी सूर्य की सहायता लेकर उसे (राहु को) पकड लिया। कैसी विलक्षण सूझ है ! राहु ग्रहण-समय मे चद्र और सूर्य को ग्रसता है, यह तो सभी कहते हैं, परतु विहारीलालजी कहते हैं कि आज चद्र और सूर्य ने एकत्र होकर अपने प्रबल शत्रु राहु को पकड लिया है। इस दोहे मे प्रकारातर से मेल की महिमा बतलाई है। उत्प्रेक्षा बहुत ही अच्छी है। मुख चद्र है, काले केशों का समूह राहु है, और लाल बिंदी सूर्य।"

अब एक भिन्न प्रकार का सिंदूर-बिंदी-वर्णन देखिए। इसमें नायिका के भाल पर पूजा द्रव्य के अक्षत भी शोभा दे रहे हैं। लिखते हैं—

> भाल लाल बिंदी ललन, आखत रहे बिराज,
> इंदु-कला कुज मे बसी, मनो राहु-भय-भाजि।
> (विहारी-सतसई)

नायिका की सखी नायक को नायिका के भाल पर लगी हुई अक्षत-युक्त लाल रोरी की बिंदी को दिखलाकर कहती है—"हे ललन ! इस सुदरी नायिका के भाल पर लगी हुई रोरी की लाल बिंदी में जो अक्षत लगे हैं, उन्हे देखने से ऐसा जान पडता है, मानो चद्रमा की कला राहु के डर से भागकर मगल में आ बसी हो।" यहाँ भी उत्प्रेक्षा का वर्णन बडा ही हृदयहारी है। लाल रोरी की बिंदी में सफेद रग के अक्षत को लाल रग के मगल मे सफेद चद्रमा की शुभ्र कला बनाने में कवि ने कमाल किया है।

बिंदी पर विहारीलालजी ने अनेक दोहे कहे हैं, जो सब महत्त्व-पूर्ण, कला-संपन्न हैं। केशर की चदन-बिंदी के वर्णन में लिखते हैं—

मिलि चंदन बिंदी रही, गोरे मुख न लखाय ;
ज्यों-ज्यों मद लाली चढ़े, त्यों-त्यों उघरत जाय ।
(बिहारी-सतसई)

कंचन-से शरीरवाली सुंदरी नायिका ने जो केसरिया चंदन की बिंदी लगाई, वह गोरे मुख के रंग से मिलकर रह गई । दिखाई ही नहीं देती । परंतु ज्यों-ज्यों मद की लाली चढ़ती है, त्यों-त्यों वह चंदन की बिंदी उघरती जाती है अर्थात् अपनी पृथक् छटा दिखलाती है ।

तिलक-वर्णन

खौरि-पनच, भृकुटी-धनुष, बधिक-समर तजि कानि ;
हनत तरुन-मृग तिलक-सर, सुरकि भाल भरि तानि ।
(बिहारी-सतसई)

खौर-चिल्ला, भौंहें-कमान, बधिक-कामदेव, तरुण-जन-मृग और तिलक-तीर सभी उपस्थित हैं ।

कितना विशद रूपक है । काम-व्याधा कान तजकर और भ्रकुटि-धनुष पर खौर-प्रत्यंचा चढ़ाकर एवं तिलक-सर लगाकर तरुण-जन-मृग को किस प्रकार मार रहा है । बड़ा भयानक समय है । इस तीर की मार से कोई 'तिय-छबि-छाया-ग्राहिणी' के पंजे में न आनेवाला पवनसुत हनुमान्-सा ब्रह्मचारी ही होगा, नहीं तो औरों की तो खैर नहीं है, सम-अभेद रूपक का यह दोहा प्रकृष्ट उदाहरण है ।

नेत्र-वर्णन

नेत्र-वर्णन में नेत्रों के बाह्य सौंदर्य का वर्णन तो रहता ही है, साथ ही नेत्रों द्वारा प्रेम-पात्र के सौंदर्य का दर्शन, उससे अनुराग की मन में उत्पत्ति होना तथा नेत्रों के द्वारा प्रेम स्थायी भाव के विभिन्न अनुभावों का स्पष्टीकरण और नेत्रों द्वारा रस, रिस, हर्ष

और लज्जा आदि विभिन्न भावों की अनुभूति का प्राकट्य भी वर्णन किया जाता है। नेत्रों की प्रधानता एवं उनके द्वारा भाव-प्रदर्शन के महत्त्व को प्रत्येक समझदार भली भाँति जानता ही है। विश्व के प्राय संपूर्ण कवीश्वरों ने नेत्रों का प्रचुरता से वर्णन किया है। हिंदी में नख-शिख कहनेवाले कवियों ने नेत्रों के बाह्य सौंदर्य और उनके द्वारा अंतरंग प्रेमानुभावों की रमणीय झलक का अद्वितीयप्राय वर्णन किया है। इन सबमें महाकवि बिहारीलालजी का नेत्र-वर्णन तो संभवतः संसार-साहित्य में दुर्लभ है। इनके नेत्र-वर्णन में प्रेम-भाव की सरस अनुभूति के विभिन्न रमणीय दृश्य, कवि-कल्पना की भावमयी नूतन सृष्टि, अलंकारों की सुकर सजावट और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के साथ-साथ परिमार्जित, चुटीली, आनुप्रासिक, मुहाविरेदार, सजीव भाषा तो सोने में सुगंध है। सतसई में नेत्र-वर्णन-संबंधी दोहों की संख्या पचास से भी अधिक है। यहाँ कुछ दोहे उदाहरण-स्वरूप देखिए।

(१) नेत्रों के बाह्य सौंदर्य का वर्णन बिहारीलालजी के अनेक दोहों में अनूठा पाया जाता है। यहाँ कुछ दोहे देखिए—

वर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न;
हरिनी के नैनान ते हरि नीके ये नैन।

(बिहारी-सतसई)

हे हरि! मैंने इस सुनयना सुंदरी के नेत्रों के समान सुंदर आयत कजरारे नेत्र देखे ही नहीं। कविजन कहते हैं कि हरिणी के आयत लोचन नेत्रों के सौंदर्य का आदर्श हैं, पर इस नायिका के नेत्र हरिणी के नेत्रों से भी अधिक अच्छे हैं। इनकी चितवन की चोट भी गजब की है। और तो ठीक ही, इन्होंने तो त्रिभुवन-विजयी कामदेव के अमोघ बाणों को भी जीत लिया।

सायक-सम मायक नयन, रँगे त्रिबिध रँग गात ;
झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जल-जात लजात।
(बिहारी-सतसई)

उसके मायावी नेत्र-बाणों के समान वेधक मायावी नेत्र अपने शरीर को (लाल, श्वेत और काले) तीन रंगों से रँगे हुए हैं। इन कटीले और चंचल नेत्रों को देखकर मछलियाँ, जिन्हें कवियों ने चंचल और कटीले नेत्रों का आदर्श वर्णन किया है, लज्जित हो पानी में छिप जाती हैं और श्वेत, अरुण एवं नील कमल, जो सुंदर विस्तीर्ण प्रफुल्लित नेत्रों के आदर्श हैं, लज्जित-संकुचित हो जाते हैं।

रस-सिंगार मंजन किए, कंजन भंजन दैन ;
अंजन रंजन हू बिना खंजन गंजन नैन।
(बिहारी-सतसई)

"जिसमें हाव-भाव-कटाक्षादि की लहरें उठती हैं, ऐसे शृंगार के रस (जल) में मज्जन किए हुए उस बाला के समुज्ज्वल नेत्र सुंदर अमल कमल का मान मर्दन करनेवाले और अपने स्वाभाविक कजरारेपन से अंजन लगाए बिना ही श्यामता-युक्त चपल नेत्रों के आदर्श खंजन पक्षियों को भी तिरस्कार देनेवाले हैं।"

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट पट झीन,
मानहु सुर-सरिता बिमल जल उछलत जुग मीन।
(बिहारी-सतसई)

"झीने (श्वेत) पट के घूँघट में उस सुंदरी के चंचल नेत्र चमचमाते हैं, मानो गंगाजी के निर्मल नीर में युगल मीन उछलते हों।"

नेत्रों के बाह्य सौंदर्य के साथ-साथ चितवन का अनोखापन अवश्य ही चाहिए। यदि चितवन का अनोखापन न हुआ, तो

नेत्रों की विशालता, कटीलापन एवं अन्य बाहरी सौंदर्य रसिक सुजान का हृदय आकर्षित करने में सर्वथा असमर्थ ही हैं। बिहारी-लालजी कहते हैं—

अनियारे दीरघ नयनि, किती न तरुनि जहान ;
यह चितवन औरै कछू, जिहि बस होत सुजान।
(बिहारी-सतसई)

(२) 'नैन-सैन' के विषय में महाकवि का यह दोहा स्मरण रखने योग्य है—

झूठे जानि न संग्रहे, मन, मुँह-निकसे बैन,
याही तैं मानहु किए बातन को बिधि नैन।
(बिहारी-सतसई)

"संसार में झूठ बोलने का प्रचार अधिक होने के कारण मन ने मुख से निकले वचनों को झूठा समझकर उन पर विश्वास नहीं किया, मानो यही देखकर विधाता ने मन की सच्ची, विश्वसनीय बातों के निमित्त ही नेत्रों को बनाया है।"

(३) नेत्रों का मन पर कैसा प्रबल प्रभाव पड़ता है। इसके वर्णन में बिहारीलालजी के कई अनूठे दोहे हैं। एक यहाँ देखिए—

नैन-तुरंगम अलक-छबि-छरी लगी जिहि आय ;
तिहि चढ़ि मन चंचल भयो, मति दीनी बिसराय।
(बिहारी-सतसई)

"जो नायिका की लटकी हुई लट को देखकर उत्तेजित हुए हैं—जिन्हें लट की शोभा-रूपी छड़ी आकर लगी है—उन नेत्र-रूपी घोड़ों पर चढ़कर मेरा मन चंचल हो गया है, और उसने मेरी मति (बुद्धि) भुला दी है। मन प्रेम में पड़कर बुद्धि से हाथ धो बैठा है।"

(४) दृष्टि-बाण की मार का जैसा सजीव और सच्चा एवं काव्य-

कला-पूर्ण वर्णन इस महाकवि ने किया है, वैसा संपूर्ण साहित्य-संसार में दुर्लभ है। दो-एक उदाहरण यहाँ देखिए—

तिय कत कमनैती पढ़ी, विनु ज्या भौंहँ कमान ;
चल चित वेझौ चुकति नहिं, बंक विलोकन-बान।
(विहारी-सतसई)

"हे सुंदरी! तूने यह अद्भुत धनुर्विद्या कहाँ पढ़ी है, जो विना रोदे की भौंहँ-कमान से, तिरछी चितवन के 'बंक' बाण के द्वारा अत्यंत सूक्ष्म और चंचल चित्त-रूपी वेझ (निशाने) को चूकती ही नहीं।'

इस उक्ति में विलक्षण काव्य-चातुर्य है। देखिए, कितनी कला-मय सूक्ति है। कमान है, पर विना प्रत्यंचा (रोदे) की. तीर है, पर टेढ़ा है, जो निशाना लगाने में व्यर्थ ही है, निशाना भी अत्यंत सूक्ष्म और डोलता हुआ है। इतने पर भी निशाना न चूकना सच-मुच विचित्र तीरदाजी है।

दृगन लगत वेधत हियो, विकल करत अँग आन ;
ये तेरे सब तैं बिषम ईछन तीछन बान।
(विहारी-सतसई)

"हे सुलोचने! हे सुंदरी! तेरे ये 'ईछन तीछन बान' सब प्रकार के बाणों से विषम हैं, क्योंकि ये आकर नेत्रों में तो लगते हैं, और हृदय को वेधते हैं, एवं अंग-अंग को व्याकुल करते हैं।'

चितवन-तीर (ईछन-बान) सचमुच सबसे विषम हैं। कितना विचित्र व्यापार है। ये एक जगह आकर लगते हैं, दूसरा स्थान वेधा जाता है. और तीसरे स्थान में पीड़ा होती है। यह दोहा असंगति-अलंकार का प्रकृष्ट उदाहरण है। नयन-बाण का नेत्रों में लगना, उससे हृदय का वेधा जाना और अंग-अंग का व्याकुल होना बड़े ही सच्चे वर्णन हैं।

(५) नेत्रो की रूप-पिपासा के विषय मे बिहारीलालजी ने एक-से-एक बढकर अनूठे कई दोहे कहे हैं। इनमे भी भावोत्कर्ष, कल्पना का प्राबल्य और अर्थालकार की छटा के साथ मनोहर प्रयोग-साम्य और भाषा-प्रयोग दर्शनीय है। इनमें प्रेम-भाव के मधुर अनुभावो का बड़ा सच्चा, सजीव और हृदयहारी वर्णन है। उदाहरण देखिए—

लीनैं हू साहस सहस, कीनैं जतन हजार;
लोइन लोइन-सिंधु तन पैरि न पावत पार।
(बिहारी-सतसई)

पूर्वानुरागिणी नायिका सखी से कहती है—"हजार साहस धारण करने पर भी और हजार यत्न करने पर भी मेरे लोचन नायक के तन-रूपी लावण्य-समुद्र मे पैरकर पार नहीं पाते।" तात्पर्य यह कि नायक के शरीर के लावण्य (सौंदर्य) को देख-देखकर भी मेरे नेत्र तृप्त नहीं होते।

इस दोहे मे महाकवि ने लोचनो को पैराक बनाकर बड़ी सुंदर सूक्ति कही है। साहस धारण करने से यह ध्वनित होता है कि जिस प्रकार समुद्र में तैरनेवालों के लिये अनेक भयकर जल-जतुओ के कारण बडे भारी साहस की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार नायिका को भी अनेक चवाइनो आदि की आशका से नायक के लावण्यमय शरीर की ओर देखने में बडे भारी साहस की आवश्यकता होती है। हज़ार यत्न करना कहने से यह तात्पर्य है कि जिस प्रकार अनेक जल-जतुओं के आक्रमण और अगाध जल में डूबने से बचने के लिये समुद्र में पैरनेवालों को बड़े-बडे यत्न करने पडते हैं, उसी प्रकार नायिका को भी लोकापवाद के भय एव चवाइनों की आशंका और दृष्टि से बचने के लिये नायक के लावण्यमय शरीर की ओर देखने में बड़े उपयुक्त उपाय करने पडते हैं—सतर्कता से काम लेना पडता है। लोइन-सिंधु में लवणमय जलवाले समुद्र और अगाध लावण्य

(सौंदर्य)मय शरीर की शोभा का भी अच्छा साम्य ठहरता है। सब मिलाकर दोहा बहुत ही श्रेष्ठ है।

त्यौं-त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं-ज्यौं पियत अघाय;
सगुन सलोने रूप की जु न चख-तृषा बुझाय।
(विहारी-सतसई)

"चख-तृषा बुझती ही नहीं—दिख-साध पूरी ही नहीं होती। वह सगुण लावण्यमय रूप-जल ऐसा है कि ज्यों-ज्यों सतुष्ट होकर मेरे नेत्र उसे पीते हैं, त्यों-त्यों और-और प्यास बढ़ती है।" कैसा सच्चा, सजीव वर्णन है।

नेह न नैनन को कछू, उपजी बड़ी बलाय;
नीर भरे नितप्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय।
(विहारी-सतसई)

"नेत्रों को यह स्नेह नहीं है, कुछ भारी बला उत्पन्न हो गई है। ये नित्यप्रति अश्रु-जल से भरे रहते हैं, तो भी इनकी प्यास नहीं बुझती।" कैसी सजीव, मनोहर उक्ति है।

जौ लौं लखौं न कुल-कथा, तौ लौं ठिकु ठहराय;
देखे आवत देखिबो, क्यों हू रह्यो न जाय।
(विहारी-सतसई)

अर्थ स्पष्ट है। यहाँ भी प्रेम-भाव का अच्छा वर्णन है। रूप-प्यासे नेत्र प्रेम-पात्र को देखने से कहीं रोके जा सकते हैं? इसी प्रकार का यह दोहा भी है—

जस-अपजस देखत नहीं, देखत साँवल गात;
कहा करौं लालच-भरे, चपल नैन चलि जात।
(विहारी-सतसई)

लालची नेत्र प्रेम-पात्र के नख-शिख-सौंदर्य से पूर्ण रहने पर भी ललचना नहीं छोड़ते—

नख-सिख-रूप भरे खरे, तउ माँगत मुसुकानि ;
तजत न लोचन लालची ये ललचौही वानि ।
(बिहारी-सतसई)

(६) दृष्टि-सम्मिलन के विषय मे महाकवि बिहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहे दर्शनीय हैं—

खरी भीर हू भेदिकै कितहू ह्वै उत जाय ;
फिरे डीठि जुरि डीठि सों, सबकी डीठि बचाय ।
(बिहारी-सतसई)

"भारी भीड को भेदकर किसी भी राह से होकर नायिका की नजर वहाँ नायक के पास पहुँच जाती है, और सबकी नजरों को बचाकर, नायक की नजर से मिल उस नायिका की नजर फिर साफ कन्नी काटकर लौट आती है ।"

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात ;
भरे भौन मे करत हैं नैनन ही सो वात ।
(बिहारी-सतसई)

"कहते हैं, नाहीं करते हैं, रीझते हैं, खीझते हैं, मिलते हैं, खिलते और लजाते हैं। लोगो से भरे घर में नायक-नायिका दोनो ही आँखों-ही-आँखों से ये सब बातें कर लेते हैं ।"

पहुँचति डटि रन-सुभट लौं, रोकि सकैं सब नाहिं ;
लाखन हू की भीर में आँखि उतें चलि जाहिं ।
(बिहारी-सतसई)

"लड़ाई के वीर योद्धा के समान डटकर पहुँच जाती हैं। सभी उन्हें नहीं रोक पाते। लाखों की भीड में भी उनकी आँखें उस प्रेम-पात्र की ओर चली ही जाती हैं ।"

जो तब होत दिखादिखी मई अमी इक आँक;
लगै तिरीछी डीठि अब ह्वै बीछी को डाँक।
(बिहारी-सतसई)

"उस समय देखादेखी होने पर जो निश्चय-पूर्वक अमृत मालूम हुआ था, उसी प्रेम-पात्र की दृष्टि अब उसके विरह में बिच्छू के डंक के समान व्याकुल करनेवाली हो गई।"

कहत सबै कवि कमल-से, मो मत नैन पखान;
नातक कत इन बिय लगत उपजत बिरह-कृसानु।
(बिहारी-सतसई)

"संपूर्ण कवि नेत्रों को कमल के समान कहते हैं, किंतु मेरे मत से ये नेत्र पत्थर के समान हैं। नहीं तो इन दो के लगते ही—एक दूसरे की, प्रेमी और प्रेम-पात्र की, आँखों के परस्पर टकराने से—विरह-रूपी अग्नि कैसे उत्पन्न होती।"

(७) प्रेम में बहके हुए नेत्रों के वर्णन में भी बिहारीलालजी के अनेक सुंदर दोहे हैं। दो यहाँ देखिए—

नैना नेकु न मानहीं, कितौ कह्यौ समुझाय,
तन-मन - हारे हू हँसैं, तिनसों कहा बसाय।
(बिहारी-सतसई)

"मेरे ये नेत्र मेरी बात जरा भी नहीं मानते, मैं कितना भी समझाकर क्यों न कहूँ। भला, जो तन-मन हारकर भी हँसते ही रहें, उनसे किसी का क्या वश चल सकता है?"

बहके, सब जिय की कहत, ठौर-कुठौर लखैं न;
छिन औरै, छिन और हैं, ये छबि छाके नैन।
(बिहारी-सतसई)

"मेरे ये सौंदर्य-मद में मत्त नेत्र ऐसे बहक गए हैं कि मेरे हृदय की सब बातें कह डालते हैं। ऐसा करते समय ये ठौर-कुठौर

(मौक़ा-बेमौका) कुछ भी नहीं देखते। ये क्षण में कुछ और रहते हैं, और क्षण-भर में कुछ और हो जाते हैं, अर्थात् ये क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं।"

(८) महाकवि बिहारीलालजी ने नेत्रों को कहीं बाज बनाया है, तो कहा मुँहजोर तुरग, कहीं सट्टेवाला बनाया है, तो कहीं ठग, कहीं तांत्रिक बनाया है, तो कहीं चोर, तात्पर्य यह कि उनका वर्णन विभिन्न रूपों में किया है। इन वर्णनों में भी औचित्य का पूरा ध्यान रक्खा गया है। यहाँ विस्तार-भय से केवल दो दोहे दिए जाते हैं। देखिए—

शिक्षा देनेवाली सखी से परकीया नायिका कहती है—

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहि ;
ये मुँहजोर तुरंग-लौं ऐंचत हू चलि जाहिं।
(बिहारी-सतसई)

"हे सखी ! 'लाज-रूपी लगाम को नहीं मानते, नेत्र मेरे वश में नहीं हैं। ये लाज लगाम खीचते रहने पर भी मुँहजोर घोड़े की तरह चले जाते हैं।' तात्पर्य यह कि लज्जाशीला सुदरी नायिका नेत्र-रूपी मुँहजोर घोड़ों को लाज की लगाम से खीचती ही रह जाती है, पर वे बदलगाम काबू में नहीं रहते, नायक के सुंदर मुख की ओर चले ही जाते हैं।"

यह दोहा भी उत्कृष्ट काव्य-कला-संपन्न है। इसमें यह दिख-लाया गया है कि यदि प्रेम-पात्र—हृदय-मंदिर की आराध्य मूर्ति—सम्मुख हो, तो प्रेमी कितना ही लज्जाशील क्यों न हो, उसके दर्शन करने की अभिलाषा रोकने में कभी समर्थ नहीं हो सकता। उसके नेत्र प्रेम-पात्र की ओर चले ही जाते हैं। विवेक का सवार लाज की लगाम से उन नेत्र-रूप अश्वों को रोकता ही रह जाता है, पर रूप-रस-लोभी नेत्र-रूप 'मुँहजोर तुरंग' चले ही जाते हैं।

इस दोहे में अलंकारों की भी अद्भुत छटा है। देखिए—

(अ) मन उपमेय, मुँहज़ोर तुरग उपमान, लौं वाचक और ऐंचत हू चलि जात धर्म है। इस प्रकार दोहे में पूर्णोपमालंकार उत्कृष्ट है।

(ब) ऐंचत हू चलि जात में प्रतिबंधक के रहने पर भी कार्य होता है, अतएव इसमें तृतीय विभावना अलंकार है। क्योंकि 'कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात्सत्यपि प्रतिबन्धके।'

(स) [illegible] में छेकानुप्रास की छटा है।

> नीची ये नीची निपट दीठि कुही लौं दौरि,
> उठि ऊँचे नीचे दियो मन कुलिंग झकझोरि।

से बढकर कपोल पर नही ठहरते, और सतप्त छाती पर गिरकर क्षण-मात्र छनछनाकर छिप जाते हैं।"

इस दोहे मे शब्द-चमत्कार के अतिरिक्त अर्थ-चमत्कार का भी आधिक्य है। विरह-सताप का इस वर्णन मे इतना आधिक्य है कि आँसू गिर नही सकते—छनछनाकर छिप जाते हैं। दोहे मे आँसुओं की उत्पत्ति और पतन के प्रकार का अनूठा वर्णन है। बरुनियों मे आँसुओं का बढना कहने मे ध्वनि यह है कि वियोग-चिंता में अर्ध-निमीलित नेत्र थे, इसी से पलकों के अधखुली होने से सघन बरुनियो मे आँसू इकट्ठे होना कहा गया है। 'कपोल पर नहीं ठहरते' कहने मे ध्वनि यह है कि कपोल सचिक्कण थे। आँसुओं का क्षण-मात्र छनछनाकर छिपना कहने मे ध्वनि यह है कि आँसू अधिकता से और निरतर गिर रहे थे, क्योंकि यदि आँसू थोडे होते अथवा *निरतर न गिरते, तो क्षण-भर भी न ठहरते।* आँसुओं के छन-छनाकर छिपने से विरह-संताप का आधिक्य स्पष्ट ध्वनित होता है। इस प्रकार सपूर्ण दोहे मे वाच्यातिशयी व्यग्य होने से यह दोहा ध्वनि काव्य का उत्तम उदाहरण है। उत्कृष्ट भाषा की जितनी प्रशसा की जाय, थोडी है।

तच्यौ आँच अति बिरह की, रह्यौ प्रेम-रस भीजि,
नैनन के मग जल बहै हियौ पसीजि-पसीजि।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में महाकवि बिहारीलालजी ने आँसुओं का रूपक अर्क से बाँधा है। कितनी हृदयद्राविनी उक्ति है। विरहावस्था में नायिका के जो आँसू बह रहे हैं, वे आँसू नहीं हैं, वरन् उसके प्रेम-रस में भीगे हुए हृदय का वह अर्क है, जो विरह-वह्नि की तीव्र आँच के कारण नेत्रो की नलियों से बह रहा है। तात्पर्य यह कि वियोग-काल के आँसू उसके कलेजे के ही टुकडे हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस महाकवि का नेत्र-वर्णन अद्वितीय ही है। इनके सिवा जो अन्यान्य दोहे हैं, उनमें भी उत्तम काव्य-कला है। समग्र रात्रि जागरण से नेत्रों का गुल्लाला या रोचन-जैसी लाली पकड़ना, रात्रि-जागरण से प्रातःकाल नेत्रों में साँझ-सी फूलना, अपराधी के नेत्रों का लज्जा से अधोमुख होना, आलस-वलित, अर्धोन्मीलित नेत्रों की कमनीयता, रंग निचुड़ने से नेत्रों द्वारा रँग-रेलियों का भेद प्रकट होना, चित्त के प्रेम की चुगली करनेवाले नेत्रों का कुछ विलक्षण ढंग होना, चंद्रमुखी नायिका के चंद्रमुख के सम्मुख अपराधी नायक के नेत्र-कमलों का संकुचित होना, रुखाई-भरी आँखों की चितवन, सहज हँसौहैं नेत्रों की मधुर मुसकान, रिस-वश चढ़ी हुई त्योरियों की भाव-भंगी, प्रेमी-प्रेमिका का आँखों-ही-आँखों में वार्तालाप करना, दृष्टि की वरत बाँधकर चित्त-नट का उस पर दौड़ना, आँखों से आँखों के लगने पर आँख का न लगना, आँख से आँख लग जाने पर नेत्रों में किरकिटी पड़ जाने के समान पीड़ा होना, नेत्रों का 'लगालगी' कर हृदय में प्रेमाग्नि लगाना, नेत्र-अश्वों का 'खुँदी' करना आदि-आदि का विलक्षण वर्णन बिहारीलालजी के नेत्र-वर्णन में, मोहक रीति से, कलामय काव्य में, पाया जाता है।

कपोल-वर्णन

बरन, बास, सुकुमारता सब विधि रही समाय,
पखुरी लगी गुलाब की गाल न जानी जाय।
(बिहारी-सतसई)

कोई सुंदरी नायिका पुष्प-शय्या त्यागकर आई है। उसके गाल पर गुलाब की पखुरी लगी हुई है। इसे देखकर सखी कहती है—"बरन (रंग), बास (गंध) और सुकुमारता, सबमें सब प्रकार से साम्य होने के कारण मिलकर रह गई। गुलाबी कपोल पर लगी हुई गुलाब की पखुरी जानी ही नहीं जाती।"

इस दोहे मे गुलाब की पखुरी की अरुणता से गुलाबी गाल की अरुणता, उसकी सुंदर धीमी मधुर गध से शरीर की सुमधुर आनंद-दायिनी गध और उसकी सुकुमारता से कपोल की सुकुमारता का अनूठा साम्य दिखलाया है। इस वर्णन मे सौंदर्य का अच्छा प्रस्फुटन हुआ है। इस दोहे मे मीलित अलकार का प्रकृष्ट उदाहरण है।

दशन-वर्णन

नेकु हँसौहीं बान तजि, लख्यो परत मुख नीठि,
चौका - चमकनि - चौंध में परति चौंध-सी दीठि।
(बिहारी-सतसई)

नायक किसी स्मितवादिनी, हास्यमयी सुदरी से कहता है—"हे प्रियतमे! धीरे-धीरे हँसने की आदत छोड दे, क्योंकि इसमे तेरे सुदर मुख की ओर देखना कठिन हो जाता है। तेरे थोडे हँसने मे ही जो दॉतो का चौका खुलता है, उसकी चमक से चकाचौंधी पैदा होती है, और मेरी ऑखें उसमे चकचौंधिया जाती है।"

इस दोहे मे महाकवि बिहारीलालजी ने दत-द्युति का अच्छा वर्णन किया है। सुदर दशनावलीवाली नायिका के धीरे-धीरे हँसने मे जो जरा दाँतो का चौका खुलता है, उसकी चमक इतनी तेज़ होती है कि बिजली-सी कौंद जाती और आँखो मे चकाचौंध पैदा हो जाती है। इसी से 'लख्यो परत मुख नीठि'। और इसी कारण मुख-सौंदर्य-सुधा का इच्छुक नायक बडे दैन्य भाव से उस नायिका से कहता है—'नेकु हँसौही बान तजि'। इस दोहे मे नायक द्वारा नायिका के सौंदर्य की प्रशसा निराले ढग से व्यक्त की गई है।

चिबुक-गाड़-वर्णन

डारे ठोड़ी - गाड़, गहि नैन - बटोही मारि।
चिलक - चौंधि में रूप - ठग, हाँसी - फाँसी डारि।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में ठग की क्रिया का अच्छा वर्णन है। ठग लोग फाँसी का फंदा डालकर किसी बटोही को मार डालते थे, और मारकर उसे किसी गढ़े में डाल देते थे। इसी बात को लेकर बिहारीलालजी ने यह सुंदर रूपक बाँधा है। नेत्र-बटोही 'चिलक-चौंध' में रूप-ठग द्वारा हँसी-फाँसी डालने से मारे गए हैं। फिर रूप-ठग ने उन्हें लेकर 'ठोडी-गाड' में डाल दिया है। यह दोहा भी बड़ा गंभीर है। गढ़े में डाले हुए क्रिया-हीन मृतक पुरुष गढ़े से कभी निकल ही नहीं सकते। रूप के लोभी नेत्र जो 'ठोडी-गाड' की सुंदरता देखते-देखते अचंचल हो गए हैं—'ठोडी-गाड' से वे कभी हट ही नहीं सकते। यहाँ यह देखिए कि नेत्रों को किस विलक्षणता से फँसाया है।

तो लखि मो मन जो लही, सो गति कही न जाति ;
ठोड़ी-गाड़ गड़्यो तऊ उड़्यो रहै दिन-राति।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में कैसी चमत्कारिणी उक्ति है। 'ठोडी-गाड गड्यो तऊ उड़्यो रहै दिन-राति।' गढ़े में गड़ी वस्तु भी उड़ रही है। महाकवि बिहारीलालजी असंभव को भी संभव करके दिखला रहे हैं। जिस मन में ठोडी की सुंदरता गड़ गई है, जो 'ठोडी-गाड' में गड़ के रह गया है (अर्थात् ठोडी-गाड पर सर्वतोभावेन रीझ गया है), वह उड़ेगा क्यों नहीं!

गोदना-वर्णन

ललित-स्याम-लीला ललन, चढ़ी चिबुक छबि दून ;
मधु छाक्यो मधुकर पर्‌यो, मनो गुलाब-प्रसून।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे की मधुर शब्दावली और अलंकृत प्रौढ़ भाषा किसे न मोह लेगी ! चिबुक के गोदने को 'मधु छाक्यो मधुकर पर्‌यो, मनो

गुलाब-प्रसून' कहकर बिहारीलालजी ने जो उत्प्रेक्षा कही है, उसकी प्रशंसा कौन काव्य-प्रेमी हृदय से न करेगा? सुंदर गुलाबी रग के चिबुक का नीला गोदना महाकवि बिहारीलालजी को ऐसा जान पड़ता है, मानो मधु से छककर गुलाब-प्रसून में मधुकर पड़ा हो। खूब कहा। यह दोहा भी विदग्ध रसिकों को पुलकित करनेवाला है। इसी पर कोई राम कवि कहते हैं—

कमल-कली पै अड़ि बैठ्यो अलि-छौना किधौं
कामिनी, तिहारे चारु चिबुक डिठौना है।

यह बिहारीलालजी के दोहे के सम्मुख जो कुछ है, सो है।

मुख-वर्णन

सूर उदित हू मुदित मन मुख सुखमा की ओर;
चितै रहत चहुँ ओर सो निहचल चखनि चकोर।
(बिहारी-सतसई)

सूर्योदय होने पर भी चकोर मुदित मन से, निश्चल नेत्रों से मुख-सौंदर्य की ओर चारो ओर से 'इकटक' देखते रहते हैं। तात्पर्य यह कि चकोर जो चंद्र का अनन्य प्रेमी है, जो चंद्र का सबसे बड़ा पहचाननेवाला है, भ्रांति से सुंदर चद्र-मुख को ही चद्रमा समझता है, और दिन के समय चद्रास्त हो जाने तथा सूर्योदय के हो जाने पर भी चद्र के वियोग से विकल नहीं होता। वह मुख-चद्र को निश्चल नेत्रों से देखता हुआ मन मे मुदित ही रहता है।

यह दोहा भाषा-प्रौढता और माधुर्य आदि मे श्रेष्ठ होता हुआ भी सौंदर्य-वर्णन का उत्कृष्ट उदाहरण है। सोचिए तो, कितना सुंदर मुख होगा।

यह तो हुआ खुले मुख का सौंदर्य-वर्णन। अब घूँघट मे छिपे हुए मुख का वर्णन देखिए—

कुच-वर्णन

चलन न पावत निगम मग, जग उपजी अति त्रास ,
कुच उतंग गिरिवर गह्यो मीना - मैन - मवास ।
(बिहारी-सतसई)

' कुचों के मारे निगम-मार्ग पर नहीं चल पाते, इससे संसार में अत्यत त्रास उत्पन्न हुई है। सारा ससार निगम-मार्ग पर न चल सकने के कारण बड़ा त्रस्त हो रहा है। कुच-रूप ऊँचे गिरि पर 'मैन-मीना' (कामदेव-रूपी लुटेरे) ने अपना (मवास) अड्डा बनाया है।" जो वहाँ से बेखबर होकर, असावधान रहकर जाना चाहते हैं, उन्हें वह काम-लुटेरा लूट लेता है, उनकी दुर्दशा करता है। यहाँ ध्वनि यह है कि जिन्हे श्रुति-मार्ग का अवलम्बन करना हो, निगम-पथ पर दृढ रहना हो, एव अपने कल्याण की चिंता हो, उन्हे चाहिए कि वे कुच-गिरि को बचाकर निकल जायँ, ताकि काम-लुटेरा उन्हें लूट न ले , उनकी आध्यात्मिक संपत्ति को उनसे छीन न ले। कैसे अनूठे ढग मे उपदेश दिया गया है। विलास-रोग से पीड़ित अज्ञानी रोगी को उपदेश की औषध किस अनोखे ढग से पिलाई गई है।

भाषा में मग, जग, मीना, मैन, मवास आदि शब्दों की मनोहरता और शब्दालंकार की प्रौढता किसे न मोह लेगी ?

कुच के विषय में महात्मा तुलसीदासजी भी कहते हैं—

तुलसी या जग आइकैं कौन भयो समरत्थ ;
इक कंचन अरु कुचन को किन न पसारे हत्थ ?
(दोहावली)

कंचुकी-वर्णन

अब देखिए, बिहारीलालजी किस प्रकार कंचुकी का उत्कृष्ट वर्णन करते हैं। लिखा है—

भई जु तन-छवि वसन मिलि, बरनि सकैं सु न बैन ;
अंग ओप आँगी दुरै, आँगी आँग दुरै न।
(बिहारी-सतसई)

कितना उत्कृष्ट सौंदर्य है ! अंग की दीप्ति का कैसा सजीव वर्णन है। इस दोहे के विषय मे अधिक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि हिंदी-संसार मे यह दोहा बहुत प्रसिद्धि पा चुका है। इसमे मीलित और तृतीय विभावनालंकार का अद्भुत संघट्टन है। शब्दालंकारों के विषय में कहना ही क्या है। माधुर्य-गुण और कैशिकी वृत्ति स्पष्ट ही है।

कटि-वर्णन

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किए नीठि ठहराइ ;
सूछम कटि परब्रह्म-सी अलख लखी नहिं जाइ।
(बिहारी-सतसई)

बुद्धि से अनुमान प्रमाण द्वारा और श्रुति से शब्द प्रमाण द्वारा ब्रह्म के समान कटि के अस्तित्व का कठिनता से निश्चय होता है। उसे प्रत्यक्ष प्रमाण या उपमान द्वारा नहीं जान सकते, क्योंकि वह सूक्ष्म एव अलख है, अतएव अगोचर है। स्थूल दृष्टि के नेत्रों के द्वारा हम उसे देख ही नहीं सकते।

इसके विषय मे विस्तृत वर्णन मैं बहुदर्शिता के अध्याय मे कर आया हूँ, पाठक वहाँ देखें। इसमे दार्शनिक सिद्धात एवं न्याय-शास्त्र के चारो प्रमाणों का उल्लेख बड़े ही अनूठे ढंग से किया गया है। धन्य हैं बिहारीलाल ! तुम नायिका की कटि में भी अखिल विश्व-व्यापी ब्रह्म के दर्शन करते हो। तुम्हारे हृदय की पवित्रता सराहनीय है।

इस दोहे के अनुपम भाव को कई हिंदी-कवियों ने अपनाया है। एक कोई कविजी इसी पर से लिखते हैं—

है तन ही में लखाति नहीं,
बर बूझिए जाय, तो हैं सब साखी ;

मानि लई सब ही अनुमान कै,
पेखी न काहू पसारिकैं आँखी।
जानत साँची कै यातें जहान जो
आगे ते बेद - पुरानन भाखी,
ब्रह्म - लौं सूक्षम है कटि राधे की,
देखी न काहू, सुनी सुनि राखी।

कैसे मजे से उडाया है। 'सूक्षम कटि परब्रह्म-सी' के स्थान मे बेचारो को 'ब्रह्म-लौं सूक्षम है कटि' लिख देना पडा है। करते तो क्या करते। महाकवि बिहारीलालजी के भाव को उड़ाने मे उनके पद का हरण किए बिना काम चल ही नहीं सकता। सवैया मे बेचारे कवि महोदय को बार-बार 'पेखी न काहू', 'देखी न काहू' और 'लखाति नहीं' कहना पड़ा है। चोर चोरी करते समय कुछ घबरा-सा जाता है। जान पडता है, *कविजी भी बिहारीलालजी का भाव उडाते समय घबराए* हुए थे। इसी से 'देखी न काहू', 'पेखी न काहू', 'लखाति नहीं' कहते गए, और अत में जब भावापहरण करते न बना, तो पद-हरण कर डाला। चरण-का-चरण उडा मारा। 'सूक्षम कटि परब्रह्म-सी' की जगह 'ब्रह्म-लौं सूक्षम है कटि' लिख मारा। सवैया दोहे तक कभी नहीं पहुँच सकता।

मीरन कवि भी बिहारीलालजी का भाव उडाते हुए लिखते हैं—

बुद्धि अनुमान कै प्रमान परब्रह्म जैस,
ऐसे कटि छीन कबि मीरन कहत हैं।

और सब ठीक है, पर 'कवि मीरन कहत हैं' सफेद झूठ है। इस पर हम क्या कहें। यहाँ तो चोरी और सीनाजोरी का मसला है। पाठक देखें कि मीरन की इस पक्ति मे 'बुद्धि अनुमान" प्रमान" परब्रह्म" कटि" ' ये बिहारीलालजी के दोहे के हैं। 'लौं' का 'जैसे' और सूक्षम का 'छीन' करने मे मीरन मुँह की खा गए।

'छीन' का ब्रह्म के साथ क्या सबंध ? बिहारीलालजी के नखकालों पर फटकार ! दिवाकर कवि कहते हैं—

राधिका के लंक लाल केलि परियंक पर,
नीठि नीठि ईश्वर-सी दीठि ठहराति है।

दिवाकरजी भावापहरण करके भी बिहारीलालजी के भाव का शताश भी न ला सके। इन्होंने दार्शनिक सिद्धात की मिट्टी पलीद कर दी। 'ईश्वर-सी दीठि ठहराति है' बिलकुल गलत है। जान पड़ता है, दिवाकरजी ईश्वर के स्वरूप के वर्णन से अनभिज्ञ थे। उन्हें यह भी विदित नहीं था कि ईश्वर दृष्टि का विषय नहीं है। वह 'अलख-अगोचर' है। इसी से वेदों ने उसे 'गोतीत' कहा है।

एड़ी-वर्णन

पाँय महावर दैन को नाइन बैठी आइ;
फिर-फिर जानि महावरी एड़ी मीड़त जाइ।
(बिहारी-सतसई)

देखिए, कैसा विचित्र सौंदर्य है—

"नाइन (उस सुदरी नायिका के) पैरों मे महावर लगाने आकर बैठी है। परतु भ्रम से वह उस नायिका की सुदर अरुण वर्ण की एड़ी को ही महावर जानकर (बिना महावर लगाए) एड़ी को मीडती जाती है।"

जब वह नाइन—जिसका व्यापार ही महावर लगाना है, जो महावर के रंग मे भली भाँति परिचित है, जो सदैव एक-से-एक बढ़कर सुदरी स्त्रियों के पैरों मे महावर लगाती है—चकित हो गई है, उसे ही एड़ी और महावर के रग मे कुछ अतर नहीं जान पड़ता, वह स्वय भ्रम-वश एड़ी को ही महावर जानकर मीड़ती जाती है, तब औरों की क्या गिनती ! एड़ी को 'जावक-सी' कहनेवाले कवि बिहारीलालजी के

इस वर्णन के सम्मुख झख मारते हैं। 'यह श्रम बादि बाल कवि करहीं" यह दोहा भ्रांति-अलंकार का अच्छा उदाहरण है।

गति-वर्णन

पग-पग मग अगमन परति चरन अरुन दुति झूलि,
ठौर-ठौर लखियत उठे दुपहरिया-सी फूलि।
(बिहारी-सतसई)

"मग में आगमन करते समय पग-पग पर चरण की अरुण द्युति झूल पड़ती है, जिससे ठौर-ठौर ऐसा दिखाई देता है, मानो दुपहरिया फूल उठी हो।"

यह दोहा भी बड़ा मनोहर है। इसमें अरुणोदय और दुपहरिया के फूल उठने का बड़ा ही सच्चा और प्राकृतिक वर्णन है। अरुणोदय पर दुपहरिया का पुष्प खिल उठता है, और दोपहर के समय पूर्णरूपेण विकसित हो जाता है। इस से लोग उसे दुपहरिया का पुष्प कहते हैं। यहाँ कवि का आशय यह है कि किसी अत्यंत सुंदरी नायिका का संपूर्ण शरीर तो वस्त्रों से ढका है, पर चरण खुले हैं। इसी कारण मार्ग में चलते समय डग-डग पर (कदम-कदम पर) उसके अरुण चरण की अरुणाई फैलती है, जिसे देखकर ठौर-ठौर के रसिक प्रेमी इस प्रकार प्रफुल्लित हो उठते हैं, जिस प्रकार अरुण के दर्शन से दुपहरिया के पुष्प ठौर-ठौर विकसित होने लगते हैं। सौंदर्यानुराग से हृदय-कली विकसित होती ही है।

भाव की दृष्टि से तो श्रेष्ठ है ही, पर भाषा की दृष्टि से भी यह दोहा बहुत ही ऊँचा है। 'पग-पग' और 'ठौर-ठौर' में वीप्सा का अद्भुत चमत्कार है। 'पग-पग मग अगमन' में वृत्त्यानुप्रास की बहार है। 'अरुन-चरन' में जो छेकानुप्रास है, वह हृदयहारी है। 'झूलि-फूलि' में अंत्यानुप्रास की उत्कृष्टता है। इसके अतिरिक्त 'पग-

पग परति', 'दुति-दुपहरिया' और 'अगमन-अरुन' आदि में भी जो भाषा-सौष्ठव है, वह दर्शनीय है।

सौंदर्य-वर्णन

बिहारीलालजी के सौंदर्य-वर्णन पर इस आलोचनात्मक ग्रंथ में कुछ लिखना व्यर्थ है, क्योंकि इस विषय में हिंदी में उनका प्रतिद्वंद्वी कोई है ही नहीं। उनकी नाजुकख़याली, बारीकबीनी, इबारत-आरई, अनूठी उपमाएँ, उनके चोज और उनका व्यंग्य, सभी विचित्र हैं। परंतु पाठकों के मनोरंजन के लिये उनके दो-चार दोहे यहाँ उद्धृत किए देता हूँ। देखिए—

मानहु बिधि तन अच्छ छवि स्वच्छ राखिबे काज;
दृग-पग पोंछन को किए भूषन पायंदाज़।
कहा कुसुम कहा कौमुदी, कितिक आरसी जोति;
जाकी उजिराई लखे आँख ऊजरी होति।
पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत इहि हेत;
दरपन कैसे मोरचा देह दिखाई देत।
अंग-अंग प्रतिबिंब परि दरपन से सब गात;
दुहरे, तिहरे, चौहरे, भूषन जाने जात।
लिखन बैठि जाकी सबिहिं गहि-गहि गरब गरूर;
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।
करत मलिन आछी छबिहिं, हरत जु सहज बिकास;
अंगराग अंगन लगै ज्यों आरसी उसास।
भूषन-भार सँभारिहै क्यों यह तन सुकुमार;
सूधे पाँय न धर परत सोभा ही के भार।

(बिहारी-सतसई)

इनके अतिरिक्त बिहारीलालजी ने भृकुटी, नासा-वेध, नासा-भूषण, बेसर-मोती, कर्ण-भूषण, ग्रीवा-कुच, त्रिवली, जघा, मुख, पायल और

अनवट आदि के वर्णन मे भी अनूठे दोहे लिखे हैं। बिहारीलालजी की वर्णन-शैली, भावोत्कृष्टता और काव्य-कला-कुशलता के विषय मे यही कह देना अलम् होगा कि जब गग और केशव-से कवियो के वर्णन समता के नहीं, तब अन्य कवियो की क्या गिनती। वे बेचारे किस लेखे मे ! स्मरण रहे, बिहारीलालजी ने शिख-नख के वर्णन में पूरा एक शतक लिखा है।

अनुदर्शिका

महाकवि श्रीबिहारीलालजी की अनुभूति और उनका व्यापक ज्ञान एवं अंतरंग और बहिरंग प्रकृति का पर्यवेक्षण उनकी सत-सई पढ़ने पर सहज ही बोधगम्य है। यह बात अवश्य है कि वह कला को सत्य और शिव, परंतु सुंदर अर्थात् श्रेय और प्रेय रूप में अभिव्यक्त करने की प्रणाली में आर्य साहित्य के वैज्ञानिक विश्ले-षणमय साहित्य-शास्त्र के अनुगामी थे परंतु उनकी रचना में काव्य की पूर्ण आत्मा प्रतिष्ठित है। किसी भी प्रणाली से विचार करो, पर यह निर्णय तो अंत में सभी को मान्य है कि काव्य यथार्थ में आत्मा की मनोमय संकल्पात्मक अनुभूति है, जो व्यक्ति द्वारा प्रकट की जाने के कारण उसकी निजी अनुभूति कही जा सकती है। ऐसी अनुभूति अन्य मनुष्यों में भी होती है, पर वे न तो वैसी सुंदर, सजीव कल्पना कर सकते हैं, और न उसे सरस प्रवाहमयी, भावानु-गामिनी भाषा में अलंकृत और सुहावने रूप ही में व्यक्त कर पाते हैं। संसार में विविध विषयों की अनुभूति को परिचित ज्ञान के साथ प्रेय-श्रेय रूप में व्यक्त करना ही कलाविद् का कार्य होता है।

बिहारीलालजी कलाविद् थे। वह यह जानते थे कि काव्य में ज्ञान-धारा अवश्य है, पर काव्य यथार्थ में श्रेयमय प्रेम-धारा-प्रधान रचना है। इसी से बिहारीलालजी के काव्य में प्रेम के विभिन्न अनुभावों की अभिव्यक्ति में आत्मा की अभिव्यंजना का मनोरम रूप है, जिसकी अभिव्यक्ति का उपकरण नर-नारी और परमात्म-विषयक प्रेम-वर्णन है। इसे हम प्रेम-वर्णन के अध्याय

में दिखला चुके है। यहाँ बिहारीलालजी की अन्य अनुभूतियों और उनके व्यापक ज्ञान का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

कविवर बिहारीलालजी ने अपनी अनुभूति से प्रेममय होकर प्रेय-श्रेयमयी एकरूपता की झाँकी देखी थी, और इसी कारण आत्मा की उस कल्पनामूलक अनुभूति को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है—

मै समुझ्यौ निरधार यह जग काँचौ काँच सौ,
एकै रूप अपार प्रतिबिंबित लखियत यहाँ।
(बिहारी-सतसई)

विश्व के एकत्व के ज्ञान के साथ-साथ आनंदमय विज्ञान की अनुभूति भी रसज्ञ कवि ने अवश्य ही की थी, इसी से तो विश्व के मूल परमात्मतत्त्व की भावयोगमयी अभिव्यंजना उनके निम्न-लिखित दोहे में प्रतिष्ठित है --

मोहनि मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ,
बसत सु-चित अंतर तऊ प्रतिबिंबित जग होइ।
(बिहारी-सतसई)

महाकवि बिहारीलालजी दौलत पर मरनेवाले नहीं थे। उन्होंने स्वयं अपने इष्टदेव परमात्मा से योग-क्षेम की प्रार्थना करते हुए लिखा है --

तौ अनेक अवगुन भरी चाहै याहि बलाय;
जो पत संपत हू बिना यदुपत राखै जाय।
(बिहारी सतसई)

यह भाव महात्मा कबीरदास के निम्न-लिखित दोहे के उत्कृष्ट भाव से अधिक जोरदार है—

सोको एता दीजियो जामैं कुटुम समाय;
आप न भूखा मैं रहूँ, साधु न भूखा जाय।

बिहारीलालजी सम्राटों, नरेशों एवं श्रीमानों में रहे हैं। उन्होंने श्रीमानों में रहकर भी उनके धन मद की सदैव तीव्र निंदा की है। लिखा है—

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाइ;
वहिं पाँयैं बौरात है, इहिं खाँयै बौराइ।
(बिहारी-सतसई)

उन्होंने कर्मचारियों और अधिकारियों को उनकी प्रवृत्तियों और उनके प्रजा-विरोधी कर्मों पर खूब ही झिड़का है। लिखा है—

दिन दस आदर पायकै कर लै आपु बखान;
जौ लगि काग सराधपख तौ लगि तुव सनमान।
गोधन तू हरष्यौ हियैं, लेहु घरीक पुजाय;
जानि परैगी सीस पै परत पसुन के पाँय।
(बिहारी-सतसई)

द्वितीय दोहे में अन्य मनुष्यों को पशु समझकर उनसे पशु-जैसा व्यवहार करनेवाले, अधिकार-मद में डूबे मनुष्य को जो झिड़की दी है, उसमें कुव्यवहार के दुष्परिणाम की ओर बड़ी कुशलता से जोर-दार इशारा है। अत्याचारी शासक के अंतिम परिणाम का सच्चा दृश्य बड़े ओजस्वी ढंग से उपस्थित किया गया है।

श्रीमान् लोग बहुधा दुर्गुणों से युक्त रहकर भी कीर्ति चाहते हैं। उनके आश्रित लोग उनका यशोगान करते रहते हैं, और श्रीमान् लोग उस यशोगान को श्रवण कर सचमुच अपने आपको उस यश के अधिकारियों के समकक्ष बड़प्पन से सपन्न समझने की भूल कर बैठते हैं। इस प्रकार के दंभ-पूर्ण, भ्रमात्मक आचरण पर कविवर बिहारीलालजी ने उन्हें झिड़का है। उन्होंने ऐसे मिथ्या यश की व्यर्थता बतलाते हुए कहा है—

बड़े न हूजे गुनन बिन विरद बड़ाई पाय;
कहत धतूरे सो कनक गहनो गढ़्यौ न जाय।
(बिहारी-सतसई)

बिहारीलालजी ने सपत्ति के बढ़ने पर मन के बढ़ने की अनुभूति करके ठीक ही कहा है—

बढ़त-बढ़त संपति-सलिल मन-सरोज बढ़ि जाय,
घटत-घटत फिर ना घटै, बरु समूल कुम्हलाय।
(बिहारी-सतसई)

प्रकृति मे विभिन्नता के दर्शन करनेवाले सूक्ष्मदर्शी कविवर बिहारीलालजी ने देखा था कि प्रकृति सपूर्ण प्राणियो मे विभिन्नता का दृश्य दिखला रही है। उन्होंने यह भी देखा था कि लाख सर पटकने पर भी प्रकृति मे अतर नहीं आता। अपने पृथक्-पृथक् स्वभावानुसार सब लोग कर्म मे प्रवृत्त होते हैं। इस दार्शनिक सत्य की अनुभूति के बाद ही बिहारीलालजी ने लिखा है—

कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहिं बीच;
नल-बल जल ऊँचौ चढ़ै, अंत नीच को नीच।
(बिहारी-सतसई)

प्रयत्न से नल का बल पाकर जल ऊँचा चढ जाता है, पर फिर भी स्वभाव से अधोगतिशील ही रहता है। नीच प्रकृति के लोग समझाने पर भी नहीं समझ पाते, प्रयत्न करने पर भी नहीं सुधर पाते। वे तो स्वभाव ही से अधोगतिशील रहते हैं।

बिहारीलालजी केवल पुरानों ही का आदर नहीं करते। यदि पुराने सदोष हों, तो वे उनके मत से निकृष्ट हैं, त्याज्य हैं। वे नवीनों को सम्मानित हुआ देखना चाहते हैं, यदि उनमे गुण हो। तात्पर्य यह कि पुराने यदि सदोष हों, तो त्यागने योग्य हैं; और नवीन यदि गुणमय हो, तो अगीकार करने योग्य हैं। उन्होंने लिखा है—

यदपि पुराने बक तऊ सरवर निपट कुचाल ;
कहा भयौ जो नए भए ये मनहरन मराल ।
(बिहारी-सतसई)

क्षुद्र हृदय के लोग अपने मुख अपनी प्रशंसा करते हुए बड़ी-बड़ी बातें मारा करते हैं। यह संसार में अधिकता से देखने में आता है। बहुदर्शी बिहारीलालजी ने इस पर कैसा ज़ोरदार व्यंग्य करते हुए लिखा है—

ओछे बड़े न ह्वै सकैं लगि सतरौंहैं बैन ;
दीरघ होंहि न नेकहू फारि निहारै नैन ।
(बिहारी-सतसई)

अल्पवित्त के छोटे लोग—दुर्बल-हृदय के तुच्छ लोग—भला बड़े वित्त के बड़े लोगों—उदार-हृदय के महाशयों—के किस काम के? कविवर लिखते हैं—

कैसैं छोटे नरन तैं सरत बडन के काम,
मढ्यौ दमामा जात क्यों लै चूहे कौ चाम ।
(बिहारी-सतसई)

द्रव्य-संग्रह के विषय में कविवर ने बहुत ही ठीक कहा है—

मीत न नीत गलीत यह जो धरिए धन जोरि ;
खाएँ-खरचैं जो बचै तौ जोरिए करोरि ।
(बिहारी-सतसई)

सच है, खाने और अत्यंत आवश्यक खर्चों के सिवा जो कुछ बचे उसे संग्रह करना ही अच्छा है। खाने और आवश्यक खर्च करने में कमी करके गलीत बनकर कुछ संग्रह करना यथार्थ में बदनामय होने से बुरा है।

संसार में बहुधा लोग अयोग्य होते हुए भी अपनी योग्यता का अभिनय करते हैं। श्रीमानों में बहुधा यही होता है। इस अनभिज्ञता के कारण गुण-हीन श्रीमान् बहुधा अयोग्य व्यक्तियों को गुणी समझकर

उनका आदर करते हैं, और यथार्थ गुणी लोगों का तिरस्कार करते हैं। बिहारीलालजी ने यही देखकर लिखा है—

अरे हंस वा नगर मे जैयो आपु सम्हार;
कागन सों जिन प्रीति कर कोयल दई बिडार।
(बिहारी-सतसई)

ऐसे दम्भी गुण-ग्राहकों पर हज़ार धिक्कार!

अयोग्य होते हुए भी अपनी मर्मज्ञता प्रदर्शित करने का दुस्साहस करनेवाले दम्भी लोगों का बिहारीलालजी ने खूब ही उपहास किया है। लिखा है—

कर लै सूँघि सराहिकै सबै रहे गहि मौन,
गंधी, गंध गुलाब कौ गँवई गाहक कौन?
(बिहारी-सतसई)

यहाँ 'गँवई' ध्वन्यात्मक शब्द-प्रयोग अज्ञानता के अर्थ में उसी प्रकार है, जिस प्रकार नागर या नागरी प्रवीणता के अर्थ में प्रयुक्त होता है। एक मनचले आलोचक, जो व्यन्यात्मक अर्थ ही नहीं समझ पाते, इसमें ग्रामीणों की निंदा सूँघकर एक पत्र में बिहारीलालजी पर कटाक्ष करने का निंद्य कार्य कर बैठे थे। इन अज्ञानी, मनचले विद्वान् बननेवाले साहित्य-सहारकों को लक्ष्य करके ही तो बिहारीलालजी ने यह दोहा लिखा है—

सीतलताऽरु सुगंध की घटै न महिमा मूरि;
पीनसवारो जो तजै सोरा जानि कपूर।
(बिहारी-सतसई)

अयोग्य व्यक्ति सिफारिशों अथवा ममता के बल से चाहे जितना सम्मानित क्यों न किया जाय पर वह आदरणीय श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ ही रहता है, और गुणी पुरुष सिफ़ारिश अथवा ममता आदि के बल से रहित होते हुए भी, चेमन से रक्खे

जाने पर भी, अपने गुण के कारण उच्चासन प्राप्त कर ही लेता है। गुण ही पूजनीय होता है। इस बात का अन्योक्ति के आवरण में बिहारीलालजी ने निम्न-लिखित दोहे में इस प्रकार वर्णन किया है—

मूड चढ़ाएं हू रहै परयौ पीठि कच-भार;
रहैं गरैं परि राखिबौ तऊ हियैं पर हार।
(बिहारी-सतसई)

कच-भार को गुण-हीन और हार को गुणवान् बनाकर फिर उन्हें क्रम से पीठ पर पीछे पड़े रहने और सम्मुख हृदय पर रहने का वर्णन बड़ा ही श्रेष्ठ और कलामय हुआ है। भाषा में मुहाविरों के बल से गंभीर अर्थ-व्यक्ति का मोहक गुण आ गया है।

दिनों के फेर का भी महाकवि बिहारीलालजी ने तमाशा देखा था। इसी से लिखा है—

मरत प्यास पिंजरा परयौ सुआ समै के फेर,
आदर दै-दै बोलियत बायस बलि की बेर।
(बिहारी-सतसई)

कभी-कभी मदांध लोग आदरणीय का भी तिरस्कार कर बैठते हैं। इसे लक्ष्य कर लिखा है—

जो सिर धरि महिमामयी लहियत राजा राउ;
प्रगटत जड़ता आपनी मुकुट सो पहिरत पाँउ।
(बिहारी-सतसई)

सच है, सम्माननीय का अनादर करनेवाले अपनी ही जड़ता प्रकटित करते हैं।

अत्यंत विनम्रता प्रदर्शित करने पर भी दुर्जनों का विश्वास न करना चाहिए। वे स्वार्थी दाँव देखकर हानि पहुँचानेवाले और अपना स्वार्थ सिद्ध कर ले जानेवाले होते हैं। बिहारीलालजी कहते हैं—

न ए चिससिए अति नए दुरजन दुसह सुभाय,
औंटे पर प्रानन हरत, कॉटे-लौ लगि पॉय।
(बिहारी-सतसई)

बिहारीलालजी भव-बाधा से त्रस्त अवश्य ही हुए थे, इसी से लिखा है—

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोय,
जा तन की झॉई परे स्याम हरित-दुति होय।
(बिहारी-सतसई)

ससार के चक्कर मे पडकर—ससार के कष्टो को देखकर—कायरो के समान भाग खडे होना बिहारीलालजी को अभीष्ट नहीं। वह ससार के कष्टो एव दुःखो पर विजय प्राप्त करनेवाले कर्म-योगी का मार्ग ठीक समझते है। जो सासारिक बाधाओं से डरकर भागना चाहते हैं, वे बाधाओ द्वारा परास्त किए जा सकते हैं। ससार की बाधाओ के कारण उसे छोडकर भागने की नीति का अवलबन करनेवाले को लक्ष्य कर बिहारीलालजी मृग और जाल की अन्योक्ति के आवरण मे कहते हैं—

को छूट्यो इहि जाल परि, कत कुरंग अकुलाय,
ज्यों-ज्यों छूटि भग्यो चहै, त्यो-त्यो उरझतु जाय।
(बिहारी-सतसई)

बिहारीलालजी दुःख से परिचित हुए, पर दुःख मे भी उन्हे सुख के दिनो की आशा थी। लिखा है—

इहि आसा अटक्यौ रहै अलि गुलाब के मूल,
ह्वैहैं फेर बसंत-ऋतु इन डारन वे फूल।
(बिहारी-सतसई)

उनके जीवन मे फिर वसत आया या नहीं कौन कह सकता है? तात्पर्य यह कि महाकवि बिहारीलालजी का ज्ञान अपरिमित था। उनकी

बहुदर्शिता उनकी सतसई में प्रकट हो रही है। वह अपने व्यापक ज्ञान और विलक्षण पांडित्य के ही कारण हिंदी के शृंगारी कवियों के सिर-मौर हैं। यहाँ विभिन्न शीर्षकों में बिहारीलालजी के व्यापक ज्ञान की गरिमा की एक सक्षिप्त झलक दिखलाना आवश्यक प्रतीत होता है, जिसमें सर्व-साधारण बिहारीलालजी के अनुप पांडित्य के विषय में अनेकानेक ज्ञातव्य बातें जान सकें।

१. पौराणिक बिहारी

मोर-मुकुट की चंद्रिकन यों राजत नँदनंद,
मनु ससि-सेखर की अकस किए सिखर सतचंद।
(बिहारी-सतसई)

मोर-पंख में जो चंद्र का आकार होता है, उसे सबने देखा होगा। प्रकृति-निरीक्षक बिहारीलालजी ने इसी को देखकर, श्रीमद्भागवत में वर्णित भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान् शंकर के युद्ध की पौराणिक आख्यायिका का सहारा लेकर उत्प्रेक्षालंकार में कितने अनूठे ढंग से बात कही है, यह देखिए, और प्रखर प्रतिभा-संपन्न महाकवि की प्रशंसा कीजिए।

"मोर-पंख के मनोहर मुकुट की चारु चंद्रिकाओं से नंदनंदन भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार शोभित होते हैं, मानो चंद्रमौलि भगवान् शंकर के विरोध से उन्हें नीचा दिखलाने के लिये अपने सिर पर सौ चंद्रमाओं को धारण किया हो।"

भगवान् शंकर के सिर पर तो केवल एक चंद्र है, परंतु श्रीकृष्ण प्रभु ने सौ चंद्रमाओं को प्रकट करके अपने सिर पर धारण किया है।

महाभारत में वर्णित द्रौपदी-चीर-हरण की आख्यायिका अत्यंत प्रसिद्ध है। भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से द्रौपदी का चीर ऐसा बढ़ा कि दुःशासन खींचते-खींचते थक गया, पर उसका छोर न पा सका।

कविवर बिहारीलालजी इसी आख्यायिका का सहारा लेकर किसी विरहिणी नायिका का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

रह्यो ऐंचि अंत न लह्यो अवधि-दुसासन बीर;
आली, बाढ़त बिरह ज्यों पंचाली को चीर।
(बिहारी-सतसई)

"अवधि (के समय) रूप वीर (महारथी) दु शासन विरह-रूपी वस्त्र को खूब ही खींच रहा है, पर उसका छोर हाथ नहीं आता। हे सखी वह (विरह) द्रौपदी के चीर के समान बढ़ता ही जाता है, घटता नहीं।"

रूपक से परिपुष्ट पूर्णोपमालकार की छटा इस दोहे मे दर्शनीय है।

इस दोहे में कितने पते की बात कही गई है, इसे वे ही जान सकते हैं, जिन्हें विरह की व्यथा सहनी पड़ी हो, एव जो अवधि की घड़ियाँ गिनते-गिनते मिलन के लिये अत्यत उत्कठित होते रहे हों।

दैत्यराज बलि ने बड़े-बड़े यज्ञ वेद-विहित विधि से किए थे, उनके करने से वह सुरलोक मे इद्रासन प्राप्त करने के अधिकारी हो गए थे। यह देखकर इद्र भयभीत हुए। इद्र ने देवताओ की माता अदिति को भगवान् विष्णु के पास भेजा, और यह प्रार्थना कराई कि भगवान् विष्णु किसी भी प्रकार दैत्यराज बलि को इद्रासन का अधिकारी न बनने दे। बलि दैत्यराज थे, अतएव उनका इद्र होना भगवान् विष्णु को भी हानिकर प्रतीत हुआ। यद्यपि बलि से कोई हानि नहीं थी, पर उनके सबधी दैत्यो से बहुत कुछ अनिष्ट की आशका थी, क्योंकि बलि के देवनायक होने पर उनके सबधी बलवान् हो जाते, यह अवश्यभावी था। पूर्णरूपेण विचार करके भगवान् विष्णु ने वामन-अवतार धारण किया। वह बलि के यहाँ पहुँचे। यज्ञ की पूर्णता के लिये अतिथि-सत्कार करना आवश्यक जान बलि ने उनका यथोचित सत्कार किया। वामन ने अनुकूल समय

देखकर दैत्यराज बलि से तीन डग धरती तपस्या के अर्थ आश्रम बनाने के निमित्त माँगी। बलि ने इस तुच्छ माँग को बिना किसी हिचकिचाहट के सहर्ष स्वीकार किया। दान माँगते समय भगवान् वामन का रूप बहुत छोटा था, परतु दान लेते समय उन्होंने विराट् स्वरूप धारण कर लिया, और तीन डग में सुरलोक और मृत्युलोक आदि को नाप लिया। यह कथा भागवत में विस्तार से कही गई है। इसी कथानक का उल्लेख करते हुए कविवर बिहारीलालजी ने व्यग्य-प्रधान उत्तम काव्य में कैसी विदग्धता से किसी गोपिका द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति कहलाया है—

छ्वै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाय;
बलि-बामन को ब्योत सुनि को बलि तुम्हैं पत्याय।
(बिहारी सतसई)

"हे श्रीकृष्ण, तुम अत्यत दीनता दिखाकर 'छिगुनी' छूकर पहुँचा पकड़ते हो, पर ऐसी कौन होगी, जो बलि और वामन की कथा और उसका कपटमय व्यवहार (चुन) जानकर भी तुम पर भरोसा करे।"

यह दोहा अच्छा बन पड़ा है। छ्वै, छिगुनी, दीनता, दिखाय और बलि-बामन-ब्योंत की मधुरता देखिए, एवं लोकोक्ति, दृष्टात, छेक और वृत्त्यानुप्रास की स्पष्टता और उनके स्वाभाविक सौंदर्य पर ध्यान दीजिए। नायिका के गूढ व्यग्यमय परिहास का यह दोहा उत्कृष्ट उदाहरण है।

कौरवराज दुर्योधन को यह शाप था कि जब तुझे हर्ष और शोक एक ही साथ होंगे, तब तेरे प्राण जायँगे। इसी आख्यान का आधार लेकर कविवर बिहारीलालजी कहते हैं कि किसी नायिका को पीहर जाने का तो हर्ष था, पर प्रियतम के बिछुड़ने का दुस्सह दु:ख। इस हर्ष-शोकमय स्थिति में पड़कर वह किंकर्तव्य-विमूढ हो रही थी। उसकी अवस्था शोचनीय-सी हो रही थी। देखिए, इसी बात को

पूर्णोपमालंकार की मधुरता में परिपक्व कर बिहारीलालजी दोहे की पिटारी में किस प्रकार रख रहे हैं। लिखते हैं—

पिय-बिछुरन का दुसह दुख हरप जात प्योसार,
दुरजोधन- लौं ेखियत तजत प्रान इहि बार।
(बिहारी-सतसई)

कौरवराज दुर्योधन को जल-स्तंभन-विद्या सिद्ध थी। उसी के बल से वह सरोवर में जल के भीतर कई दिन तक उस समय छिपकर रहे थे, जब युद्ध का प्रायः अंत हो गया था, और उसके ९९ भाई मारे जा चुके थे। कहते हैं, वहाँ वह कोई प्रयोग सिद्ध कर रहे थे। यदि वह उसमें सफल हो जाते, तो अपने भ्राताओं को पुनरुज्जीवित कर लेते। परंतु पराक्रमी भीमसेन ने उनका सारा खेल बिगाड़ दिया। भीमसेन ने सरोवर के तट पर खड़े होकर उनसे कायर और निर्लज्ज आदि अपशब्द कहे, जिन्हें श्रवण कर वह क्रोधोन्मत्त हो सरोवर के जल से बाहर निकले, एवं भीमसेन से गदा-युद्ध करने पर मारे गए। इस कथानक से दुर्योधन की जल-स्तंभन-विद्या का उल्लेख करते हुए बिहारीलालजी ने किसी व्यथित नायिका से कहलाया है—

बिरह-बिथा-जल-परस-बिन बसियत मो हिय-ताल,
कछु जानत जल-थंभ-बिधि दुरजोधन-लौं लाल।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में कोई प्रोषितपतिका नायिका अपने हृदय-देश में बसी हुई अपने प्रियतम की मूर्ति को प्रत्यक्ष प्रियतम समझकर कहती है—

"हे लाल! दुर्योधन के समान आप भी जल-स्तंभन की कोई विधि जानते हो, इसी कारण विरह-व्यथा-रूपी जल के स्पर्श से बचे रहकर आप मेरे हृदय-सरोवर में वास करते हो।"

यह दोहा काव्य-कला-कुशलता और भावुकता में अद्वितीय है। इसमें नायक की कठोर-हृदय दुर्योधन से उपमा कितनी स्वाभाविक

है। प्रेमिका के सरस, प्रेमी हृदय को 'हिय-ताल' के रूपक में रखना कितना स्वाभाविक और चमत्कारी है। 'बिरह-बिथा-जल-परस-बिन' कहने के पश्चात् 'कछु जानत जल-थम-बिधि' कहने में जो भाव और चातुर्य हैं, वे अनूठे हैं। विस्तार-भय से अधिक न लिखकर मैं इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि 'बिरह-बिथा-जल-परस-बिन' में अलौकिक आनददायी भाव है। कितनी बारीकबीनी और कैसी सूक्ति है? जब नायक को विरह-व्यथा-जल का स्पर्श ही नहीं होता, तब वह उपेक्षा करेगा ही। नायिका की विरह-व्यथा की उपेक्षा करना उसे तो साधारण-सी बात है।

अन्यान्य सभी पुराणों से महाकवि बिहारीलालजी परिचित जान पड़ते हैं। मैं यहाँ विस्तार-भय से केवल दो-एक उदाहरण और देता हूँ। देखिए—

रामायण में वर्णित श्रीसीताजी की 'अग्नि-परीक्षा' का उल्लेख करते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

बसि सकोच-दस-बदन-बस, साँच दिखावत बाल ;
सिय-लौं सोधति तिय तनहिं, लगनि अगनि की ज्वाल।
(बिहारी-सतसई)

राक्षस अघासुर ने जब ग्वाल-बाल-समेत गायों को अपने उदर में रख लिया, तब भगवान् श्रीकृष्ण ने उसका नाश कर उन्हें उसके पेट से निकाला, और उनकी रक्षा की। इसी का आश्रय लेते हुए बिहारीलालजी कहते हैं—

यों दल काढ़े बलख तैं तूँ जयसाह भुआल ;
उदर-अघासुर के परे ज्यों हरि गाय-गुवाल।
(बिहारी-सतसई)

जब इंद्र की पूजा रोककर भगवान् श्रीकृष्ण ने गोवर्धन की पूजा कराई, तब इंद्र क्रुद्ध हो गए, और उन्होंने सात दिन-रात ब्रज पर

प्रलय के मेघों द्वारा मूसलधार जल बरसाया। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्रज की रक्षा के लिये गोवर्धन-पर्वत को अपनी छिगुनी पर उठाया था। उसी कथानक का वर्णन करते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

प्रलयकरन बरसन लगे जुरि जलधर इक साथ;
सुरपति-गर्व हर्‌यो हरषि गिरिधर गिरि धर हाथ।
(बिहारी-सतसई)

तात्पर्य यह कि महाकवि बिहारीलालजी ने पौराणिक कथानकों का वर्णन अपने मुख्य विषय के साथ-साथ कितना कवित्व-पूर्ण किया है, यह मर्मज्ञ विद्वान् ही देखें। ऐसे कवि प्रायः दुर्लभ होते हैं।

२. ज्योतिषज्ञ बिहारी

कविवर बिहारीलालजी का ज्योतिष-ज्ञान भी अपरिमित था। मैं यहाँ केवल तीन दोहे उद्धृत करता हूँ, उतने से ही हमारे पाठक संतोष करेंगे।

निम्न-लिखित दोहे में बड़े पुण्य से प्राप्त होनेवाले सक्रांति के पर्व का वर्णन रूपक में है। जब दो राशियों के मध्य में सूर्य आता है, तब सक्रांति होती है, और सक्रांति का वह अल्प समय पुण्य-काल माना जाता है। इसी बात का उल्लेख करते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

तिय-तिथि, तरनि-किशोर वय, पुन्य-काल सम दोन.
काहू पुन्यनु पाइयनु बैस-संधि संक्रोन।
(बिहारी-सतसई)

दूती नायक को नायिका से मिलाने के उद्देश्य से कहती है—

"हे नायक, नायिका ही तिथि है, किशोर वय ही सूर्य है। किशोर और तरुण अवस्थाओं की संधि ही दो राशियों के मध्य का काल है। यह वय-संधि और सक्राति दोनो समान पुण्य-काल है। इनकी प्राप्ति किसी बड़े पुण्य-प्रताप से होती है। जो इस सक्रांति में—पर्व-काल में—गंगादि तीर्थों मे मज्जन करते और दान देते हैं, वे ही इस पर्व-काल

में पुण्य और सुख के भागी होते हैं। अतएव तुम उस तिय-तीर्थ में वय-संधि-काल में क्रीडा करो, प्रेम का दान करो, और अपने पुण्य का फल भोगो, नहीं तो इस वय-संधि के पर्व-काल के व्यतीत हो जाने पर तुम पछताते रह जाओगे।"

दोहे में सविषय सावयव रूपकालंकार की छटा दर्शनीय है।

जब बृहस्पति और मंगल के साथ चंद्रमा एक राशि पर आता है, तब जगद्व्यापी जल-योग होता है। 'बिंदी' का वर्णन करते हुए महाकवि बिहारीलालजी मनोहर श्लेष से परिपुष्ट रूपकालंकार बाँधते हुए इसी सिद्धांत को इस प्रकार कहते हैं—

> मंगल - बिंदु - सुरंग, ससि-मुख, केसर-आड़-गुरु ;
> इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन-जगत।
>
> (बिहारी-सतसई)

"सुंदरी नायिका के भाल में लगी हुई (सौभाग्य-सूचक) लाल रंग की रोरी की बिंदी मंगल है। मुख चंद्रमा है। पीतवर्ण की केशर की आड़ बृहस्पति है। इन सबने एक 'नारी' (नाड़ी व स्त्री) में स्थित होकर लोचन-जगत् (संसार-रूपी नेत्रों) को रसमय (जलमय व शृंगाररसमय) कर दिया *।"

शास्त्रों में मंगल का लाल और बृहस्पति का पीला रंग लिखा है। 'मुख-चंद्र' ठीक ही है।

इस दोहे की टीका में पंडित पद्मसिंह शर्मा अपने संजीवन-भाष्य के भूमिका-भाग के पृष्ठ १९९ पर लिखते हैं—

---

* प्राग्राशितोऽपरराशौ संक्रमणं संक्रान्तिः।

(मुहूर्तचिन्तामणौ पीयूषधाराटीकायां संक्रांति प्रकरण, पृष्ठ ११२)

> एकनाडीसमारूढौ चन्द्रमाधरणीसुतौ ;
> यदि तत्र भवेज्जीवस्तदैकार्णविता मही।
>
> (वृष्टि-प्रबोध—सप्तनाडीचक्रप्रकरण)

"इन सबने एक नारी (स्त्री, राशि) में इकट्ठे होकर संसार के नेत्रों को रसमय (अनुरागमय, जलमय) कर दिया—"

फिर लिखते हैं—"यह सोरठा समस्त वस्तु-विषय सावयव रूपक का .....उत्कृष्ट उदाहरण है।"

मुझे तो शर्माजी के दोनो कथनों में वदतो व्याघात-दोष स्पष्ट दिखाई देता है। जब शर्माजी दोहे में समस्त वस्तु-विषय सावयव रूपक मानते हैं, तब 'लोचन-जगत' में वह रूपक गया कहाँ? मेरे विचार से शर्माजी दोहे को समझे नहीं। शर्माजी के अर्थ के अनुसार तो नायिका के 'बिंदी' लगे मुख को देखकर सब ससार—जिसमें पिता-भ्राता व मातुल आदि सभी आ जाते हैं—शृंगारमय हो जाता है, जो सर्वथा अनुचित है। बिहारीलालजी ऐसा अनुचित वर्णन कदापि नहीं कर सकते। दोहे में 'लोचन-जगत' से लोचन-रूपी जगत् स्पष्ट है। इससे रूपक की पूर्णता भी नष्ट नहीं होती, और वर्णन में भी अनौचित्य का आगमन नहीं होता।

जन्म-समय में यदि शनि गुरु की राशि अर्थात् धन या मीन में और स्वराशि अर्थात् मकर या कुंभ में तथा उच्च राशि तुला में हो, तो इस सुलग्न में जन्म लेनेवाला मनुष्य नृपति होता है*।

* गुरुस्वर्क्षोच्चस्थे नृपतिसदृशो ग्रामपुरप,
सुविद्वांश्चावंगो" ... .

(बृहज्जातक—वराहमिहिराचार्य)

तथा—

स्वोच्चस्वकीयभवने क्षितिपालतुल्यो
लग्नेऽर्कजे भवति देशपुराधिनाथ।

प्रसूतिकाले नलिनीशसूनुः स्वोच्चत्रिकोणर्क्षगतो विलग्ने,
कुर्यान्नर देशपुराधिनाथं ... .।

(जातकाभरणम्—शनि-भावफलम्)

इसी सिद्धात का आश्रय लेकर कविवर बिहारीलालजी कहते हैं—

सनि कज्जल, चख झख लगनि, उपज्यो सुदिन सनेह;
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लगि सुदेस सब देह।
(बिहारी-सतसई)

"आँख का काजल शनि है, 'चख' (चक्षु) मीन लग्न है, ऐसे सुयोग में जिसका जन्म हुआ है, वह स्नेह (बालक) सर्व शरीर-रूपी देश पर अधिकार जमाकर क्यों न राज्य करेगा।" ज्योतिष के फलादेश में किसे सदेह हो सकता है !

२ नीतिज्ञ बिहारी

(१) जिन्होंने ससार का इतिहास पढा है, वे इस बात को भली भाँति जानते हैं कि जब प्रजा पर दुहरे शासकों का शासन होता है, तब वह अशाति का क्रीडा-स्थल बन जाती है। उसके दुःखों की बेतरह बढती होती है। उसकी पीडा परा काष्ठा को पहुँच जाती है। यह बात अमावस्या के अधकार का दृष्टात देते हुए बिहारीलालजी ने बडे ही मार्मिक ढग से कही है। सूर्य और चद्र के एक राशि पर आने से अमावस्या के दिन घोर अधकार छा जाता है, इसी प्रकार एक ही देश पर दो राजाओं का या दुहरा शासन होने से प्रजा पर आपत्ति के बादल छा जाते हैं। कितने पते की बात और वह भी कितने निराले ढग से कही है। यह देखिए—

दुसह दुराज प्रजानि कों क्यों न बढ़ै दुख-दंद,
अधिक अँधेरो जग करत मिलि मावस रबि-चंद।
(बिहारी-सतसई)

(२) श्रुति-स्मृति और नीतिज्ञ लोगों का यही कहना है कि राजा, पातक और रोग निर्बल को ही दबाते हैं। निर्बल जाति को राजा,

निर्बल शरीर को रोग और निर्बल आत्मा के लोगों को पाप दबाते ही हैं। यह एक स्वाभाविक नियम है। जो राष्ट्र या जो जाति बल-सपन्न है, उससे शासक भय खाता है, अतएव यदि किसी जाति को शासक के अत्याचारो से मुक्त होना है, शासक के अनुचित दबाव को उठा देना है, तो पहले उसे बल-सपन्न होना चाहिए। बिना बल-सपन्न हुए उसका निस्तार नहीं। इसी प्रकार निर्बल शरीर को रोग दबाते हैं। कहावत प्रसिद्ध है—"हीन देखकर रोग दबाते हैं।" निर्बल आत्मा के लोगों को पाप अपने वशीभूत करता है, अर्थात् दुर्बल-हृदय होने से उनमे मानसिक बल नहीं होता, अतएव वे जब चाहें, तब पाप करने को तैयार हो जाते हैं। इसी सिद्धात को, इसी गहन सिद्धात को, महाकवि बिहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहे मे देखिए—

> इहै कहैं स्रुति-सुमृति औ' यहै सयाने लोग,
> तीन दबावत निसक हीं राजा, पातक, रोग।
>
> (बिहारी-सतसई)

(३) राजनीति-प्रवीण योग्य शासक का यह कर्तव्य-कर्म है कि वह अपने ही पक्ष के लोगों की बढती करे—अपने पक्ष के लोगों की मान-मर्यादा बढावे। ससार के सभी योग्य शासक ऐसा ही करते हैं। राजनीति का यह एक बड़े काम का सिद्धात है। जिस शासक के पक्ष के लोग अधिक रहेंगे, उसी का शासन सुदृढ रहेगा, और वही अच्छा शासक कहलावेगा। साथ-साथ अन्य निकटवर्ती शासक भी उसे बलवान् समझेंगे, एव उसका राज्य सुदृढ और सगठित होगा। शासन की बागडोर उसी के हाथ में रहेगी। ससार में जिसका पक्ष अधिक है, जिसकी बहुसख्या है, वही बली है। राजनीति के इस गहन सिद्धात को कविवर बिहारीलालजी किस विदग्धता से काव्य के साँचे में ढालकर कहते हैं। यह देखिए—

अपन अंग के जानिकै जोवन-नृपति प्रवीन;
स्तन, मन, नयन, नितंब को बडो इजाफा कीन।
(विहारी-सतसई)

"यौवन-नृपति ने अपने पक्ष के जानकर (तरुणी के) स्तन, मन, नयन और नितंब को बड़ी तरक्की दी, उनकी अधिक मर्यादा बढ़ाई।"

(४) जब कोई सुदूरस्थ शासक किसी दूरवर्ती देश का शासन करने के लिये अपने किसी राजभक्त, विश्वास-पात्र हाकिम या गवर्नर को भेजता है, तब वह गवर्नर उस सुदूरवर्ती देश में जाकर उस देश के बल को घटाने और अपना राज्य दृढ़ रखने के लिये अपने बुद्धि-बल से अथवा अपनी राजनीति-प्रवीणता के बल से उस देश की बढ़ी हुई संगठित शक्ति को घटाकर बल-हीन बना देता है, और दिखावा-स्वरूप किसी घटी हुई निर्बल शक्ति को बढ़ा देता है। यही उस हाकिम या गवर्नर का कर्तव्य होता है। यदि वह इस कर्तव्य का पालन कर सकता है, तो वह गवर्नर योग्य और प्रवीण समझा जाता है, और उसकी हुकूमत का समय सफल समझा जाता है। प्रवीण राजनीतिज्ञ पुरुष इस विषय को भली भाँति जानते हैं। इस संपूर्ण विषय को मुग्धा नायिका के अवयवों की चढ़ती दिखलाते हुए छोटे-से दोहा-छंद में कह जाना विहारीलालजी-सदृश महाकवि का ही काम है। देखिए—

नव-नागरि-तन-मुलक लहि, जोवन आमिल जोर;
घटि बढ़ तें बढ़ घट करी रकम और की और।
(विहारी-सतसई)

(५) यदि दुष्ट स्वभाववाला मनुष्य अत्यंत नम्रता या विनय भी दिखलावे, तो भी उसका विश्वास कभी न करना चाहिए। इसी बात का उपदेश देते हुए विहारीलालजी लिखते हैं—

न ए बिससिए अति नए दुरजन दुसह सुभाय,
आँटे पर प्रानन हरत काँटे लौं लगि पाय।
(बिहारी-सतसई)

महात्मा तुलसीदासजी भी इसी सिद्धात को इस प्रकार लिखते हैं—

नमन नीच की अति दुखदाई;
जिमि अकुस, धनु, उरग, बिलाई।
(रामायण)

(६) छोटे हृदयवाले तुच्छ मनुष्य महापुरुषो के कार्य मे किसी भी प्रकार की सहायता पहुँचाने मे सदैव असमर्थ हैं। छोटो से बडे काम कभी सपादित नहीं हो सकते। कहीं चूहे के चमडे से भी ढोल मढ़ा जा सकता है—

कैसे छोटे नरन तैं सरत बड़न के काम;
मढ़्यो दमामा जात क्यो लै चूहे को चाम।
(बिहारी-सतसई)

(७) इस ससार मे उसी का आदर होता है, जिसके शरीर मे बुराई का वास होता है, अर्थात् जिससे अनिष्ट की आशका रहती है, लोग उससे डरते हैं, इसी कारण उसका आदर करते हैं। उत्तम ग्रह जैसे बृहस्पति आदि के लिये कोई जप नहीं कराता—दान नहीं देता, परतु राहु और शनि-सदृश कुग्रहों के लिये लोग जप कराते हैं, दान देते हैं, क्योंकि उनसे अनिष्ट की आशका रहती है। महाकवि बिहारीलालजी लिखते हैं—

बसै बुराई जासु तन, ताही को सनमान,
भलो भलो कह छाँड़िए खोटे ग्रह जप-दान।
(बिहारी-सतसई)

(८) यदि बुरे स्वभाववाला पुरुष बुराई छोड़ दे, तो मन अत्यत शकित होता है, क्योंकि उसका बुराई छोड़ देना किसी प्रकार

का भारी अनिष्ट करता है। उसका बुराई छोड़ना उसी प्रकार हानिकारक समझना चाहिए, जिस प्रकार चंद्रमा को कलंक-रहित देखकर संसार किसी भारी अनिष्ट का आगमन समझता है। समर्थ कवि बिहारीलालजी लिखते हैं—

बुरो बुराई जो तजै, तो मन खरो सकात,
ज्यौं निकलंक मयंक लखि गनैं लोक उतपात।
(बिहारी-सतसई)

(९) मनुष्य की और नाले के पानी की एक-सी गति समझना चाहिए। वह जितना नीचा होकर चले, उतना ही ऊँचा होता है। नाले का पानी जितना नीचा होकर बहता है, उतना ही गहराई लिए होता है – उतना ही ऊँचा होता है। इसी प्रकार मनुष्य जितना नम्र और विनय-शील होता है, उतना ही उच्च अर्थात् गंभीर अतएव सम्माननीय होता है। महाकवि बिहारीलालजी कहते हैं—

नर की अरु नल-नीर की एकै गति कार जोइ
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होइ।
(बिहारी-सतसई)

इसी सिद्धांत को लक्ष्य करके गुरु नानक कहते हैं—

नानक नन्हें ह्वै चलो, जैसे नन्हा दूब,
घास-फूस जर जाइगो, दूब रहैगी खूब।

(१०) किसी कारण-वश यदि तुच्छ पुरुषों को सम्मान दिया जाय, तो क्या हुआ, वे सदैव आदरणीय कभी नहीं हो सकते। इस सिद्धांत को हृदयग्राही अन्योक्ति का आश्रय लेकर समर्थ कवि बिहारी-लालजी कहते हैं—

दिन दस आदर पायकै कर लै आपु बखान;
जो लगि काग सराध-पख, तौ लगि तुव सनमान।
(बिहारी-सतसई)

"हे काग ! दस-पाँच दिन के लिये आदर प्राप्त कर तू अपनी प्रशसा गा ले। तेरा सम्मान तभी तक है, जब तक श्राद्ध-पक्ष है। श्राद्ध-पक्ष के निकल जाने पर - व्यतीत हो जाने पर—कोई तेरी बात भी न पूछेगा।" कैसी हृदयहारी अन्योक्ति कही है।

(११) यदि दामाद (जमाई) श्वशुर-गृह में श्वशुर के आश्रित होकर रहने लगे, तो उसका मान घट जाता है। न तो आते समय ही उसे कोई जानता है, और न जाते समय। बड़ा विकट अनादर हो जाता है। क्योंकि वह अपना तेज खो बैठता है। जब तक तेज है, तभी तक आदर है, बड़प्पन है, पूछ है। तेजवान् पुरुष के आते-जाते समय लोग उसे आदर देते हैं, राम-रहीम करते हैं। परतु श्वशुर के आश्रित तेज-हीन जमाई का कुछ भी आदर नहीं रहता, वह पूस के दिन के समान आता-जाता है। जिस प्रकार पूस का दिन-मान बहुत घट जाता है, उसी प्रकार उस जमाई का मान बहुत घट जाता है। समर्थ महाकवि बिहारीलालजी कहते हैं—

आवत-जात न जानिए तजि तेजहिं सियरान,
घरहि - जमाई लौं घट्यो खरो पूस - दिन - मान।
(बिहारी-सतसई)

कोई सस्कृत-कवि कहता है—

अधमाः मातुलाख्याताः श्वशुराश्चाधमाधमा।
(बिहारी-सतसई)

अब विस्तार-भय से मैं अन्य उदाहरण देने में असमर्थ हूँ। विवेचक विद्वान् उन्हें सतसई में स्वय देखें। बिहारीलालजी का एक अपूर्व सिद्धात और लिखता हूँ—

अपत भए बिन पायहै क्यों नव दल-फल-फूल ?
(बिहारी-सतसई)

जब तक आपत्ति नहीं भोगोगे, तब तक सौख्य और उन्नति की प्राप्ति

हो ही नहीं सकती। कितनी सगत बात है, एव कैसा उत्कट उपदेश है। जब तक बीज मिट्टी में नहीं मिल जाता, तब तक अंकुर नहीं निकलता, और न वह एक से पचास होकर अपनी उन्नति कर पाता है। उन्नति के लिये कष्ट उठाने की आवश्यकता है। चाहे जातीय उन्नति हो, चाहे देशोन्नति, चाहे आत्मोन्नति। प्रत्येक प्रकार की उन्नति के लिये 'अपत' होकर कष्ट भोगने की आवश्यकता है। विना स्वार्थ-त्याग किए सच्ची उन्नति असभव है। तुच्छ स्वार्थों के बलिदान से ही उन्नति की देवी प्रसन्न होती है।

४. आयुर्वेदज्ञ बिहारी

(१) यह बिनसत नग राखिकैं जगत बड़ो जस लेहु ;
जरी विषमजुर ज्याइए, आय सुदरसन देहु।
(बिहारी-सतसई)

"इस नाश को प्राप्त होनेवाले 'नग' (नारी-रत्न) की रक्षा करके जगत् में बड़ा यश प्राप्त करो। वह (विरह) विषमज्वर में जल रही है, उसे सुदर्शन (सुंदर दर्शन और सुदर्शन-चूर्ण) देकर जीवित रक्खो।'

इस दोहे में 'सुदरसन' और 'विषमजुर' श्लिष्ट पद हैं। विषम ज्वर पर सुदर्शन-चूर्ण का प्रयोग लिखकर कवि ने अपने आयुर्वैदिक ज्ञान का परिचय दिया है। आयुर्वेद के ग्रंथों में विषमज्वर पर सुदर्शन का प्रयोग अत्यत प्रसिद्ध है। देखिए—

सुदर्शन नाम मरुद्बलासा-
मयोद्भवान्हन्ति पृथक्कृताञ्ज्वरान्,
सुदर्शनं दानवनाशनं यथा
सुदर्शनं रोगविनाशनं तथा।
(भेड़संहिता)

एतत्सुदर्शनं नाम चूर्णं दोषत्रयापहम्,
ज्वरांश्च निखिलान्हन्यान्नात्र कार्या विचारणा।

तथा—

ज्वराणां वै तु सर्वेषामिदं चूर्णं प्रणाशनम्।

(शार्ङ्गधर-संहिता)

(२) वैद्य—वैद्य को नाडी-ज्ञान, नाडी-ज्ञान से रोग का निदान और रोग के निदान पर औषधि का प्रयोग—इसके सिवा वैद्यक में और है ही क्या? इसी बात को स्पष्ट करते हुए महाकवि बिहारीलालजी ने यह सोरठा कहा है—

मैं लखि नारी-ज्ञान करि राख्यो निरधार यह,
वहई रोग-निदान, वैद्य वहै, औषधि वहै।

(बिहारी-सतसई)

पूर्वानुरागिणी नायिका की विरह-वेदना बढ़ गई है। वह भेद छिपाती है। तब कोई अंतरंगिणी सखी उससे कहती है—

"मैंने नारी-ज्ञान (नाडी-ज्ञान, नारी-ज्ञान अर्थात् स्त्रियों की चेष्टादि से उनका हाल जानना) देखकर यह निश्चय कर रक्खा है कि तुम्हारे रोग का कारण वही है, तेरी औषधि वही है, और तुम्हारा वैद्य वही है (जिससे तू प्रेम करती है)।"

५. दार्शनिक बिहारी

(१) कटि के संबंध में सुकवि बिहारीलालजी लिखते हैं—

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किए नीठि ठहराय,
सूछम कटि परब्रह्म लौं अलख लखी नहिं जाय।

(बिहारी-सतसई)

बुद्धि से अनुमान-प्रमाण द्वारा और श्रुति (वेद, श्रवण) से शब्द-प्रमाण द्वारा ब्रह्म के समान कटि का निश्चय होता है। उसे प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा या उपमान-प्रमाण द्वारा जान ही नहीं सकते, क्योंकि वह सूक्ष्म तथा अलख है, अतएव अगोचर है। स्थूल दृष्टि से नेत्रों द्वारा हम उसे देख ही नहीं सकते। तात्पर्य यह कि जिस

प्रकार श्रुति अर्थात् वेद के प्रमाण द्वारा हम ब्रह्म के विषय मे सुनते हैं कि—"सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" तथा "सत्य एपोऽणिमैतदात्म्यमिद सर्वं तत्सत्य स आत्मेति" और "अयमात्मा ब्रह्म" जानकर ब्रह्म को "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य." श्रुति के अनुसार उसका ध्यानादि करने लगते हैं, उसी प्रकार श्रुति अर्थात् कानों से शब्द-प्रमाण द्वारा सुनते हैं कि कमर है, और कमर के बारे मे विचार करते हैं। फिर अनुमान-प्रमाण द्वारा यथार्थ वस्तु की विवेचना करने के लिये—"जन्माद्यस्य यत आदि श्रुति के अनुसार अनुमान करते हैं कि यदि ब्रह्म नहीं है, तो इस अखिल जगत् की सृष्टि कैसे हुई? इस कोट्यानुकोट ग्रह, नक्षत्र-मडल-मडित ब्रह्माड का आश्रय क्या है? कौन है? और फिर इन प्रश्नों के उत्तर में वुद्धि से अनुमान करते हैं कि ब्रह्माड का बनानेवाला, ब्रह्माड का आश्रय ब्रह्म अवश्य ही है, और उसी के आश्रित सपूर्ण चराचरमय विश्व है। जिस प्रकार ब्रह्म के विषय में अनुमान करते हैं, उसी प्रकार कटि के विषय मे अनुमान करते हैं कि यदि कटि नहीं है—आश्रय नहीं है—तो फिर इस शरीर के कटि से ऊपर का भाग जिसमें छाती, बाहु, ग्रीवा, मुख और सिर आदि हैं—किसके आश्रित है? शरीर के इस भाग का आश्रय क्या है? फिर भी वह ब्रह्म के समान अलख है—अप्रत्यक्ष है—अगोचर है। वह देखी नहीं जा सकती। ब्रह्म का—कटि का—साक्षात्कार हो ही नहीं सकता। उसका अस्तित्व भी कठिनता से ध्यान में आता है।

नैयायिकों ने—"प्रत्यक्षमनुमानमुपमान शाब्दश्चेति" अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्द, ये चार प्रकार के प्रमाण माने हैं। इसी बात को लक्ष्य में रखकर न्याय-शास्त्र के वेत्ता दार्शनिक विहारीलालजी लिखते हैं

बुधि अनुमान-प्रमान श्रुति किए नीठि ठहराइ।

अर्थात् शब्द (श्रुति-प्रमाण) और बुद्धि (अनुमान-प्रमाण) द्वारा कटि-ब्रह्म के अस्तित्व के विषय में निश्चय करते हैं। क्योंकि—

सूक्ष्म कटि परब्रह्म-लौं अलख लखी नहिं जाइ।

इससे प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा उसे जान ही नहीं सकते। अब रहा उपमान-प्रमाण, सो ब्रह्म अनुपम है, कटि भी अनुपम है, उसे किसी वस्तु की उपमा दी ही नहीं जा सकती। उस उपमेय का कोई उपमान ध्यान में आता ही नहीं, अतएव उपमान-प्रमाण से भी उसे—कटि को तथा ब्रह्म को - जान ही नहीं सकते। पाठक ध्यान से देखें कि दर्शन-शास्त्र का निचोड़ बिहारीलालजी ने किस प्रकार नायिका की कटि का वर्णन करते हुए, एक छोटे-से दोहा-छंद में, कहा है। मैं कहता हूँ कि हिंदी का सौभाग्य है कि हिंदी में बिहारीलालजी कवि हुए। दोहे में अतिशयोक्ति-गर्भित उपमा की जितनी बहार है, उतना ही श्लेष का चमत्कार है। ऐसी अनूठी रचना करना बिहारीलालजी का ही काम है।

इसी ढंग का वर्णन महाकवि श्रीहर्ष ने 'नैषधीय चरित महाकाव्य' के दशम सर्ग के ८७वें श्लोक में किया है। यद्यपि महाकवि बिहारीलालजी और इनके वर्णनों में विभिन्नता है, पर रसिक काव्य-प्रेमी सज्जनों के अवलोकनार्थ मैं उसे यहाँ देता हूँ। देखिए, कैसी सूझ है—

या सोमसिद्धान्तमयाननेव
शून्यात्मतावादमयोदरेव ,
विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव
साकारतासिद्धिमयाखिलेव ।

जिसका मुख-चंद्र कापालिक दर्शन (कपिलदेवजी के सांख्य-दर्शन) के समान सुस्पष्ट और दुःख-तम-नाशक है, जिसका उदर-देश बौद्धादि माध्यमिक लोगों के ('शून्य शून्यमिदं जगत्' तथा

'आत्मानो न सन्तीति') सिद्धांत के अनुसार अत्यत कृशता लिए हुए है जिसका हृदय निराकारवादी विज्ञान-वेत्ताओं के समान 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' के सिद्धातानुसार 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' अर्थात् सर्व प्राणियों से दया और प्रेम-पूर्ण उदार भाव रखनेवाला है, और जिसका समस्त सुदर स्वरूप सौत्रातिक साकार विज्ञान-वादियों की साकारता-सिद्धि के समान आनददायी है। इस पद्य में देखिए श्रीहर्षजी चद्रानना, अति कृशोदरी, प्रेमशीला, उदार-हृदया और अतिसुदरी दमयती के स्वरूप का वर्णन उत्प्रेक्षालकार के सहारे कितने अनूठे ढग से कर गए हैं। ऐसी रचना करनेवाले ही यथार्थ में महाकवि के आसन के योग्य हैं।

(२) इस दृश्यमान प्रपच के विषय में वेदात-केसरी स्वामी विद्यारण्यजी महाराज सुप्रसिद्ध प्रामाणिक वेदात-ग्रंथ पचदशी में लिखते हैं—

अस्ति भाति प्रिय रूपं नाम चेत्यशपञ्चकम्,
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्।

अर्थात्—अस्ति (सत्ता), भाति (प्रकाश), प्रिय (प्रेमास्पदता), नाम और आकार—ये पाँच अश इस 'प्रपच' में हैं। इनमें से तीन अर्थात् सत्ता, प्रकाश और प्रेमास्पदता ब्रह्म का रूप है, और नष्ट हो जानेवाले अतएव अनित्य नाम और रूप (आकार) जगत् का स्वरूप है।

विचारकर देखने से विदित होता है कि सत्ता, प्रकाश और प्रेमास्पदता से भिन्न जो नाम-रूपमय जगत् है, वह सत्य नहीं है, मिथ्या है। जो वस्तु जिसमें कल्पित हो वह वस्तु उससे भिन्न नहीं है, इससे ब्रह्म से जगत् का वास्तव में अभेद है, अतएव ब्रह्म से जगत् की भिन्न सत्ता नहीं है। कनक (स्वर्ण) में कुडल की प्रतीति के दृष्टात से ब्रह्म से भिन्न जगत् की सत्यता की भ्राति की निवृत्ति

होती है। जिस प्रकार नाम और रूप(आकार)वाला कुडल स्वर्ण से भिन्न नहीं है, किंतु स्वर्ण ही है, उसी प्रकार यह सपूर्ण चराचरमय विश्व-प्रपच ब्रह्म से भिन्न नहीं है, किंतु ब्रह्म ही है। नाम और रूप-मय जो जगत् का यथार्थ स्वरूप है, सो मिथ्या है, अतएव जगत् मिथ्या है। श्रुति कहती है—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित· ;
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।

और—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ;
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।

वास्तव मे ब्रह्म से भिन्न कोई भी पदार्थ नही है। इसी को वेद भगवान् का मन्त्र-भाग इस प्रकार कहता है—

पुरुष एवेदंꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
(यजु० अध्याय ३१, मं० २)

अर्थात् जो कुछ उत्पन्न हुआ है, और होनेवाला है, वह ब्रह्म ही है।

तथा—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ;
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आप स प्रजापतिः।
(यजु० अध्याय ३२, मं० १)

अर्थात् वही ब्रह्म अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चद्रमा है, वही शुक्र है, वही जल है, और वही प्रजापति (ब्रह्मा) है। उसके सिवा और कुछ है ही नहीं।

श्रीमद्भगवद्गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने गाडीवधारी अर्जुन से यही सिद्धात इस प्रकार कहा है—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ;
अहं कृत्स्नस्य जगत प्रभवः प्रलयस्तथा।
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय,
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ७)

भावार्थ—हे अर्जुन, यह समझ ले कि मुझसे ही सर्वजगत् की उत्पत्ति होती है, और मुझमें ही संपूर्ण चराचरमय विश्व का लय हो जाता है। हे धनजय, मुझसे परे और कुछ भी नहीं है—कोई भी नहीं है। मुझ परब्रह्म ने ही यह सम्पूर्ण दृश्यमान प्रपञ्च पिरोया हुआ है, जैसे तागे में मोतियों के गुच्छे। अस्तु।

इसी गहन सिद्धांत को दार्शनिक विहारीलालजी ने अपने दोहे में प्रतिबिंब-वाद का आश्रय लेकर व्यक्त किया है। अन्यान्य वादों के समान वेदांत-शास्त्र में प्रतिबिंब-वाद की भी प्रमुखता है। इसी प्रतिबिंब-वाद का आश्रय लेकर स्वामी विद्यारण्यजी महाराज ने लिखा है—

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता ;
तमो रजः सत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा।
(पंचदशी तत्त्व-विवेक-प्रकरणम्, श्लोक सं० १५)

अर्थात् चिदानंद रूप ब्रह्म के प्रतिबिंब से समन्वित सत्त्व, रज एवं तम तीनो गुणों की जिसमें साम्यावस्था है, वह प्रकृति दो प्रकार की है। अस्तु।

वेदांत-शास्त्र के वेत्ता महाकवि विहारीलालजी कहते हैं—

मैं समुझ्यो निरधार यह जग काँचो काँच-सो ;
एकै रूप अपार प्रतिबिंबित लखियत यहाँ।
(विहारी-सतसई)

मैं विचार करके इस निर्णय पर आया हूँ कि यह दृश्यमान जगत्

कॉच के शीशे की तरह कच्चा है। जिस प्रकार एक ही जोर की ठेस लगने से कॉच का शीशा चूर-चूर हो जाता है, अपना अस्तित्व खो देता है, उसी प्रकार यह संसार-रूपी कॉच का शीशा भी ज्ञान की जबर्दस्त ठेस के लगते ही चूर-चूर हो जाता है, अपना अस्तित्व खो देता है, अतएव कच्चा है—मिथ्या है—माया-मरीचिका है। क्योंकि सत् का नाश होता ही नहीं। जिस प्रकार कॉच के प्रतिबिंब-ग्राही होने से कॉच के महल (शीश-महल) में एक ही व्यक्ति के अनेक प्रतिबिंब अनेक रूपों में (कोई छोटा, कोई बड़ा आदि) दिखाई देते हैं, उसी प्रकार एक ब्रह्म के अनेक प्रतिबिंब इस दृश्यमान जगत् में दिखाई देते हैं—भासमान होते हैं। अनेक प्रतिबिंब दिखाई देने का कारण—अनेक भावों की पार्थक्य-प्रतीति का कारण—नाम और रूप मिथ्या है—असत् है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

अर्थात् न तो असत् की सत्ता (भाव) है, और न सत् का अभाव (नाश) है।

पाठक देखें, कितना शुद्ध और स्पष्ट वर्णन है। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' एवं 'नेह ना नास्ति किंचन्' का कैसा अच्छा स्पष्टीकरण है। दृष्टांतालंकार का—प्रतिबिंब-वाद का ऐसा वर्णन करना दार्शनिक महाकवि बिहारीलालजी का ही काम है।

शांति के उपासक बिहारीलालजी भिन्न-भिन्न धर्मों (संप्रदायों) के झगड़े को देखकर—संसार में धर्म के नाम पर होनेवाले अत्याचारों को देखकर दयार्द्र होकर—भिन्न-भिन्न धर्मों (संप्रदायों) के लोगों को लक्ष्य करके कहते हैं—

अपने - अपने मत लगे वादि मचावत सोर,
ज्यो - त्यो सबको सेवनें एकै नंदकिसोर।
(बिहारी-सतसई)

भिन्न-भिन्न धर्मों (मतों, सप्रदायों) के अध-भक्तों ने धर्मांधता के वश होकर इस शाति और सौख्य-पूर्ण ससार मे भयानक कोलाहल मचा दिया है—ससार को अशाति का क्रीडा-स्थल बना दिया है। यथार्थ मे किसी-न-किसी रूप में सभी को उस एक परमात्मा—उस एक श्रीकृष्ण प्रभु—की उपासना करना है, सबका ध्येय एक परब्रह्म की उपासना का ही है। फिर यह कोलाहल क्यों ? ससार में धर्म के नाम पर यह अत्याचार क्यों ? यह सब अनुचित है, एक परमात्मा के उपासकों को भिन्न-भिन्न संप्रदायों या धर्मों का विचार न करके एक हो जाना चाहिए। उन साथी मुसाफिरों—पथिकों—को, जो उनके समान ही परमात्मा के पास पहुँचने के इच्छुक होने के कारण एक ही पथ के पथिक हैं, सहायता देना चाहिए।

देखिए, कैसी उत्कट, उपदेश-पूर्ण, उदार, भावमयी, उत्कृष्ट उक्ति है। इसी सिद्धातवाला यह सस्कृत-श्लोक भी है—

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् ;
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।

अर्थात् जिस प्रकार आकाश से गिरा हुआ (वर्षा का) जल नदियों-नालों आदि मे होता हुआ समुद्र की ओर चला जाता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न देवताओं को की हुई नमस्कार भी उस एक परमात्मा केशव (कृष्ण) के प्रति पहुँच जाती है। अर्थात् भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना करना भी उसी अच्युत परब्रह्म श्रीकृष्ण की उपासना करना है।

यही भाव निम्न-लिखित श्लोकद्वय मे भी है—

अनन्तनामधेयाय सर्वाकारविधायिने ;
समस्तमंत्रवाच्याय विश्वैकपतये नमः।
यथा तथापि च पूज्यो यत्र तत्रापि योऽर्चित ;
योऽपि वा सोऽपि वा योऽसौ देवस्तस्मै नमोस्तु ते।

विस्तार-भय से ऐसी-ऐसी अन्य सूक्तियाँ उद्धृत करने में असमर्थ हूँ। यहाँ केवल यही कह देना पर्याप्त होगा कि उपर्युक्त दोहे से बिहारीलालजी के धार्मिक भावों की उदारता दर्शित होती है। दार्शनिक विद्वान् उदार होते ही हैं। दार्शनिक विद्वान् होने से महाकवि बिहारीलालजी में प्रशसनीय धार्मिक उदारता थी, यह निर्विवाद सिद्ध करने के लिये उपर्युक्त दोहा प्रबल प्रमाण है।

६ भक्त बिहारी

जिस प्रकार बिहारीलालजी दार्शनिक तत्त्वों के जाननेवाले थे, उसी प्रकार भक्ति-पथ के पथिक भी थे। देखिए—

भक्तप्रवर बिहारीलालजी कहते हैं—

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख-हजार ;
मो सपति जदुपतिसदा बिपति बिदारनहार।
(बिहारी-सतसई)

कोई करोड़ो, कोई लाखो और कोई हजारों की सपत्ति संग्रह करो, अपने राम को इससे क्या? यदि यह कहो कि भाई नीति के अनुसार—'आपदर्थे धन रक्षेत्' अर्थात् आपत्ति-काल के लिये धन की रक्षा करना चाहिए, तो भाई मेरे पास मेरी सपत्ति यदुपति भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जो सदैव विपत्तियो के नाश करनेवाले हैं। अतएव मुझे व्यर्थ धन जोड़ने से क्या लाभ? फिर धन से तो सर्व प्रकार की विपत्तियों का नाश नहीं होता, परतु भगवान् श्रीकृष्ण तो सर्व प्रकार की विपत्तियो का नाश करनेवाले हैं। अतएव यदुपति-रूपी सपत्ति ही मुझे अधिक प्रिय है, क्योंकि वही विपत्तिहारी और यथार्थ सपत्ति है।

भवसागर से पार होने के उपाय का वर्णन करते हुए भक्त बिहारीलालजी कहते हैं—

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाव ;
तरि संसार-पयोधि को हरि-नामै करि नाव।
(बिहारी-सतसई)

हरि-नाम की नाव बना, और जप-माला की पतवार पकड़कर इस दुःख-शोकमय संसार-समुद्र को पार कर। इस संसार-सागर को पार करने का अन्य कोई उपाय है ही नहीं। कैसा अनूठा रूपक और कैसा गहन तत्त्व है।

इसी सिद्धांत को हिंदी-कवि-कुल-कलाधर महात्मा तुलसीदासजी ने व्यक्त करते हुए लिखा है—

वारि मथे बरु होय घृत, सिकता तें बरु तेल,
बिनु हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धांत अपेल।
(रामायण उत्तरकांड)

कपटी मन में ईश्वर का वास नहीं रहता, इसका वर्णन करते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

तौ लगि या मन-सदन में हरि आवहिं किहि बाट,
निपट बिकट जब लगि जुटे खुलहि न कपट-कपाट।
(बिहारी-सतसई)

जब तक कपट के विकट कपाट जुटे हैं (मन निष्कपट नहीं हुआ है) तब तक इस मन-मंदिर में हरि (श्रीकृष्ण) किस बाट (मार्ग) से आवें। पहले किवाड़ खोलो, तब अतिथि भीतर आवेगा। पहले मन-मंदिर से कपट को हटा दो—दूर कर दो—तब परमात्मा उसमें आवेगा।

बिहारीलालजी का मत है कि यदि ईश्वर में सच्चा अनुराग न हो, तो लंबे तिलक, छापे, माला या जप से कोई लाभ नहीं। लिखते हैं—

जप माला छापे तिलक सरै न एकौ काम;
मन काँचे नाचे वृथा साँचे राँचे राम।
(विहारी-सतसई)

जब तक मन कच्चा है, विषयासक्त है, तब तक जप, माला, तिलक और छाप से क्या होता है? राम (ईश्वर) केवल सच्चे मन से प्राप्त किए जा सकते हैं, क्योंकि वह तो मन की सचाई पर ही रीझते हैं। अतएव भक्ति करने के पूर्व मन को विषयों से हटाना चाहिए, उसमें ईश्वर से सच्चा अनुराग उत्पन्न करना चाहिए, क्योंकि जो कुछ होता है, मन से होता है, ईश्वर बाह्याडम्बर से प्रसन्न होने-वाले नहीं। कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मनुष्यों के बंधन में पड़ने और मुक्त होने का कारण मन ही है, अतएव पहले मन को ही सत्य की ओर झुकाना चाहिए। विषयों से हटाकर दृढ़ बनाना चाहिए। यदि मन विषय-वासना से हट गया, सत्य की ओर अग्रसर हो गया, तो ईश्वर की सच्ची भक्ति प्राप्त होने में विलम्ब ही न रहा।

भक्त बिहारीलालजी अनेक अवगुणों की मूल द्रव्य की निंदा करते हुए कहते हैं—

तौ अनेक अवगुन-भरी चाहै याहि बलाय,
जो पत संपत हू बिना जदुपत राखै आय।
(बिहारी-सतसई)

"जो यदुपति भगवान् श्रीकृष्ण बिना सपत्ति के ही आकर (मेरी) पत (लाज) रख लें, तो अनेक अवगुणों की मूल इस द्रव्य को मेरी बलाय चाहती है, अर्थात् मैं इससे घृणा करता हूँ।'

इसी भाव को कविवर खानखाना नवाब अब्दुलरहीम इस प्रकार कहते हैं

दिव्य दीनता के रसहिं का जाने जग-अंधु ;
भली विचारी दीनता दीनबंधु - से बंधु ।

(जो अपने किसी नीच स्वार्थ की पूर्ति के लिये न दिखलाई जाय, उस) दिव्य दीनता के अलौकिक आनद को यह माया-मोह मे पड़ा हुआ अधा ससार क्या जाने । बेचारी दीनता धन-सपत्ति से अच्छी है, क्योंकि धन-सपत्ति में तो केवल स्वार्थी तुच्छ मनुष्य ही सहायक होते हैं, परतु इस (दिव्य) दीनता मे दीनबधु ईश्वर-सदृश सर्वशक्तिमान् बधु मिलता है । बात वही है, पर ढग निराला है । मुझे रहीम का दोहा बिहारीलालजी के दोहे से कुछ उठता हुआ दिखाई देता है ।

कविवर बिहारीलालजी की भक्ति-विषयक सूक्तियाँ भक्ति-भाव मे कितनी श्रेष्ठ हैं, इसका दिग्दर्शन कराने के लिये मैं हिंदी-साहित्य-सूर्य, भक्त-शिरोमणि महाकवि सूरदासजी की उसी विषय की और वैसे ही भावोंवाली सूक्तियों से तुलना करना उपयुक्त समझता हूँ । इससे हमारे पाठकों को यह विदित हो जायगा कि बिहारीलालजी किस श्रेणी के भक्त थे, और भक्ति का भाव भी उनके हृदय मे किस प्रकार उठता था । ध्यान रहे, भक्ति-भाव मे सूर की सूक्तियों की समता की सूक्ति लिखना बड़े ही जीवट का काम है । इसके लिये कविवर बिहारीलालजी की जितनी प्रशसा करें, थोड़ी है । अस्तु, विस्तार-भय से मैं यहाँ केवल तीन समान सूक्तियाँ देता हूँ । देखिए, निम्न-लिखित वर्णन में भक्ति का प्रवाह दोनो भक्त कवियों ने किस अनूठे ढग से बहाया है—

हरि हौं सब पतितन को राव ।
को करि सकै बराबरि मेरी सोधौं मोहिं बताव ।
व्याध गीध अरु पतित पूतना तिनमें बढ़ि जो और,
तिनमें अजामील गनिका अति उनमें मैं सिर-मौर ।

जहँ-तहँ सुनियत यहै बड़ाई मो समान नहि आन,
अब जो आजु-कान के राजा तिनमे मैं सुलतान।
अब लौ तो तुम बिरद बुलायो भई न मोसों भेट,
तजौ बिरद कै मोहि उबारौ 'सूर' गही कसि फेंट।
(श्रीसूरदासजी)

कौन भॉति रहिहै बिरद अब देखिबी मुरारि,
बीधे मोसो आइकैं, गीधे गीधहिं तारि।
(बिहारी-सतसई)

इन दोनो वर्णनो को देखकर 'को बड छोट कहत अपराधू' का स्मरण हो आता है। दोनो ने भक्ति के आवेश मे ऐसी व्यग्य-पूर्ण और अनूठी बात कह डाली है, जो अद्वितीय है। दोनो के कथन के ढग मे तीखापन है। सूरदासजी "हरि हौं सब पतितन को राव ···" से लेकर ···· · "तिनमे मैं सुलतान" तक घुमा-फिराकर, कई पतितो के नाम गिनाकर अपने को सबसे बडा पतित कहते हैं। यदि एक बार 'राव' बनते हैं, तो दूसरी बार 'सुल्तान' बनते हैं। फिर अपने भगवान् से कहते हैं—"अब लौ तो तुम बिरद बुलायो भई न मोसो भेट"। इतने सब वर्णन को—इतने बडे झमेले को—बिहारीलालजी 'बीधे मोसो आइकैं गीधे गीधहिं तार' मे पूरा कर देते हैं। सूरदासजी जहॉ अभिधा से काम लेते हैं, वहॉ बिहारीलालजी व्यजना से। उन्हे अपने को 'पतितन को राव' और फिर 'सुलतान' कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं पडती। यह सब अर्थ बिहारीलालजी के दोहे मे ध्वनि से निकल आता है। बिहारीलालजी ने केवल 'बीधे मोसो आइकैं' मे सब मज़मून को कैद कर लिया है। अत मे श्रीसूरदासजी कहते हैं—

तजौ बिरद कै मोहिं उबारौ 'सूर' गही कसि फेंट।

इसमे सूर (शूर और सूरदास) का फेट कसकर गहना बहुत ही

उत्कृष्ट है। 'सुलतानी ऐंठ' का इसमें अच्छा निर्वाह है। पर 'तजौ बिरद कै मोहिं उबारौ' में बात खुल गई, बाँकपन वैसा अक्षुण्ण न रह गया। बिहारीलालजी के—

कौन भाँति रहिहै बिरद अब देखिबी मुरारि;
बीधे मोसों आइकैं, ...।

में बात बाँकपन से खाली नहीं है। यहाँ आलम ही निराला है। व्यंग्य का प्राबल्य अपेक्षाकृत बिहारीलालजी के दोहे में ही अधिक है। 'कौन भाँति रहिहै बिरद' और 'तजौ बिरद कै मोहिं उबारौ' में प्रथम में जितनी तिखावट है, उतनी दूसरे में नहीं है। बिहारीलालजी की आन-बान निराली है। बात एक ही है, पर कहने के ढंग में अंतर है। फिर भी सूरदासजी के वर्णन में बात ख़ूब खोलकर साफ़-साफ़ कही है, इससे प्रसाद-गुण की मात्रा अधिक जान पड़ती है।

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव, अपुन भरोसे लरिहौं।
हौं तो पतित अहौं पीढ़िन को, पतितै ह्वै निस्तरिहौं,
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हैं बिरद बिनु करिहौं।
कत अपनी परतीत नसावत, हौं पायो हरि हीरा,
'सूर' पतित तबहीं लै उठिहै, जब हँसि दैहो बीरा।
(श्रीसूरदासजी)

मोहि तुम्हैं बाढी बहस को जीतै जदुराज;
अपने - अपने बिरद की दुहुन निबाहन लाज।
(बिहारी-सतसई)

इन दानो पद्यो में भी एक ही बात का वर्णन और एक ही-सा भाव है। उद्धार के अभिलाषी दोनो भक्तों की भगवान् से कैसी प्रेमपूर्ण भावना है। दोनो भक्त अपनी-अपनी टेक पर अड़े हैं। भक्त

और भगवान् के बीच का यह प्रेम-कलह बड़ा ही सुहावना है। भक्त अपने पापों को छिपाते नहीं। उन्हें अपनी अटल भक्ति पर बड़ा विश्वास है। उन्होंने अपने को निष्कपट रूप से ईश्वर के श्रीचरणों में समर्पित कर दिया है। वे जानते हैं, उन्हें विश्वास है कि उनकी प्रगाढ़, सच्ची भक्ति के कारण उनके भगवान् उनका उद्धार अवश्य करेंगे। दोनों की कथन-शैली में अंतर होते हुए भी सूरदास के पद्य में नम्रता का भाव कुछ अधिक है, पर बिहारीलालजी के दोहे में 'को जीते जदुराज' में प्रेम का प्राबल्य और तल्लीनता की मात्रा कुछ विशेष है। पर सूर के पद्य में भक्त को अपनी विजय का अपेक्षाकृत अधिक आत्मविश्वास है। मुझे दोनों पद समान जान पड़ते हैं।

इसी प्रकार की मधुर, भाव-पूर्ण उक्ति भारतेंदु हरिश्चंद्र की भी है। उसमें भी भक्त को उद्धार की इच्छा है। यहाँ भी निष्कपट भाव से भगवान् के श्रीचरणों में भक्त अपने को समर्पित कर देता है। देखिए—

आजु हम देखत हैं, को हारत।
हम अघ करत कि तुम मोहिं तारत को निज बान बिसारत।
होड़ परी है तुम सन हम सन देखें को प्रन पारत,
हरीचंद अब जात नरक महँ कै तुम धाय उबारत।

तुम कब मो-सो पतित उधारयो।
काहे को प्रभु बिरद बुलावत बिनु मसकत को तारयो।
गीध, ब्याध, गज, गौतम की तिय तिनको कहा निहोरो,
गनिका तरी आपुनी करनी, नाम भयो प्रभु तोरो।
अजामील तो बिप्र तुम्हारो हुतो पुरातन दास,
नेक चूक ते यह गति कीन्हीं फिर बैकुंठहिं बास।
पतित जानि तुम सब जन तारे, रह्यो न काहू खोट,
तो जानो जो मोहि तारिहौ 'सूर' कूर कवि ढोट।

(श्रीसूरदासजी)

बंधु भए का दीन के ? को तार्यो रघुराय ?
तूठे - तूठे फिरत हौ, झूठे बिरद बुलाय।
(बिहारी-सतसई)

यहाँ भी वही बात है। जितना भाव सूरदासजी के विस्तृत पद में है, उतना ही भाव बिहारीलालजी के छोटे-से दोहे में है। दोनो भक्त कवियों ने भगवान् को अपने उद्धार के हेतु दृढ़ता से आह्वान करते हुए कहा है कि यदि सामर्थ्य हो तो हमें तारो। पहले के पतित जिन्हें तारा है, वे यथार्थ में पतित नहीं थे, उनमें कोई भी बुराई (खोट) नहीं थी। सूरदासजी के कथन से भगवान् का पतित-तारण 'बिरद' बिना मशक्कत के व्यर्थ ही मिल गया है। बिहारीलालजी के कथन से भगवान् का वह बिरद 'झूठा' है। दोनो भक्तों के कथनों का अभिप्राय यह है कि भगवान् जिनके बंधु हुए, वे वास्तव में दीन-दुखी नहीं थे, पूरे दीन-दुखी तो हम हैं जिन्हें तारा, वे यथार्थ पतित नहीं थे, यथार्थ में पतित तो हम हैं। अतएव ऐसे लोगों के बंधु होकर दीनबंधु एवं ऐसे लोगों के तारनेवाले होकर पतित-तारण कहलाना और ऐसे काम करके इन बिरदों से संतुष्ट होना तो झूठी प्रशंसा से फूल उठना है। ये बिरद तो भगवान् को तब शोभा दें, जब वह हमें—हमारे समान दीन-दुखी और यथार्थ पतितों को—तारें। इस वर्णन में भी अपेक्षाकृत बिहारीलालजी की सूक्ति जोरदार है।

कई लोग बिहारीलालजी को भावापहरण का दोषी कहेंगे, पर ध्यान रहे, ये भाव श्रीमद्भागवत के हैं। संभव है, दोनों ने उन्हें भागवत से ही लिया हो, और यदि बिहारीलालजी ने भाव ही लिए हैं, तब भी वह उनमें संस्कार कर गए हैं उन पर अपने व्यक्तित्व की मुहर लगा गए हैं, अतएव वह श्रेष्ठ हैं। यहाँ हमारे पाठक देखें कि बिहारीलालजी ने कैसी सफलता से गागर में सागर भरा है। फिर उनकी भक्ति-भावमयी सूक्तियाँ जब भक्त-शिरोमणि महात्मा सूरदासजी

की भक्ति-भावमयी, प्रसिद्ध सूक्तियों मे सफलता-पूर्वक टक्कर लेती हैं, तब उनके हृदय मे भक्ति-भाव कितना ऊँचा था, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

इस स्थल पर पं० कृष्णविहारी मिश्र के बिहारीलालजी पर 'देव और बिहारी'-पुस्तक मे किए गए अनुचित आक्षेप का समुचित उत्तर देना आवश्यक प्रतीत होता है। पं० कृष्णविहारी मिश्र लिखते हैं—

"'तरयोना' का 'श्रुति-सेवन' एवं 'मुक्तनि' के साथ 'बेसरि' का 'नाक-वास' तथैव किसी की चाल 'पद-पद पर प्रयाग का' बनना हमें लाचार करता है कि हम बिहारीलालजी के धार्मिक भावो की अधिक छान-बीन न करें।"

(देव और बिहारी, पृष्ठ १५०)

मिश्रजी के उपर्युक्त वाक्य से तात्पर्य यह निकलता है कि कविवर बिहारीलालजी के उपर्युक्त आशयवाले दोनो दोहे देखने से उनके धार्मिक भावो की हीनता का पता चलता है। अर्थात् वे दोनो दोहे इस बात का प्रमाण हैं कि वह धार्मिक नहीं थे, उनमें धार्मिक भावो का सर्वथा अभाव था।

खैर, मिश्रबंधुओं ने तो कविश्रेष्ठ, परमभक्त, दार्शनिक बिहारीलाल-जी को गुंडा और शोहदा कहकर अपनी बुद्धिमानी का परिचय दिया था, पर आपने वैसा नहीं किया, परंतु फिर भी आपने मीठी भाषा मे लगभग उसी प्रकार का आक्षेप करने मे कसर नहीं की। 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' मानकर आपने भी जो अपने हृदय की उच्चता का परिचय दिया है, उसके लिये आप भी धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रिय पाठक, अब मैं आपके सम्मुख उन दोनो दोहो को, जिनमें पं० कृष्णविहारी मिश्र ने बिहारीलालजी को धार्मिक भावों से हीन करार दिया है, रखता हूँ। देखिए, वे ये हैं—

अजौं तर्‌यो नाहीं रह्यो श्रुति सेवत इक अंग :
नाक-बास बेसरि लह्यो बसि मुकतन के संग ।
(बिहारी-सतसई)

केवल श्रुतिसेवी मुमुक्षु से कोई भक्त कह रहा है—"हे मुमुक्षु ! एक अंग श्रुति का सेवन करते हुए तुम अभी तक नहीं तरे। तुम संकल्प-विकल्प के सागर में पड़े हुए विचार-तरंगों के थपेड़े खा रहे हो। परन्तु देखो मेरे, उस भक्त साथी ने (विषय-वासना से रहित वीतराग या अनन्य भक्त) मुक्त पुरुषों की सत्संगति से अनुपम स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया। क्योंकि 'पारस परस कुधातु सुहाई' के अनुसार सत्संगति से उसका मन विषय-वासनाओं से विरक्त होकर भगवान् के चरणों की अनन्य भक्ति कर रहा है, अतएव उसने वैकुंठ का वास प्राप्त कर लिया।"

इस दोहे के अर्थ में किसी को संदेह न हो, इससे मैं शब्दार्थ नीचे देता हूँ। देखिए—

अजों (अभी तक) तर्‌यो नाहीं (तरा नहीं, मुक्ति को प्राप्त नहीं हुआ) रह्यो श्रुति सेवत इक अंग (एक अंग श्रुति का सेवन करता रहा, अर्थात् केवल श्रुति-पाठ करता रहा, और आत्मा के विषय श्रवण करता रहा। न मैं निदिध्यासनादि नहीं किया, उन अंगों की ओर ध्यान नहीं दिया, जिनकी मुक्ति के लिये अत्यंत आवश्यकता है। केवल वेद-पाठ से—श्रुति-सेवन से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। मुकतन के (मुक्त पुरुषों के) संग (साथ) बसि (वास करके उसने) बेसरि (अनुपम) नाक-बास (बैकुंठवास) लह्यो (प्राप्त किया)।

इस दोहे में कवि ने संसार-सागर से पार होने की इच्छा रखने-वाले लोगों को सत्संगति की महिमा दिखलाई है। कैसा उत्कृष्ट उपदेश है। सत्संगति की महिमा संसार के प्रायः सम्पूर्ण महाकवियों ने—धर्मग्रन्थों ने गाई है। [illegible] तुलसीदासजी ने [illegible] सत्संगति की

महिमा गाई, तो वह धार्मिक भावों से हीन हो गए। बलिहारी है मिश्रजी की विवेचना और उनकी विद्या-बुद्धि की! विद्वत्समाज में ऐसे अनुचित आक्षेप सर्वथा उपेक्षणीय ही हैं।

महाकवियों की रचनाओं में काव्य-गुण वैसे ही आ जाता है। इस दोहे में भी यदि श्लेष का चमत्कार आ गया, तो कौन-सी बड़ी बात हो गई। ऊपर दिए गए अर्थ के साथ-साथ इस दोहे का एक और प्रतीयमान अर्थ है, उसे भी देख लीजिए, और बिहारीलालजी के भाषा पर एकाधिपत्य की प्रशंसा कीजिए।

"श्रुति (कान) रूप एक अंग का सेवन करनेवाला तरयोना अभी तक तरयोना ही रहा, परंतु (बसि मुकतनि के संग) मुक्ताओं के साथ रहकर बेसर (नथ) ने (नाकबास लह्यो) नाक में स्थान पा लिया।"

परंतु इस अर्थ में कोई विशेषता नहीं है, केवल श्लेष का चमत्कार है, अतएव प्रथम अर्थ ही मान्य है।

इसी दोहे पर पं० पद्मसिंह शर्मा लिखते हैं—

"संगति की महिमा से ग्रंथ भरे पड़े हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी भगवद्भक्तों को सत्संगति की महिमा बड़े समारोह से समझाई है। पर इस चमत्कार-जनक प्रकार से किसी ने कहा हो, सो हमने नहीं सुना। बिहारीलालजी अपने कविता-प्रेमियों की नब्ज पहचानते हैं। वह जानते हैं, 'अपने बावले को कैसे समझाया जाना है।' रस-लोलुप कविता-प्रेमी सत्संगति की महिमा किस रूप में सुनना पसंद करेंगे। रात-दिन जो चीजें प्रेमियों की नजर में समाई रहती हैं, उनकी ओर इशारा करके ही उन्हें यह तत्त्व समझाना चाहिए। कवि के लिये यही उचित है। नीरस उपदेश पर रसिक रोगी कब कान देता है। सुनता भी नहीं, आचरण करना तो दूर रहा।"

अब वह दूसरा दोहा भी देखिए—

तज तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति कर अनुराग ;
जिहि ब्रज केलि निकुंज मग पग-पग होत प्रयाग ।
(बिहारी-सतसई)

भक्त-प्रवर महाकवि बिहारीलालजी भक्ति-भावापन्न होकर अपने मन को सम्बोधित करके कहते हैं—"हे मन ! तू तीर्थों का भटकना छोड़कर श्रीराधिका और श्रीकृष्ण से अनुराग कर । देख, उनकी—दंपति की—तन-द्युति से ब्रज के क्रीडा-कुंज के मार्ग में पग-पग पर तीर्थराज प्रयाग बनता जाता है ।"

जब पग-पग पर तीर्थराज प्रयाग बनता जाता है, तब सैकड़ों तीर्थ-राज से श्रेष्ठ है, यह ध्वनि निकलती है । और, जब तीर्थराज से श्रेष्ठ है, तब अन्य तीर्थ किस लेखे में—अन्य तीर्थों की क्या गिनती । ध्वनि यह निकलती है कि संपूर्ण तीर्थों का अटन करने से अधिक फल श्रीराधाकृष्ण से अनुराग करने में है ।

कितना भक्ति-भाव-पूर्ण दोहा है, इसे सहृदय पाठक देखें । महा-कवि गोस्वामी तुलसीदासजी भी इसी प्रकार का भाव निम्न-लिखित चौपाई में व्यक्त करते हैं—

"अवध तहाँ, जहँ राम-निवासू ।"

अब देखना यह है कि स्वाभाविक कवि बिहारीलालजी की कविता में महाकवियों की कविता के समान चमत्कार तो है ही । अनुज्ञा और काव्यलिंग अलंकारों से परिपुष्ट रूपक की छटा बाँधनेवाले बिहारी-लालजी के दोहे में श्रीकृष्ण के श्याम तन की द्युति से यमुना, राधिकाजी के गौर शरीर की आभा से गंगा और पद की अरुणाई से सरस्वती का होना किस प्रकार लक्षित होता है । प्रयाग के संगम का यहाँ किस खूबी से वर्णन किया है । इतना होने पर भी दोहे में भक्ति-भाव की छटा निराली है ।

न-जाने इस 'पद-पद होत प्रयाग' के वर्णन-युक्त, भक्ति-भाव-पूर्ण

दोहे में पं० कृष्णविहारी मिश्र को धार्मिक भावों की हीनता कहाँ से दिखाई दी। बात तो यह है कि येन केन प्रकारेण देव को श्रेष्ठ सिद्ध करने के उद्देश्य से इन्होंने व्यर्थ ही बिहारीलालजी की अनर्गल, झूठी निंदा और पवित्र रचना में दोष दिखलाने की गर्हणीय चेष्टा की है। पर यह कार्य चंद्रमा पर धूलि डालने के समान हास्यास्पद है।

अब बिहारीलालजी के भक्ति-विषयक दो छंद यहाँ और देख लीजिए—

मोहूँ दीजे मोष, ज्यों अनेक अधमन दियो;
जो बाँधे ही तोष, तो बाँधो अपने गुननि।
(बिहारी-सतसई)

"हे भगवन्! मुझे भी मोक्ष दीजिए, जिस प्रकार आपने (अजामील आदि) अनेक अधम लोगों को दिया है। यदि मोक्ष नहीं देना चाहते, और मेरे बाँधने ही में आपको संतोष है, तो माया के गुणों (बंधनों) में न बाँधकर आप मुझे अपने गुणों में बाँधिए (जिसमें रात-दिन आपके गुण-गान करता रहूँ)।" इस दोहे में 'बाँधो' और 'गुननि' में श्लेष है। 'गुननि' से रस्सियों का भी बोध होता है, और रस्सियों में बाँधा जाना कितनी स्वाभाविक उक्ति है।

अब अंत में मैं परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण से बिहारीलालजी के शब्दों में ही, अत्यंत विनीत भाव से युक्त हो, यह निवेदन करके भक्ति-वर्णन को समाप्त करता हूँ—

हरि कीजतु तुमसों यहै बिनती बार हजार,
जिहि-तिहि भाँति डर्‌यो रहौं, पर्‌यो रहौं दरबार।
(बिहारी-सतसई)

७. प्रकृति-निरीक्षक बिहारी

महाकवि बिहारीलालजी अद्वितीय प्रकृति-निरीक्षक थे। उनकी

सूक्ष्म दृष्टि सार्वभौमिक थी। उनकी दृष्टि जिस पदार्थ पर पड़ी, उसी को उन्होंने अपनी प्रतिमा से समुज्ज्वल कर दिया। 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि' कहावत बिहारीलालजी के विषय में पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है। बिहारीलालजी में गुण को भी दोष देखनेवाले मिश्रबंधु भी इस बात को मानते हैं—

"बिहारी की दृष्टि संसार के प्राय. सभी पदार्थों पर पड़ती थी। इस कवि ने रगों के साथ ससार और प्रकृति का भी निरीक्षण बहुत अच्छा किया है, विशेषतया मानुषीय प्रकृति का। इसके प्राय. सभी दोहों में नेचर-निरीक्षण का फल देख पड़ता है। मानुषीय प्रकृति-सबंधी जितनी बातें इस महाकवि ने लिखी हैं, और जितने चोज निकालकर इसने रख दिए हैं, उसके आधे भी भाषा का कोई कवि (देवादि) नहीं कर सका है। मानुषीय और विशेषतया नागर-वर्णन में इन्होंने सुकुमारता को भी खत्म कर दिया है। नागर नायिकाओं के साथ-साथ इन्होंने ग्रामीणों का भी अच्छा वर्णन किया है। प्रकृति-निरीक्षण और उसके यथोचित वर्णन में यह कवि-वर भाषा-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ है।"

(हिंदी-नवरत्न २३५-२३६)

बिहारीलालजी को संसार का भी असीम अनुभव था। वह मनुष्य-प्रकृति के पूरे पारखी थे। मिश्रबंधु भी यह मानते हैं—"यह आप-बीती खूब कहते थे, और जग-बीती भी खूब देखते थे।" पं० कृष्णबिहारी मिश्र भी लिखते हैं—"बिहारीलाल का ज्ञान भी परिमित न था। उन्होंने भी संसार को बहुत कुछ देखा था। दुनिया के ऊँच-नीच का भी उनको पूरा ज्ञान था। उनका अनुभव बेहद बढ़ा हुआ था।" इत्यादि।

अब यहाँ मैं बिहारीलालजी के कुछ दोहे देता हूँ, पाठक ध्यान से देखें—

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोय;
जा तन की झाँईं परें स्याम हरित-दुति होय।
(बिहारी-सतसई)

इसमें नीलमणि की कांतिवाले श्याम को कुंदन के-से पीत वर्णवाली राधिका से मिलाकर हरित (हरे, डहडहे, प्रसन्न) लिखना बड़ा ही समीचीन है।

छुटी न शिशुता की झलक, झलक्यो जोबन अंग,
दीपत देह दुहूँन मिलि दिपति ताफता रंग।
(बिहारी-सतसई)

वयसंधि मुग्धा नायिका का वर्णन करते हुए लिखा है कि बालकपन और तरुण अवस्था, दोनो ही से नायिका के शरीर की आभा इस प्रकार हो रही है, जिस प्रकार 'धूप-छाँह'-नामक कपड़े की होती है, जिसका ताना एक रंग और बाना दूसरे रंग का होता है।

मिलि चंदन बेंदी दई, गोरे मुख न लखाय;
ज्यों-ज्यों मद-लाली चढ़ै, त्यों-त्यो उघरत जाय।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में भी रंग-मिश्रण की छटा है।

शत्रु की सेना को अपना वास-स्थान या नगर छीनने के लिये आगे बढ़ते देखकर उस नगर का स्वामी अपनी प्राण-रक्षा के लिये दुर्ग में किस प्रकार छिप जाता है, इसका वर्णन देखना हो, तो बिहारीलालजी का यह दोहा देखिए। लिखते हैं—

लखि दौरत पिय-कर-कटक बास छुड़ावन काज,
बरुनी-बन दृग-गढ़न में रही गुढ़ो करि लाज।
(बिहारी-सतसई)

'प्रियतम के कर-रूपी कटक को वास (निवास, वस्त्र) छुड़ाने के लिये झपटते देखकर बरुनी-रूपी वन में बने हुए दृग-रूप गढ़ में

सब अँग करि राखी सुघर नायक नेह सिखाय;
रस-जुत लेत अनन्त गति पुतरी पातुरराय।
(बिहारी-सतसई)

[illegible] बिहारीलालजी ने देखा था। लिखते हैं—

दीठि-बरत बाँधी अटनि, चढ़ि धावत न डरात;
इत-उत तें चित दुहुँन के नट-लौं आवत-जात।
(बिहारी-सतसई)

यह दोहा निम्नलिखित संस्कृत-श्लोक से मिलता है —

परस्परालोकनरज्जुरेषा
सद्मान्तरातट्टनि प्रबद्धा;
गतागतं निर्भयमत्र यूनो-
र्नटौ विधत्तो मनसी नितान्तम्।

"एक दूसरे का पारस्परिक अवलोकन ही डोरी है, जो एक अटारी से दूसरी अटारी तक बँधी हुई है, उस पर दोनों (युवक और युवती) के मन-रूपी नट निश्शंक होकर आ-जा रहे हैं।"

संस्कृत-श्लोक का 'परस्परालोकनरज्जुरेषा सद्मान्तरातट्टनि प्रबद्धा।' बिहारीलालजी के 'दीठि-बरत बाँधी अटनि' में आ गया है, फिर भाषा के कवित्व को बहुत कुछ बचाकर रक्खा है। 'गता-

गत निर्भयमत्रयूनोर्नटौ विधत्तो मनसी नितान्तम् ।' के स्थान मे—
'........... ....चढ़ि आवत न डरात , इत-उत तैं चित दुहुँन के नट-लौं आवत-जात ।' बहुत ही सुंदर है । श्लोक के 'निर्भय' में वह बात नहीं है, जो दोहे के 'न डरात' में है । भाषा-मधुरता में दोहा श्लोक से श्रेष्ठ है । फिर 'बरत पर दोनो (युवक और युवती) के मन-रूपी नट निर्भय होकर आ-जा रहे हैं । कहने मे आश्चर्य का वह स्वरूप स्वप्न में भी नहीं है, जो 'दीठि-बरत......नट-लौं आवत-जात ।' में है । भाषा की स्वाभाविकता, वर्णन-शैली की उत्तमता, अद्भुत रस का प्रस्फुटन एवं शब्द-विन्यास की दृष्टि से बिहारीलालजी का दोहा श्लोक से श्रेष्ठ जान पड़ता है ।

आर्द्र वस्तु से आँच लगने पर किस प्रकार वाष्प-कण उठते हैं, और फिर वे कहीं किसी वस्तु से छिड़कर, फिर से जल के रूप में आकर किस प्रकार बूँद-बूँद होकर गिरते हैं, इस वैज्ञानिक सिद्धात का भी बिहारीलालजी ने अच्छा वर्णन किया है । लिखते हैं—

तच्यो आँच अति बिरह की, रह्यो प्रेम-रस भींजि ;
नैनन के मग जल बहै हियो पसीज-पसीज ।
(बिहारी-सतसई)

इसके अतिरिक्त बिहारीलालजी ने इतनी बहुत-सी अनुभूत बातों का वर्णन किया है कि यदि उन पर कोई लिखने बैठे, तो एक बड़ा पोथा तैयार हो जावे । बिहारीलालजी उर्दू, फारसी और संस्कृत आदि के भी पूर्ण पडित थे । सगीत-शास्त्र के भी वह प्रवीण जानकार थे, जैसा उनकी जीवनी से स्पष्ट है ।

हाँ, एक बात कथनीय है । वह यह कि बिहारीलालजी काव्य-रीति के पूर्ण ज्ञाता थे । उनकी सतसई में यद्यपि लक्षण नहीं

हैं, परन्तु पिंगल को छोड़कर शेष संपूर्ण काव्यांगों के ऐसे सच्चे और उत्कृष्ट उदाहरण सतसई में पाए जाते हैं, जैसे उत्तम-से-उत्तम रीति-ग्रंथ में भी नहीं मिल सकते। विस्तार-भय से मैं उन्हें यहाँ देने में असमर्थ हूँ। उनका कुछ परिचय मेरे इसी ग्रंथ में आए हुए बिहारीलालजी के दोहों से पाठकों को प्राप्त होगा, और विशेष रूप से जानने के लिये मेरे 'काव्य-रीति'-नामक ग्रंथ को देखना आवश्यक है. क्योंकि उसमें काव्य के प्रत्येक अंग-उपांग के उदाहरण प्रायः बिहारी-सतसई से ही दिए हैं। रीति का ऐसा पालन प्रायः दुर्लभ है. आचार्यों से भी यह नहीं हुआ। बिहारीलालजी का एक दोहा और देख लीजिए, जो उन्होंने ललित कलाओं के संबंध में मत प्रकट करते हुए लिखा है। लिखते हैं—

तंत्री-नाद, कबित्त-रस, सरस राग, रति-रंग;
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग।
(बिहारी-सतसई)

"तंत्री-नाद, कवित्व-रस और सरस संगीत आदि में तन्मयता अपेक्षित है। जो इनमें डूब गया (पूर्णतया प्रविष्ट हो गया), वह मानो तर गया (प्राप्ताभीष्ट हुआ), पर जो इनमें डूबा नहीं—मग्न नहीं हुआ—केवल हाथ डालकर रह गया, वह मानो डूब गया अर्थात् अभीष्ट को प्राप्त न हो सका। कोरा ही रह गया, क्योंकि इन विषयों में वह अज्ञ ही रहा।"

कविवर बिहारीलालजी ने पावस-वर्णन पर एक दोहा यह भी कहा है—

पावस-घन-अँधियार महँ रह्यो भेद नहिं आन;
रात-द्यौस जान्यो परत लखि चकई-चकवान।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में कविवर बिहारीलालजी ने वर्षा-ऋतु में चक्रवाक का वर्णन किया है। इस पर मिश्रबंधुओं ने लिखा है—

"इनके नेचर-निरीक्षण में केवल एक स्थान पर गलती समझ पड़ती है। . वर्षा-ऋतु में चक्रवाक नहीं होते। बहुत-से लोग कष्ट-कल्पना करके यह दोष भी निकालना चाहते हैं, पर हम उस अर्थ को अग्राह्य मानते हैं।"

(हिंदी-नवरत्न, पृ० २३५)

इसका उत्तर प० पद्मसिंह शर्मा ने अपने सजीवन-भाष्य के भूमिका-भाग में, दोष-परिहार के अध्याय में, पृष्ठ २४० से २४३ तक, दिया है। वहाँ लिखा है—

"नहीं महाशयगण! बंधुगण! ऐसा न मानिए। ऐसा नहीं है। बिहारी के नेचर-निरीक्षण में नहीं, हमें तो यहाँ आपकी समझ में साफ गलती समझ पड़ती है। .." इसके बाद फिर उन्होंने लिखा है—" . कवि लोग वर्षा में चक्रवाक का वर्णन बराबर करते हैं। संस्कृत के, हिंदी के और उर्दू के कवियों ने भी ऐसा वर्णन किया है—

अकालजलदच्छन्नमालोक्य रविमण्डलम्,
चक्रवाकयुगं रौति रजनीभयशङ्कया।
(सुभाषितावलि)

घनतरघनवृन्दच्छादिते व्योम्नि लोके
सवितुरथहिमांशोः संकथैव व्यरंसीत्;
विरहमनुभवन्ती सङ्गमेऽप्यापि भर्त्रा
रजनिदिवसभेदं चक्रवाकी शशास।
(सुभाषितरत्नभांडागार)

पिछले पद्य का भाव बिहारीलालजी के दोहे से बिलकुल मिलता-जुलता है। हिंदी-कवियों का वर्षा में चक्रवाक-वर्णन—

'शंकर' ये बिथुरी लट हैं कि भई सजनी रजनी अँधियारी;
माल मनोहर मोतिन की उरमी उर पै कि वही सरिता री।
दो कुच हैं कि दुकूलन पै चकई-चक भोग रहे दुख भारी;
स्वेद चुचात कि पावस तोहिं बनाय गयो घनश्याम बिहारी।
(कविराज 'शंकर' महाराज)

दिन-रैन की संधिन बूझिबे की मति कोक तमीचुरवान लगी;
नदिया-नद लौं उमड़ी लतिका तरु तैसेन पै गुरवान लगी।
कहु 'सेवक' ऐसे में कैसे जिए जेहि कामतिया उरवान लगी;
मति मोरिनी की मुरवान लगी, गति बोजुरी की घुरवान लगी।
(सेवक कवि)

उर्दू कवियों ने भी बरसात में चकवे का वर्णन किया है—
रित है बरसात की बहुत प्यारी, मौज जन झीलें नदियाँ सारी।
कोकला, बगले, कोयलें, ताऊस अपनी तानें सुनाते हैं प्यारी।
काजें, मुरगावियाँ, बतें, सुरखाब झीलों के साथ करते हैं यारी।
(कुल्लियाते-मुनीर, शिकोहाबादी)

सुरखाब = चकवा [फ़रहंगे-आसफिया (उर्दू-भाषा का प्रसिद्ध विश्वकोष), भाग ३, पृष्ठ ६६]

वर्षा में चक्रवाक की स्थिति सिद्ध करने के लिये बहुत-से लोग तो क्या, किसी एक 'लोग' को भी कष्ट-कल्पना करते नहीं सुना गया। इसमें कोई दोष ही नहीं है, फिर दोष निकालने के लिये किसी को कष्ट-कल्पना करने की क्या जरूरत पड़ी है।

सुरति मिश्र ने अमरचंद्रिका में इस दोहे पर प्रश्नोत्तर बेशक किया है। वह भी इसलिये नहीं कि वर्षा में चक्रवाक नहीं होते, उसका अभिप्राय यह है—

"जब पावस के घने अंधकार में इतनी सघनता है कि रात में

और दिन मे कोई भेद ही नहीं समझ पडता, तो फिर चकवी-चकवा कैसे दिखाई पढते हैं। जिन्हें देखकर रात-दिन का भेद जाना जाता है, वे चकवी-चकवा भी तो अधकार मे अदृष्ट रहने चाहिए।"

इसके समाधान मे अमरचद्रिकाकार ने 'लखि' पद का सबध सबोध्य पुरुष के साथ जोडा है। अर्थात् तुम देखो, पावस के घने अंधकार में देखनेवालों को रात-दिन का कुछ भेद नहीं सूझ पड़ता, 'चकई-चकवानि रात-द्यौस जान्यो परै' चकवी और चकवा को ही यह भेद जान पडता है। जब दिन होता है, तो स्वाभाविक नियमानुसार चकवी-चकवा आपस मे मिलते हैं, जब रात होती है, तब बिछुडते हैं।

किसी ने 'लखि' पद का 'लाक्षणिक' अर्थ सुनना किया है। अर्थात् चकवी-चकवा का शब्द सुनकर रात्रि-दिवस का भेद जाना जाता है। इसी अर्थ के अनुसार उक्त दोहे पर कृष्ण कवि का यह सुंदर सवैया है, और किसी प्रकार की कष्ट-कल्पना किसी ने नहीं की। आशा है, अब आप लोग भी इसे ग्राह्य मानने लगेंगे—

अंबुद आनि दिसा-बिदिसा सगरे तम ही को बितान-सो तान्यो ;
मेचक रंग बसे जग में अति मोद हिये निसिचारन मान्यो।
पावस के घन के अँधियार में भेद कछू न परै पहिचान्यो ;
द्यौस-निसा को बिबेक सुनो चकई-चकवान के बोल तें जान्यो।

(पं० पद्मसिंह शर्मा)

शर्माजी ने इस प्रकार सस्कृत, हिंदी और उर्दू-कवियों के वर्णनों के उदाहरण देकर यह भली भाँति सिद्ध कर दिया कि मिश्रबधुओ का आक्षेप निर्मूल था। बिहारीलालजी का वर्णन कवि-परपरा से सिद्ध होने के कारण शुद्ध है।

इस पर पं० कृष्णविहारी मिश्र बहुत बिगडे हैं। शर्माजी को पक्ष-

पात में अधे, 'बिहारीलालजी के अध-भक्त' आदि कहकर अपने दिल का बुखार निकाला है। आपने 'देव और बिहारी' में लिखा है—

"अपव्यय-स्वरूप फुटकर उदाहरणों से व्यापक नियम नहीं बनाया जा सकता। भाषा के कवियों (!) ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वर्षा-काल में चक्रवाक नहीं होते। हंटर-कमेटी की मेजारिटी रिपोर्ट जिस प्रकार सफेदी चढ़ाकर डायर-कृत दोष को छिपा नहीं सकती, उसी प्रकार शर्माजी बिहारीलालजी के दोष पर आवरण नहीं डाल सकते। भाषा के कवि निश्चय-पूर्वक वर्षा-काल में चक्रवाक का वर्णन अनुचित समझते हैं।"

(देव और बिहारी, भूमिका)

मिश्रजी का यह मत देखकर मुझे उनकी बुद्धि पर हँसी आती है। क्या बिहारीलालजी, सेवक, कृष्ण और शकर भाषा के कवि नहीं हैं? फिर भाषा-कवि निश्चय-पूर्वक वर्षा-काल में चक्रवाक का वर्णन अनुचित समझते हैं, कहना कितनी नादानी है। मिश्रजी के आक्षेप के उत्तर में मेरा कहना यह है कि भाषा के कवि वर्षा में चक्रवाक का वर्णन सर्वथा उपयुक्त समझते हैं। आपने भाषा-कवियों के वर्णन अभी देखे ही कहाँ हैं? तीन कवियों-समेत बिहारीलालजी के वर्णन तो शर्माजी ने दिखला ही दिए हैं, अब यहाँ मैं 'भाषा के कवि' किस प्रकार वर्षा में चक्रवाक का वर्णन करते हैं, इसके कुछ उदाहरण और देता हूँ। देखिए—

> चातक चिहुँक मत, मुरवा कुहुक मत,
> झींगुर झिंकार मत, केकी मननाय मत;
> चकवा चिकार मत, पपिहा पुकार मत,
> बुंद झर धार मत, धार घहराय मत।
> 'कृष्णलाल' गाय मत, पीर उपजाय मत,
> बालम विदेश पाय मैन तन ताय मत;

पौन फहराय मत, चपला चवाय मत,
घाय मत धुरवा औ' घन घहराय मत ।
(कृष्णलाल कवि, ष० ऋ० इ०, पृ० १५१)

कैधों उहि देश घन घुमड़ न बरसत,
कैधों मकरंद नदी-नद-पथ भरिगे,
कैधों पिक चातक चकित चक्रवाक वाक,
मत्त भए दादुर मधुप मोर मरिगे।
.. ..
.... ;
कैधों पंचसर हर फेर कै भसम कीन्हों,
कैधों पंचसरजू के पाँचों सर* सरिगे।
(मकरंद कवि, ष० ऋ० इ०, पृ० २१०)

झर की झरन झार झरी-सी झरन अंग,
झंझा की झकोर झार झपटी झरीन में ;
छटा की उछट छबि छपत छपाकर की
छाय रही छनदा सुहाई दिन्न दीन में।
चातक चिहार चकचौध चारु चहूँ दिशि
चकित चकोर चकवाल पी बिहीन में,
तावस परे हैं 'पूखी' कावस पराए देस,
पावस मे तामस रह्यो न बिरहीन में।
(पूखी कवि)

---

* पाँचों सर—
मारणं स्तम्भन चैव जृम्भणं शोषणं तथा ,
उन्मादन पञ्चबाणान्मन्मथो बिभर्ति स ।

चकई को रैन-भर बिछोहा सुनो री आली,
काली यह साँपिनु-सी रात मोहिं काटे खात;
कैसे कै बिचारे ये पखेरू अति कामी लोल
प्रानन की प्यारी के बियोग मे न मुरझात।
आधी रात टेर-टेर पापी जौ पपीहा हाय,
पीय-पीय पी-पी कर सुरत सुखावे गात;
कौन-से भौतिक में भरमै ये बिसासी प्रान;
हाय 'जगमोहन' इतै ये क्यों न कढ़ि जात।
(राजा जगमोहनसिंह)

बोलत न मोर भयो, चंद्रमा मलीन भयो,
चातक रटनि बकी काहे तें भुलानी है,
कोक हू मिले हैं तिन्हैं दुख सरसानो अति,
हूरप चकोरन के प्रीति कुम्हिलानी है।
'बंशीधर' कहैं भौंर-मंडल कलोल करैं,
केकरि अडोल रहे सौत-मन-हानी है;
चचला हिरानी, घन-बानी को न लेश रह्यो,
कौन रीति पावस की आजु दरसानी है।
(बंशीधर कवि, प० श्र० ह०, पृ० २०२)

चहुँघाँ तें घरी घरी घेरि घना घन की घटा घोर घनी घहरैं;
छिन-ही-छिन छीनन को बरही छिति लौं छिन छाय छटा छहरैं।
चकवा-चकई बक चातक चोड़िन की चिचियानि चहूँ चहरैं;
बिलखाय बियोगिनि वेदन सों 'बिजयानँद' बैठ रहे बहरैं।
(बिजयानंद, प० श्र० ह०, पृ० २०८)

निबन्ध-भय से अन्य कवियों के छंदों को उद्धृत नहीं कर सकता। गया है, विद्वान् पाठक इतने से ही संतोष करेंगे। हमारे पाठकों

को इन छंदों से यह तो विदित हो ही गया होगा कि प० कृष्णविहारी मिश्र का यह कहना कि 'भाषा के कवि निश्चय-पूर्वक वर्षा-काल मे चक्रवाक का वर्णन अनुचित समझते हैं', अनर्गल है। जब यह वर्णन कवि-परपरा से सिद्ध है, तब विहारीलालजी इसके लिये दोषी नहीं ठहराए जा सकते। हिंदी-भाषा के माननीय आचार्य-प्रवर भिखारीदास अपने सुप्रसिद्ध रीति-ग्र थ काव्य-निर्णय मे ऐसे प्रसग के विषय में निर्णय देते हुए लिखते हैं—

जो प्रसिद्ध कवि रीति मे, सो संतत गुण होय,
लोक-बिरुद्ध बिलोकिकै दूपण गनै न कोय।

रही यह बात कि वर्षा मे चक्रवाक होते हैं या नहीं, सो इसके विषय मे मेरा कथन यह है कि होते हैं। तीन वर्ष पूर्व मै ओरछे के महाराजकुमार वीरसिंहजू देव बहादुर से मिलने उनके यहाँ गया था। वहाँ एक दिन साहित्य-चर्चा के सिलसिले मे वर्षा में चक्रवाक के विषय मे बातचीत हुई। श्रीमान् महाराजकुमार ने कहा कि वर्षा में चक्रवाक होते हैं। भादो में भी तालाबों के किनारे चक्रवाक (सुरखाब) देखे जाते हैं। हिंदू लोग चक्रवाक का शिकार नही खेलते, पर मुसलमान खेलते हैं। बिहारीलालजी के इसी उक्त दोहे के विपय मे बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'बिहारी-रत्नाकर' में लिखा है—

"हमारी समझ मे इस दोहे मे इन झगड़ों का कोई अवसर ही नहीं है। धनाढ्यों के उपवनो तथा पाईंबागो मे मयूर, सरहस, चक्रवाक इत्यादि प्राय. पले रहते हैं, और बहुधा उनके पर भी काट दिए जाते हैं। अतएव चाहे जंगली चक्रवाक वर्षा-ऋतु मे भारतवर्ष में रहते हों या नही, पर ये बेचारे पलुवे चक्रवाक तो अवश्य ही उन उपवनों मे उपस्थित रहते हैं। जो लोग उपवनों में सारस, चक्रवाक इत्यादि पालते हैं, वे उनमें कोई कृत्रिम झील भी बनवा देते हैं।

बिहारी का यहाँ चकई-चकवाओं से तात्पर्य ऐसे ही पलुवे चकई-चकवाओं से है, क्योंकि रात्रि-दिवस का निर्णय करने के निमित्त कोई जगल की दूरस्थ झीलो को देखने क्यों जाने लगा, विशेषत. ऐसे समय, जब सघन घनों के कारण दिन रात्रि-सा हो रहा हो। चकई-चकवाओं के शब्द भी तो ऐसे ऊँचे नहीं होते कि ग्राम के बाहर की झील से ग्राम मे सुनाई दें। कवि का मुख्य वर्णनीय विषय यहाँ पावस का सघन अधकार है, चकई-चकवा का वर्णन केवल गौण रीति पर, मुख्यार्थ साधन के निमित्त, हुआ है।"

(बिहारी-रत्नाकर, पृ० २०१)

तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी के प्रकृति-पर्यवेक्षण मे रत्ती-भर भी भूल नहीं है। भूल है भूल बतलानेवालों की समझ की। प० कृष्णविहारी मिश्र ने तुलसीदासजी की एक चौपाई इसी सिलसिले मे 'देव और बिहारी' पुस्तक मे उद्धृत की है। वह यह है—

देखहु चक्रवाक खग नाहीं, कलिहिं पाइ जिमि धर्म पराहीं।

फिर लिखा है—"गोस्वामी तुलसीदासजी ने वर्षा मे चक्रवाक नही माने, यह इस बात का प्रबल प्रमाण है कि हिंदी-कवि वर्षा मे चक्रवाक नहीं मानते।" मेरा नम्र निवेदन यह है कि महात्मा तुलसी-दासजी ने जो कुछ कहा है, वह सब-का-सब 'सत्य शिव सुंदर' नहीं है। उन्होंने भी भूलें की हैं, क्योंकि वह भी तो अतत. मनुष्य ही थे। उनका कथन सर्वत्र माननीय है, यह कैसे कहा जा सकता है? देखिए, निम्न-लिखित दोहे में तुलसीदासजी ने प्रकृति-पर्यवेक्षण की भूल किस प्रकार की है—

तुलसी पावस के समय धरौ कोकिलन मौन,
अब तौ दादुर बोलिहैं, हमैं पूँछिहै कौन।

(तुलसीदास)

इसमें यह वर्णन किया गया है कि वर्षा में कोकिल नहीं कूकती, पर यह वर्णन सर्वथा अशुद्ध है। वर्षा-ऋतु में उपवन आदि में कोकिल की कूक साफ़ सुनाई देती है। इसे जो चाहें, स्वयं सुनकर जान सकते हैं। इसके सिवा हिंदी और संस्कृत के सैकड़ों कवियों ने सहस्रों छंदों में वर्षा-काल में कोकिल के बोलने का वर्णन किया है।

हिंदी के सम्माननीय प्रचारक विद्वान् बाबू श्यामसुंदरदास ने अपने साहित्यालोचन-नामक ग्रंथ के पृष्ठ ८६ में, कवि-कल्पना में, सत्यता का विवेचन करते हुए, लिखा है—

"चकोर का आग खाना, चंद्रकांत मणि का जल टपकाना आदि कवि-कल्पित बातें हैं, जिनका व्यवहार कविजन केवल अंध-परंपरा के कारण करते आए हैं। हमारी समझ में इस परंपरा को छोड़कर प्रकृति का अनुसरण करना ही उचित और संगत होगा। प्रकृति के विरुद्ध बातें यदि वे कवि-पद्धति के अनुसार हों, तो कवि की परतंत्रता सूचित करती हैं। पर जहाँ कवि-प्रथा भी नहीं है, वहाँ वैसी उक्तियाँ कवि की अज्ञानता, उच्छृंखलता या प्रकृति की अवहेलना ही सूचित करती हैं। जैसे बिहारी-सतसई के कर्ता ने यह दोहा लिखा है—

सन सूक्यौ बीतौ बनौ, ऊखौ लई उखारि;
हरी-हरी अरहर अजौं धर धर हर हिय नारि।

जिन्हें इस बात का अनुभव है कि किस ऋतु में कौन-कौन धान्य उत्पन्न होते और पकते हैं, वे कहेंगे कि कपास पहले होती है, और सन पीछे उखाड़ा जाता है। पर बिहारीलालजी ने सन के पीछे कपास का होना बताया है। इस संबंध में इतना ही कहना बहुत होगा कि कवि ने अपने या दूसरों के अनुभव से काम नहीं लिया, और इस प्रकार प्रकृति के साथ अन्याय कर डाला।

शृंगार-सतसई के कर्ता ने इसी भाव को इस दोहे में इस प्रकार दिखाया है—

> कित चित गोरी जो भयो ऊख रहरि के नास,
> अजहूँ अरी हरी-हरी जहँ-तहँ खरी कपास।

और अरहर के कट जाने पर भी कपास के पौधों का जहाँ-तहाँ हरा रहना वर्णन किया है, जो ठीक ही है।"

बाबू श्यामसुंदरदासजी की राय में बिहारीलालजी ने अज्ञान, उच्छृंखलता या प्रकृति की अवहेलना करके सन के उखाड़े जाने के बाद कपास का होना लिखकर प्रकृति के साथ अन्याय कर डाला है। इन महाशय ने बिना समझे-बूझे इतने बड़े महाकवि एवं प्रकृति-निरीक्षक की भूल इस भद्दी रीति से बतलाने में एवं इन अशिष्टता-सूचक शब्दों के प्रयोग करने में न-जाने क्या भलाई समझी? भूल को इतने निर्भ्रांत होकर इतनी उद्दंडता से दूसरे के सिर थोपने के पहले इन्हें भी तो कुछ पता लगा लेना था।

महाकवि श्रीबिहारीलालजी ने तो स्वयं निरीक्षण करके और संपूर्ण उत्तर-भारत के कृषकों के अनुभव से काम लेकर प्रकृति के अनुकूल सच्चा, स्वाभाविक वर्णन किया है पर बाबू साहब ने न तो अपने अनुभव से और न दूसरों के अनुभव से ही लाभ उठाया। दोनो का प्रमाण लीजिए—

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित होनेवाली मनोरंजन-पुस्तक-माला में इन्हीं बाबू श्यामसुंदरदासजी के संपादन में 'कृषि-कौमुदी'-नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक के अंत में कुछ नक्शे दिए हैं, जिनमें यह दिखलाया है कि किस ऋतु में कौन-कौन धान्य उत्पन्न होते और पकते हैं। बिहारीलालजी के उपर्युक्त दोहे

में वर्णित धान्य कब-कब उत्पन्न होते या पकते हैं, इसे हम उसी से दिखलाते हैं—

धान्य का नाम	बोने का समय	काटने का समय
सन	जुलाई	ऑक्टोबर
कपास	जुलाई	चुनाई ऑक्टोबर से जनवरी तक
ऊख	फरवरी-मार्च	नवम्बर से जनवरी तक
अरहर	जुलाई	चैत, मार्च-एप्रिल

इस नक्शे से यह स्पष्ट विदित होता है कि सन ऑक्टोबर में कट जाता है, कपास जनवरी तक चुनी जाती और फिर काटी जाती है। ऊख जनवरी के अंत तक, बल्कि मार्च तक रहती है। अरहर इससे भी आगे चैत और वैशाख तक कटती है।

इसके सिवा 'साहित्यालोचन' लिखने के पूर्व ही प० पद्मसिंह शर्मा ने सतसई के सजीवन-भाष्य के भूमिका-भाग में बिहारीलालजी के उक्त दोहे के साथ शृंगार-सतसई के उपर्युक्त दोहे की तुलनात्मक आलोचना करते हुए लिखा था—

"ऊपर के दोहे में बिहारी ने शब्द-रचना-चातुर्य—अनुपम छेकानुप्रास-माधुर्य के अतिरिक्त अपनी प्रकृति-पर्यवेक्षण-प्रवीणता का परिचय भी कितने अच्छे प्रकार से दिया है। किसी 'संकेत-विघट्टना'—अनुशयाना नायिका को अंतरंग सखी धीरज बँधा रही है कि यद्यपि सन सूख गया, वन (कपास) की बहार बीत गई

और ऊख (ईख) भी उखाड़ ली गई, पर अभी हरी-हरी अरहर खड़ी है, इसलिये हृदय में धीरज धर, घबरा मत, एक बहुत सघन संकेतस्थल (सहेट) अरहर का खेत अभी बना है।

दोहे में इन चीजों के सूखने और उखड़ने आदि का क्रम बिलकुल ठीक है। हर जगह का किसान इसकी ताईद करेगा।

अब जरा शृंगार-सतसईकार का 'नेचर-निरीक्षण' देखिए। इन हज़रत ने अनभिज्ञता से 'नास' के साथ 'कपास' की तुक मिलाने की धुन में कितनी उलटी बात कह डाली है, जो वास्तविकता के—प्राय- सार्वदेशिक अनुभव के—विरुद्ध है। ऊख (ईख) के बाद 'रहरि' (अरहर) का नाश नहीं हो जाता, प्रत्युत वह ईख के बहुत दिनों पीछे तक—गेहूँ कटने तक—हरी-भरी खड़ी रहती है, और बन (कपास) की बहार इन दोनो से बहुत पहले बीत जाती है। पर शृंगार-सतसई उस समय 'जहँ-तहँ हरी-हरी कपास खरी' देख रहे हैं, जब उसका अक्सर निशान भी नहीं रहता। भारतवर्ष में तो क़रीब-करीब सब जगह ऐसा ही होता है।'

(सत० मंजी० भा० भूमिका-भाग, पृष्ठ १२६-१२७)

तात्पर्य यह कि बाबू श्यामसुंदरदास ने स्वयं ही न तो अपने अनुभव से, न दूसरों के ही अनुभव से लाभ उठाया, और एक व्यर्थ अपराध महाकवि बिहारीलालजी के सिर मढ़ने का उपहा-सास्पद प्रयत्न कर डाला।

उपसंहार

इस प्रकार भिन्न-भिन्न अध्यायों मे भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोणों से बिहारी-सतसई का दिग्दर्शन करा चुकने पर यह स्पष्ट है कि ब्रज-भाषा-साहित्य की इस गौरवमयी रचना मे सचमुच गागर मे सागर भरा है। इस छोटे-से अनोखे काव्य-कोष की काव्य-कला-सबधिनी उत्कृष्टता एव गभीरता पर रसिक काव्य-प्रेमी एव साहित्य-मर्मज्ञ हृदय न्योछावर करते आए हैं। यद्यपि सैकड़ों धुरधर विद्वान् साहित्य-मर्मज्ञ विवेचकों ने काव्य के इस अनुपम खजाने की असीम प्रशसा की है, पर कुछ ऐसे सज्जन भी हैं, जिन्होंने बिहारीलालजी के उत्कृष्टतम काव्य में कतिपय दोषों की उद्भावना की है। इनमें भी जहाँ प्राचीन विवेचक टीकाकारों ने कही एकाध दोष दिखलाया है, वहाँ आधुनिक आलोचक श्रीमिश्रबधुओ एव प० कृष्णविहारी मिश्र ने बिहारीलालजी के व्यक्तित्व एव उनकी सतसई पर कुछ निंद्य आक्षेप किए हैं।

श्रीयुत मिश्रबधुओ ने हिंदी-नवरत्न मे बिहारीलालजी का गुडो-जैसा काल्पनिक चित्र बनवाकर उस समय छपवाया, जब उन्हे थोडे-से परिश्रम से बिहारीलालजी का प्राचीन, प्रामाणिक चित्र जयपुर-दरबार से प्राप्त हो सकता था। इस चित्र पर आलोचकों ने घोर आपत्ति की थी, पर श्रीमिश्रबधुओं ने उनकी कुछ भी परवा न कर नवरत्न के द्वितीय सस्करण मे उस चित्र को जैसे-का-तैसा रख दिया। इस प्रकार किसी के चरित्र पर कलक-कालिमा पोतने की गर्हणीय दुश्चेष्टा करना अत्यत अनुचित है। इसके सिवा कहीं बिहारीलालजी की रचना मे काइयॉपन बतलाया है, तो कहीं उनकी

भक्ति का तिरस्कार करने का दुस्साहस किया है। इस प्रकार कई जगह निंदात्मक ढंग से कलम चलाई है। सतसई के प्रति दोहे पर एक मोहर की प्राप्ति की बात पर आप लोगों ने नवरत्न के प्रथम संस्करण में लिखा था "कहते हैं कि राजा जयसिंह ने इन्हें (बिहारी को) प्रति दोहा एक मोहर दी। यह एक मोहरवाली बात यथार्थ नहीं जँचती। जान पड़ता है, इनका पूरा सम्मान कभी नहीं हुआ। यदि प्रति दोहा एक मोहर मिलती होती, तो यह हजारों दोहे बना डालते, और सात सौ दोहों पर संतोष न करते। यदि मोहरों पर हजारों दोहे बने होते, तो वे इनके लिए भी लुप्त न होते।"

(प्रथम सं०, पृष्ठ २७३)

इस पर विद्वान् आलोचकों ने समझाया था कि प्रबल जन-श्रुति के विरुद्ध बिना प्रमाण के ऐसे मनगढ़ंत, काल्पनिक आक्षेप करना निंद्य कार्य है, परंतु हठवादी श्रीमिश्रबंधुओं ने इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया, वरन् द्वितीय संस्करण में और भी तेज़ी से लिखा है—"यह एक मोहरवाली बात ठीक नहीं जँचती। जान पड़ता है, इनका पूरा सम्मान कभी कहीं नहीं हुआ। यदि हर-एक दोहे पर एक मोहर मिलती होती, तो वह हजारों दोहे बना डालते सात सौ दोहों पर संतोष न करते। यदि मोहरों के पुरस्कार पर हजारों दोहे बने होते, तो वे उनके लिए भी लुप्त न होते।"

(हिंदी-नवरत्न, द्वि० सं०, पृष्ठ २७६)

भूषण कवि को शिवाजी द्वारा मालोपमा के एक साधारण कवित्त पर, उस समय जब कि राष्ट्रीय कार्य के लिये धनाभाव था, लाखों रुपया दिया जाना तो यथार्थ जँचा, पर मिर्जा राजा जयसिंह-जैसे श्रीमान् नरेश द्वारा सात सौ अशर्फियाँ, उस समय जब कि बिहारी-लालजी ने राजा जयसिंह पर कविता का जादू चलाकर उनका अपार हित किया था, दिया जाना यथार्थ नहीं जँचा। सच तो यह है कि

बिहारीलालजी के साथ अन्याय कर उन्हें देव से हीन प्रमाणित करने की धुन में इन महाशयों ने बिहारीलालजी पर यह जुल्म ढाया है। आप लोगों ने बिहारीलालजी की संपूर्ण रचना में छः दोष दिखलाए हैं— (१) शृंगार में मरण-दशा का वर्णन, (२) गर्भवती नायिका का वर्णन, (३) वर्षा में चक्रवाक, (४) रात्रि में भ्रमण-वर्णन, (५) पति द्वारा चुंबित पुत्र के मुख-चुंबन से नायिका के हृदय में सात्त्विक भाव की उत्पत्ति और (६) भाषा की तोड़-मरोड़ का दोष।

नवरत्न के बाद पं० पद्मसिंह शर्मा का 'सतसई-संजीवन-भाष्य'-नामक तुलनात्मक समालोचना-पूर्ण ग्रंथ निकला। इसका हिंदी में स्वागत हुआ, और सर्व-प्रथम इसी ग्रंथ पर अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा मंगलाप्रसाद-पुरस्कार प्राप्त हुआ। इसमें विद्वान् समालोचक ने यह भली भाँति सप्रमाण सिद्ध कर दिखाया है कि बिहारी-सतसई के अनेक दोहे 'आर्या-सप्तशती' और 'गाथा-सप्तशती' एवं 'अमरुक-शतक' के श्लोकों एवं श्रीकेशवदास आदि की सूक्तियों के आधार पर बने हैं। पर साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि बिहारीलालजी ने गृहीत भावों को अपनी प्रतिभा के बल से सर्वथा स्वतंत्र और अधिक सुंदर रूप दे दिया है। साथ ही आपने तुलनात्मक आलोचना द्वारा बिहारी-सतसई के दोहों की तुलना संस्कृत, फ़ारसी, उर्दू एवं हिंदी के प्रसिद्ध कवीश्वरों के समान भाववाले छंदों से करके यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि बिहारीलालजी की कविता बहुत ही उच्च कोटि की है। उनकी समता की कविता ढूँढ़ निकालना दुस्साध्य है। इनमें संस्कृत-साहित्य में सम्माननीय गाथा-सप्तशती, आर्या-सप्तशती, अमरुक-शतक, पंडितराज जगन्नाथ त्रिशूली, महाकवि श्रीहर्ष महाराजा भर्तृहरि, महाकवि बिल्हण आदि हैं। उर्दू-कवियों में उर्दू-काव्य-जगत् के प्रसिद्ध सम्राट् गालिब, जौक, मीर, मीर तकी, मीर दर्द, नासिख, मोमिन, दाग, [illegible],

जफर, नजीर एवं अकबर आदि हैं। हिंदी-कवियों में आचार्य और महाकवि केशवदास, महाकवि राय सुंदर, तोषनिधि, दूलह, सेनापति, भिखारीदास, गंग, मतिराम, पद्माकर, कालिदास एवं कविवर रसखानि आदि हैं, जिनकी रचनाओं से हिंदी-काव्य का गौरव है। इनके अतिरिक्त सतसई के ढंग के प्रसिद्ध ग्रंथ जैसे शृंगार-सतसई, विक्रम-सतसई, रतनहजारा और वृंद-सतसई की सूक्तियों से भी बिहारी-सतसई की सूक्तियों की तुलना की गई है। शर्माजी ने तुलनात्मक आलोचना द्वारा यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि इन सबके मुकाबिले में बिहारी-सतसई के दोहे ही श्रेष्ठ ठहरते हैं। इसके बाद आपने बिहारीलालजी को हिंदी-भाषा का सर्वश्रेष्ठ शृंगारी कवि घोषित किया है। फिर दोष-परिहार-शीर्षक में पृष्ठ २६० से २७२ तक श्रीमिश्रबंधुओं के बतलाए दोषों का सप्रमाण निराकरण करके लिखा है—"इस अतिरिक्त मेसर्स मिश्रबंधुओं ने बिहारी पर और भी कृपा की है। बिहारी की भक्ति को वितंडा-मात्र कहा है। उसे काइयाँपन की उपाधि दी है गुंडों का-सा चित्र बनाकर उनके चरित्र पर कलंक-कालिमा पोतने की गर्हणीय दुश्चेष्टा की है . . ।"

श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने हिंदी-नवरत्न में देव को अपने पिता स्वर्गीय पं० बालदत्तजी मिश्र की सुखसागर-तरंग की भूमिका में दी हुई सम्मति के अनुसार, बिहारीलालजी से श्रेष्ठ मान लिया है। पर इसके लिये इन महाशयों ने कोई कारण नहीं बतलाया। और, सच तो यह कि देव को बिहारीलालजी से श्रेष्ठ सिद्ध करने की धुन में ही आप लोगों ने बिहारीलालजी के साथ घोर अन्याय कर डाला है। पं० पद्मसिंह शर्मा द्वारा बिहारी-विषयक अपने पाँचों आक्षेपों का प्रामाणिक उत्तर दिए जाने पर एवं बिहारीलालजी को सर्वश्रेष्ठ हिंदी-कवि प्रमाणित हुआ देखकर तथा देव कवि को संजीवन भाष्य में तुलना के संबंध में स्थान मिलता न देखकर श्रीयुत

मिश्रबंधुओं ने रुष्ट होकर पं० कृष्णविहारी मिश्र से 'देव और बिहारी'-नामक तुलनात्मक आलोचना-पूर्ण ग्रंथ लिखवाया। इसके विषय में श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने हिंदी-नवरत्न के द्वितीय संस्करण में स्वयं ही लिखा है—"चिरजीवि कृष्णविहारी मिश्र ने अपनी 'देव और बिहारी'-पुस्तक में ऐसी (तुलनात्मक) आलोचना भी की है। उक्त ग्रंथ भी . हिंदी-नवरत्न का ही अंग है।"

(भू० पृ०, ४-५)

तात्पर्य यह कि पं० कृष्णविहारी मिश्र-कृत 'देव और बिहारी' को मिश्रबंधुओं ने स्वयं ही अपने 'हिंदी-नवरत्न का अंग खुले खजाने स्वीकार किया है। इस ग्रंथ के लिखने में ग्रंथकार के दो मूल उद्देश्य स्पष्ट हैं—(१) पं० पद्मसिंह शर्मा को खरी-खोटी सुनाकर उनका उपहास करना और (२) अनुचित पक्षपात करके देव को बिहारीलालजी से श्रेष्ठ सिद्ध कर श्रीमिश्रबंधुओं के भ्रमात्मक मत का समर्थन करना। आपने 'देव और बिहारी' की भूमिका में 'पं० पद्मसिंह शर्मा का बिहारी के साथ अनुचित पक्षपात'-शीर्षक देकर एक निबंध पृष्ठ ६६ से पृष्ठ ८६ तक २० पृष्ठों में लिखा है। उसमें पं० पद्मसिंह शर्मा पर अनेक कटु आक्षेप किए हैं, डरा-धमका-कर उन्हें कहीं उपदेश दिया है, और कहीं उन्हें ज्ञान-हीन एवं हठवादी आदि सिद्ध करने का दुर्बल एवं असफल प्रयत्न किया है। आपने स्पष्ट ही लिखा है—"मिश्रबंधु-विनोद और नवरत्न के रचयिताओं पर भी भाष्यकार ने नाना भाँति के आक्षेप किए हैं। . कहीं-कहीं पर भाष्यकार ने उनको गुरुवत् उपदेश-सा दिया है यथा 'ऐसा न लिखा कीजिए, ऐसा लिखिए।' धमकी की भी कमी नहीं है। बिहारीलालजी के चरित्र को अच्छा न बतलाने के कारण उन पर कविवर के चरित्र को जान-बूझकर सदोष बतलाने की 'गर्हणीय दुश्चेष्टा' का अभियोग भी लगाया गया है। नवरत्न के रचयिताओं

पर जितने आक्षेप भाष्यकार ने किए हैं, उनमें से एक भी ऐसा नहीं है, जो मतभेद से खाली हो।' (पृष्ठ ६२) "इस पक्षपात का ज्वलंत उदाहरण पाठकों को इसी से मिल जावेगा कि देव-सदृश उच्च कोटि के शृंगारी कवि की कविता से बिहारी के दोहों की तुलना तो दूर रही, उस बेचारे का नाम तक संजीवन-भाष्य के प्रथम भाग में नहीं आने पाया है।" (पृष्ठ ५७)

आपने देव कवि को महाकवि बिहारीलालजी से ऊँचा सिद्ध करने का जो दुर्बल प्रयत्न किया है, उसमें आदि से अंत तक अंध-भक्ति और अनुचित पक्षपात का साम्राज्य है। इसका ज्वलंत उदाहरण यह है कि आप ग्रंथ में आदि से अंत तक देव कवि को 'देवजी' और महाकवि बिहारीलालजी को बिहारी लिखते गए हैं। बिहारीलालजी के नाम के साथ आदर-सूचक 'जी' का प्रयोग करने में आपका हृदय अनुमति ही न देता था। यह ईर्षा निंद्य है। फिर पुस्तक में दोनो को स्थान देने में जो अन्याय हुआ है, वह भी कम निंदनीय नहीं है। जैसे—

बहुदर्शिता-नामक अध्याय में १५ पृष्ठों में से देव को १२ और बिहारी को ३ पृष्ठ दिए गए हैं।

प्रेम-परिचय ,, १५ ,, ,, १२½ पृष्ठ और बिहारी को २½ पृष्ठ दिए गए हैं।

मन ,, ,, १४ ,, ,, ११ पृष्ठ और बिहारी को १½ पृष्ठ दिया गया है।

शेष १½ पृष्ठों में 'छप्यो'-शब्द पर प० पद्मसिंह को आड़े हाथों लिया है।

नेत्र ,, ,, ५½ ,, ,, ४ पृष्ठ और बिहारी को १½ पृष्ठ दिया गया है।

भाषा ,, ८ ,, ,, ६ पृष्ठ और बिहारी को २ पृष्ठ दिए गए हैं।

फिर बिहारीलालजी के विषय मे जिस निंदनीय ढग से लिखकर देव के दोष छिपाए हैं, उसके लिये ये महाशय निंदा के पात्र हैं। आप अपने दोनो उद्देश्या द्वारा महाकवि श्रीबिहारीलालजी को हीन सिद्ध करने म कहाँ तक सफल हुए ह, इसे यहाँ प्रसग-वश दिखलाना अनिवार्य रूप से आवश्यक प्रतीत होता है। पहले प० पद्मसिंह शर्मा का प० कृष्णविहारी मिश्र द्वारा दिखलाया पक्षपात दो उदाहरणो मे दिखलाता हूँ, फिर बिहारीलालजी और देव की तुलना पर सक्षिप्त विचार किया जाता है।

यहाँ मै पहले मिश्रजी की रचना का वह अश दिखलाता हूँ, जिसमे प० पद्मसिंह शर्मा पर अनुचित कटाक्ष किए गए हैं। प० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारीलालजी के तीन दोहों की तुलना केशवदासजी के तीन कवित्तो से की है। उस पर मिश्रजी ने कटाक्ष किया है। यहाँ मे उभय कवियो के छद प० पद्मसिंह की आलोचना और प० कृष्णविहारी मिश्र की प्रत्यालोचना एव अपनी व्याख्या-सहित पाठको के सम्मुख उपस्थित किए देता हूँ—

नेकु हँसौंही बान तजि लख्यो परत मुख नीठि,
चौका चमकनि चौंध में परति चौध-सी डीठि।

(बिहारी)

तैसीए जगति जोति सीस सोसफूलन की,
चिलकत तिलक तरुनि तेरे भाल को;
तैसीए दसन-दुति दमकति 'केसोराय',
तैसोई लसत लाल कंठ कंठ-माल को।
तैसीए चमक चारु चिबुक कपोलन की,
झलकत तैसो नाक-मोती चल चाल को;

हरे - हरे हँसि नेक चतुर चपलनैनि,
चित चकचौंधे मेरे मदन-गुपाल को।
(केशव)

'केशवदासजी ने अपने मदनगोपाल के चित्त की चकाचौंध के लिये इतनी चमकीली चीजें एक जगह जमा कर दी हैं कि उनकी मौजूदगी में चकाचौंध न हो, तो ताज्जुब है। सिर पर जगमगाता सीसफूल, माथे पर चमकता तिलक, दाँतों की चमक, कंठ में लाल रत्नों का कंठा, नाक में हिलता हुआ आबदार मोती फिर चिबुक और कपोल की दमक, उस पर चपल-नैनी का जोर-जोर से हँसना, इतने पर भी चकाचौंध न हो तो कब हो? यह कोई आश्चर्य की बात नहीं हुई।

"पर बिहारी के यहाँ कमाल है। नायिका के हँसने में जो ज़रा दाँतों का चौका खुलता है तो उसी के प्रकाश से देखनेवाले की आँखों में ऐसी चकाचौंध छा जाती है कि मुँह मुश्किल से नजर आता है। आँखों के सामने जब बिजली कौंद जाती है, तो सामने की चीज नज़र नहीं आती। इस अकेली दशन-प्रभा के सामने केशवदास की इधर-उधर से जुटाई हुई सारी चमकीली चीजें मात हैं।"

(प० पद्मसिंह शर्मा सत० सञ्जी० भा० भू० भा०, पृष्ठ ६६-६७)

शर्माजी पर आक्षेप करते हुए मिश्रजी लिखते हैं—

"शर्माजी ने बिहारी के कई दोहों की तुलना केशवदास के कवित्तों से की है। तुलना के पश्चात् बिहारीलाल को बलात् श्रेष्ठ ठहराया है। जिन कवित्तों से तुलना की गई है, केवल उन्हीं पर विचार करने से तो केशवदास किसी भी प्रकार हीन प्रमाणित नहीं होते हैं। बड़े ही दुख का स्थल है कि शर्माजी केशवदास के जिस कवित्त का पूर्ण अर्थ भी नहीं समझ पाते, उसी को बिहारीलाल के

दोहे के साथ तुलना करने के लिये उद्धृत करते है। यह कहाँ का न्याय है? 'हरे-हरे हँसि नेक चतुर चपलनैनि चित चकचौंधे मेरे मदन-गुपाल को।' इस पद में 'हरे-हरे हँसि चपलनैनि' का अर्थ शर्माजी ने चपलनैनि का ज़ोर-जोर से हँसना किया है। 'हरे-हरे हँसि' का अर्थ जोर से हँसना न होकर ठीक उसके विपरीत 'धीरे-धीरे हँसना' है। पर आपको इससे क्या? येन केन प्रकारेण विहारीलाल श्रेष्ठ सिद्ध हो जायँ, इसी की धुन समाई है। यदि विहारीलाल ने 'नेक हँसौंही' कहा था, तो चट आपने केशव के छंद में 'नेकु' का उल्टा 'ज़ोर-जोर से' ढूँढ लिया। बलिहारी इस धाँधली और विदग्धता की! यदि विहारीलाल जीवित होते, तो केशव से बड़े सिद्ध होने के लिये कदाचित् इस प्रकार की चालें कभी पसंद न करते।

"हमारी राय मे केशव का कवित्त दोहे से जरा भी नहीं दबता है। परन्तु जो पक्षपात का चश्मा चढाए है, उससे कौन क्या कहे?— शर्माजी अपने वितंडावाद से केशव की इस अनूठी उक्ति की रमणीयता नष्ट नहीं कर सकते हैं।"

(प० कृष्णविहारी मिश्र 'देव और विहारी', पृष्ठ ७१-७३)

उपर्युक्त अवतरण मे मिश्रजी की 'साधु भाषा' और 'सौम्य स्वभाव' का पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है। इसे ही अनेक लोग आदर्श समालोचना मान बैठे हैं। इस तरह निंद्य आक्षेप करना और वह भी ऐसी अशिष्ट भाषा में, सभ्य-समाज में कभी उचित नहीं माना जा सकता। केशव के छंद के विषय में कोई भी साहित्य-मर्मज्ञ कह देगा कि वह विहारीलालजी के दोहे से बहुत नीचा है। अपनी नासमझी के कारण मिश्रजी ने इसे श्रेष्ठ कहा है। खूबी तो यह है कि आपने उस स्थल पर उभय कवियो के पद्यों को भी उद्धृत नहीं किया है। यह चालबाज़ी अच्छी नहीं कही जा सकती।

कम-से-कम पद्य तो लिख ही देते, जिसमें साहित्य-मर्मज्ञ मिश्रजी के कथन पर विचार करने का अवसर पाते। स्थानाभाव का बहाना नहीं किया जा सकता। जहाँ मिश्रजी वितंडावाद में दो सफे काले कर सके हैं, वहाँ दो पद्य भी उद्धृत कर सकते थे। खैर, अब मैं पाठकों के सम्मुख दोनों की व्याख्या की विवेचना उपस्थित करता हूँ—

दोहे में नायक किसी स्मितवादिनी, हास्यमयी सुंदरी से कहता है—

'हे प्रियतमे ! धीरे-धीरे हँसने की आदत छोड़ दे, क्योंकि इससे तेरे सुंदर मुख की ओर देखना कठिन हो जाता है। तेरे थोड़ा हँसने में जो दाँतों का चौका जरा खुलता है, उसकी चमक से चकाचौंध पैदा होती है, और मेरी आँखें उसमें चकचौंधिया जाती हैं।'

बिहारीलालजी के इस वर्णन में नायिका की 'नेकु हँसौंहीं बानि' के कारण जो दाँतों का चौका जरा खुलता है, उसकी चमक इतनी तेज होती है कि नायक की आँखों में चकाचौंध छा जाती है। इसी से—'लख्यौ परत मुख नीठि।' एवं मुख-सौंदर्य-सुधा का इच्छुक नायक इसी कारण बड़े दैन्य भाव से नायिका से कहता है—"नेकु हँसौंहीं बानि तज।" इस दोहे में नायक के दैन्य भाव और सुंदरी नायिका की अप्रतिम दंत-द्युति का उत्कृष्ट वर्णन है। नायक के द्वारा नायिका की सुंदर दशनावली की प्रशंसा भी इस दोहे में निराले ढंग से व्यक्त की गई है।

केशव कहते हैं—'कोई सखी नायक पर अनुग्रह कर नायिका से कहती है कि हे सखी, सीस सीस-फूलन की जगत जोति, भाल को चिलकत तिलक, दमकत दसन-द्युति, कंठ लाल को कंठ-माल, चिबुक कपोलन की चारु चमक, नाक की चल चाल को मोती—ये सब बड़े चमकवाले हैं। इनकी चमक, चिलक और झलक में हे चतुर,

चपलनैनि ! तेरे जोर-ज़ोर से हँसने के कारण 'दमन-द्युति दमकति' है, जिससे मदनगोपाल का चित्त 'चकचौंधे' है। अतएव तू 'हरे-हरे हँस' धीरे-धीरे हँस।'

अब आइए, केशव के कवित्त को कसौटी पर कसें। देखें, खरा है, या खोटा। केशव लिखते हैं कि नायिका की 'सीस सीस-फूलन की जोति जगत।' इसमें सीसफूल एक वचन को 'सीसफूलन' बहुवचन लिखने से यह जान पड़ता है कि उस नायिका के सीस पर अनेक सीसफूल थे। कैसे वेढब दिखते होंगे, जरा सोचिए, नायिका भी कैसी नागरी होगी, इसका भी अनुमान कीजिए। खेद है, आचार्य केशवदास ने ऐसी भद्दी भूल की। 'नेकु हरे-हरे हँसि' पर ही मिश्रजी उछल पड़े हैं। लिखते हैं, शर्माजी ने इसका अर्थ ज़ोर-जोर से 'हँसना' किया है। पर मिश्रजी व्यर्थ ही बिगड़ गए। शर्माजी ने हरे-हरे हँसि का अर्थ जोर से हँसना नहीं किया है। मिश्रजी स्वय समझे नहीं, और दूसरों को समझाने का हास्यास्पद प्रयास करने बैठ गए। इतना भी तो न समझ पाए कि यदि नायिका जोर-जोर से न हँस रही होती, तो फिर उससे यह कहने की आवश्यकता ही न होती कि तू 'धीरे-धीरे (हरे-हरे) हँसि।' आपने इतना भी न समझा कि 'हरे-हरे हँसि' का प्रस्ताव ही उसके पहले उसका जोर से हँसना सूचित कर देता है। कदाचित् आप यह नहीं जानते कि काव्य में केवल वाच्यार्थ ही नहीं होता, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी होता है। तर्क से थोड़ा भी काम लेते, तो आपको केशव के कवित्त की नायिका के जोर से हँसने का पता लग जाता। पर वितंडावाद में यह सब सूझता ही कहाँ है। आपने अपनी इसी नासमझी पर सीना फुलाते हुए एक ही साँस में कह डाला है—'वलिहारी इस . . न करते।' आदि-आदि।

केशव के इस वर्णन में बिहारीलालजी के दोहे की-सी काव्य-

कुशलता का अभाव है। केशवदास अंत में बुरी तरह फिसल पड़े हैं, लिख मारा—'चित चकचौंधे मेरे मदन-गुपाल को।' कई स्थूल सौंदर्य-पूर्ण पदार्थों की दमक से नेत्रों का चकचौंधिया जाना तो बिलकुल ठीक और संगत बात है, पर चित्त का चकचौंधिया जाना किसी भी प्रकार ठीक नहीं माना जा सकता। चित्त का चंचल होना लिखते, तो ठीक था, चमत्कृत होना लिखना भी ठीक था, पर चक-चौंधियाना आँखों का धर्म है, चित्त का नहीं। इसमें अक्षम्य भूल की गई है। फिर यदि हम किसी प्रकार कष्ट-कल्पना की हद करके 'चकचौंधे' का अर्थ चंचल होना भी मान लें, तो ध्वनि यह निक-लती है कि ज्यों-ज्यों नायक नायिका की उपर्युक्त प्रभा-पूर्ण सुंदर वस्तुओं की ओर देखता था, त्यों-त्यों उसका चित्त अधिकाधिक चंचल होता जाता था। विशेषकर नायिका के जोर-जोर से हँसने में उसके दाँतों का चौका खुलने से उसकी दशन-प्रभा नायक के चित्त को और भी चंचल बनाती थी। इसी से कदाचित् नायक के कहने से सखी नायिका को आज्ञा देती है कि हे नायिका! तू जोर-जोर से हँसना बंद कर दे। धीरे-धीरे हँस, क्योंकि तेरे जोर-जोर से हँसने से 'चित चकचौंधे मेरे मदन-गुपाल को।'

केशव के इस वर्णन में नेत्रों के चकचौंधियाने का भाव निका-लना मानो रेत से तेल निकालना है। इतनी बहुत-सी प्रभा-पूर्ण वस्तुओं की दमक की सहायता लेकर भी नायिका की दशन-प्रभा नायक के नेत्रों को नहीं चकचौंधिया सकती, यह स्पष्ट है। बिहारी-लालजी के दोहे की नायिका की दशन-प्रभा के सम्मुख केशव के कवित्त की नायिका की इधर-उधर से जुटाई हुई अनेक प्रभा-पूर्ण वस्तुओं की प्रभा की सहायता पानेवाली दशन-द्युति कितनी प्रभा-हीन है, इसे साहित्यिक सज्जन अपनी कल्पना से स्वयं देखें। फिर केशव के कवित्त में बिहारीलालजी के दोहे के समान उक्ति-वैचित्र्य, नायक

की नायिका के मुख की सौंदर्य-सुधा-पान की उत्कट अभिलाषा एव उसका दैन्य प्रदर्शन, नायक द्वारा नायिका की सुदर दशनावली की प्रशसा आदि के समान अनोखा वर्णन स्वप्न में भी नहीं। इस वर्णन मे केशव बिहारीलालजी से बहुत पीछे रहे।

कदाचित् केशवदासजी के महाकवि और आचार्य होने के कारण आपने उन्हें बिहारीलालजी से श्रेष्ठ समझ लिया है। पर स्मरण रहे, भूल सबसे होती है। यदि केशवदास ने गलती की है, तो कोई अचरज की बात नहीं हुई। धाँधली मचाकर गलती को सही करना व्यर्थ है।

अब एक दूसरी तुलना की भी बानगी देखिए। शर्माजी ने केशव के केवल चार कवित्तो से बिहारीलालजी के चार दोहों की तुलना की है, और इस तुलना में बिहारीलालजी को केशवदास से श्रेष्ठ सिद्ध किया है। जिन पदों से तुलना की है, उन पर विचार करने से तो बिहारीलालजी ही श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं।

सुख दै, सखीन बीच पैकै, सौहैं खायकै,
खवाय कछू, स्वाय वस कीनी बरवसु है,
कोमल मृणालिका-सी मल्लिका की मालिका-सी
बालिका जु ढारी भीड़ मानस कै पसु है।
जाने न बिभात भयो, 'केसव' सुनैं को बात,
देखो आनि गात जात भयो कैधौं असु है,
चित्र-सी जु राखी वह चित्रनी बिचित्र गति,
देखौ धौं नए रसिक यामें कौन रसु है।

(केशव)

केशवदासजी के इस छद मे सखी नायक को उलहना देती है। प्रौढ नायक ने मुग्धा नायिका से सभोग किया है। मुग्धा नायिका को पहले उसने (रुपए-पैसे से सतुष्ट करके या अन्य ऐसे ही किसी

प्रकार से सन्तुष्ट करके) चुम्बन दिया, अर्थात् किसी भाँति लालच आदि से प्रसन्न किया। इस पर वह नायिका तरुणी तो, पर प्रौढ़ नायक से रति करने में कष्ट होगा यह सोचकर डर गई, तब नायक ने (सर्वांग बीच पैठ) नारि को नग्नरूप बनाकर शपथें कीं, जिससे उसकी दिल-जमई की। फिर उसे कुछ मादक द्रव्य (भंग आदि) खिलाकर उसे ज्ञान या विवेक से रहित कर दिया। नशे में चूर होकर जब वह आपा भूल गई, तब उसे (स्वाद) बुलाकर (बरबसु) बलात् वश में कर लिया। इस प्रकार नायक ने उस 'मृणालिका-सी' एवं 'मल्लिका की मालिका-सी' कोमल बालिका को मींड डारी। सम्भोग की समाप्ति पर जब नायिका की सखी ने उस बालिका नायिका की बुरी दशा देखी, तब वह क्रोधित होकर नायक के पास उपस्थित हुई और उससे बोली—'हे दुष्ट नायक! तूने उस (अज्ञातयौवना मुग्धा) बालिका को जो 'कोमल मृणालिका-सी मल्लिका की मालिका-सी' है मींड डाली। तू मनुष्य है या पशु?'

केशव के इस वर्णन में नायक और सखी दोनों उजड्ड, गँवार और निर्लज्ज हैं। सखी का गाली-गलौज करना उसका गँवारी होना सूचित करता है, एवं नायक की उपर्युक्त चेष्टाएँ और उसका सखी से इस प्रकार गाली खाना इस बात का प्रमाण है कि वह अत्यंत कामी, प्रेम-हीन, कपटी एवं असभ्य है। उसकी प्रकृति भी अति नीच है। केशव ने ठीक ही तो कहा है—'यामे कौन रस है।' सचमुच कुछ रस नहीं।

अब बिहारीलालजी का वह दोहा देखिए, जिसकी तुलना केशव के इस कवित्त से की गई है—

> यो दलमलियत निरदई, दई! कुसुम-से गात,
> कर धर देखो, धरधरा अजौं न उर को जात।
>
> (बिहारी-सतसई)

पहले तो बिहारीलालजी ने केशव के समान—'सुख दै अरु-वसु है' नहीं लिखा। इससे यह स्पष्ट है कि दोहे की नायिका ज्ञात-यौवना है, विश्रब्ध नवोढ़ा है। इसी से उसके साथ संभोग करने में नायक को केशव के कवित्त में वर्णित नायक के समान मनुष्यत्व-हीन एवं कुटिल और घृणित उपायों का आश्रय नहीं लेना पड़ा है। नायक भी श्रीमान् एवं गुणज्ञ है। सखी के उलहना देने के ढंग से यह स्पष्ट सूचित होता है कि वह सभ्रांत कुल का कोई प्रभावशाली व्यक्ति है। सखी भी चतुर है। उसकी व्यवहार-कुशलता और नागरिकता उसके कथन के ढंग से जान पड़ती है। दोहे में कितनी प्रेम-पूर्ण मधुर भर्त्सना है। 'कुसुम-से गात टलमलियत' में और 'मींड डारी'—मींडकर डाल देने में बहुत अंतर है। दूसरे में वह बात—वह बाँकपन—कहाँ है, जो पहले में है। 'दई'! अकेले में ही सखी की सहृदयता, नायिका से सहानुभूति, नायक के कृत्य पर क्षोभ एवं आश्चर्य आदि अनेक भावों का गुंफन है। इस एक ही शब्द में कवित्व का समुद्र भरा है। मर्मज्ञ ही ऐसे स्थलों को समझने में समर्थ होते हैं। फिर जो शब्द-समृद्धि, जो भाषा-माधुर्य, जो प्रयोग-साम्य और शब्दालंकारों की जो सुंदर सजावट दोहे में है, उसका शतांश भी तो कवित्त में नहीं है। इतना होते हुए भी बिहारीलालजी में एक बात अद्वितीय है। उनका वर्णन उद्वेग-जनक नहीं है। अग्नि-पुराण में भगवान् वेद-व्यासजी ने 'उद्वेग-जनक' होना काव्य का भारी दोष माना है। केशव का कवित्त उद्वेग-जनक होने से दूषित है, पर बिहारीलालजी का उद्वेग-जनक न होने से दूषित नहीं है।

फिर बिहारीलालजी के अक्षर तो कामधेनु ही ठहरे। कई लोग कह सकते हैं कि उपर्युक्त दोहा किसी एक स्त्री ने किसी दूसरी ऐसी स्त्री से कहा है, जिसने अपने उपद्रवी, कोमल बालक को उपद्रव

पन के कारण शोभावेश में भरभरा जाता है। बालक शोभावेग में भरभरा जाने से कांप उठा है, इसका दिल दहल जाता है, इसी से हृदय में धड़कन हो गयी है। वृद्ध माता में मातृत्व की रक्षा करनेवाली यह महात्मा नारी उलाहने के ढंग पर कहती है—

> यों दलमलियत निरदई, दई कुसुम-से गात,
> कर धर देखो, धरधरा अजौं न उर को जात।
>
> (बिहारी-सतसई)

कुछ भी हो, यह अपूर्व भर्त्सना। दोहा अत्यंत श्रेष्ठ है। अब यदि शर्माजी ने लिखा है कि बिहारीलालजी इस मैदान में केशवदास से बहुत आगे बढ़ गए हैं, तो क्या अनुचित किया है?

इसी भाव पर सैयद गुलामनबी 'रसलीन' ने भी एक दोहा रचा है, उसे भी देख लीजिए—

> यों मींजत कोऊ लला, अबलन अंग बनाय,
> मले पुहुप की बास-लौं साँस न जाती आय।
>
> ('रसलीन'—रसप्रबोध)

'रसलीन' ने बिहारीलालजी के चरण-चिह्नों पर चलने का प्रयत्न किया है, पर उन बूँदों में रस कहाँ? इनके लला ने मामला कुछ बिगाड़ दिया है। 'अबलन अंग' लिखकर इन्होंने भी बात बता दी। जिस बात को काव्य-जगत् के चतुर चितेरे बिहारीलालजी ने विदग्धता से ढककर रक्खा था, उसे इन्होंने प्रकट कर दिया। 'अबलन अंग' से यह भी सूचित होता है कि नायक ने ऐसी हरकतें एक बार नहीं, अनेक बार की हैं—अनेकों के साथ की हैं। खैर, इनके वर्णन में डर लगता है कि कहीं अनर्थ

न हो जाय, क्योंकि आप लिखते हैं—'साँस न जानी जाय' बड़ा अनर्थ हो गया। इसमें फिर रस कहाँ? यह तो केशव के—'ज्वत भयो कैधौं अंसु है' से भी बहुत बढ़ गया।

परिशिष्ट

महाकवि बिहारी और देव

स्वर्गीय पं० बालदत्तजी मिश्र ने 'सुखसागर-तरंग' की भूमिका में, उनके सुपुत्र प्रसिद्ध आलोचक श्रीयुत मिश्रबंधुओं (पं० गणेश-विहारी मिश्र, पं० श्यामविहारी मिश्र, पं० शुकदेवविहारी मिश्र) ने 'हिंदी-नवरत्न' और 'मिश्रबंधु-विनोद' में एवं पं० कृष्णविहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' में देव कवि पर अनुरक्त हो उन्हें महाकवि श्रीबिहारीलालजी से श्रेष्ठ ठहराने का हठ किया है। इनमें से पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने विशेष सतर्कता और रोचक लेखन-शैली का अवलंबन कर, पक्षपात-पूर्ण आलोचना द्वारा बिहारीलालजी के साथ घोर अन्याय कर उन्हें देव से बलात् हीन सिद्ध किया है। उस समय से कुछ लोगों का झुकाव इस ओर दिखाई देने लगा है। परंतु उनमें अधिक संख्या ऐसे सज्जनों की है, जो अध्ययनशीलता से विमुख रहकर, केवल एक-दो आलोचनाएँ पढ़कर, महाकवियों के विषय में निर्भ्रांत मत देने की अनधिकार चेष्टा में रत रहकर अपने ज्ञान का ढिंढोरा पीटते हुए देखे जाते हैं।

महाकवि बिहारीलालजी और देव, दोनो ही किसी परिपाटी-विशेष की निर्धारित शैली के अनुसार शृंगार-प्रधान काव्य निर्माण करनेवाले हैं। देव ने आजमशाह के यहाँ 'बिहारी-सतसई' का अध्ययन किया था, एवं उसके दोहों के भावों का अपहरण कर अपने अधिकांश छंद बनाए हैं। इसी कारण दोनो की रचनाओं में समान भावों तथा वर्णनोंवाली सूक्तियाँ मिलती हैं। दोनो ही मुक्तकों के रचयिता हैं। ध्यान रहे, मुक्तक की विशेषता थोड़े में एक सजीव भावात्मक

(२) महाकवि बिहारीलालजी ने एक-एक दोहा बड़े ही विचार-पूर्वक, स्वाभाविकता लिए हुए, देश, काल और पात्र आदि के अनुसार, भाव और भाषा का अद्भुत मेल मिलाकर लिखा है, जिससे उनके प्रत्येक दोहे मे अपूर्व चमत्कार आ गया है, और देव ने ढेर-की-ढेर रचना की है, जिसमें अधिकाश पद्य अत्यत साधारण हैं।

(३) बिहारीलालजी की भाषा शब्दालकारों से अलकृत होते हुए भी देश, काल और पात्र की परिस्थिति के अनुकूल और स्वाभाविक प्रवाह-युक्त समुचित नियत्रित है, और देव की भाषा अधिकाश मे देश, काल तथा पात्र की परिस्थिति के प्राय: प्रतिकूल केवल यमक और अनुप्रास-युक्त है। साथ ही तोड़ी-मरोड़ी हुई है, और उसमे भाषा के स्वाभाविक प्रवाह के दर्शन दुर्लभ हैं।

(४) बिहारीलालजी के दोहे प्रायः उद्वेग वर्धक नहीं हैं, पर देव के अधिकाश पद्य नग्न-काम-भोग-वर्णनमय, उद्वेग वर्धक हैं, जिन्हें सभ्य-समाज में सुरुचि-पूर्ण लोग सुनना या पढ़ना तक पसंद नहीं कर सकते।

(५) बिहारीलालजी का प्रत्येक दोहा साहित्य-ससार का समुज्ज्वल रत्न है, पर देव के कवित्तों के विषय मे यह बात क्वचित् ही है।

देव की तुलना पद्माकर और दास आदि से हो सकती है, क्योंकि ये कवि लोग देव के समान आचार्यत्व प्रकटित कर, लक्षण एव उदाहरण लिखकर रीति-ग्रथो के निर्माता हैं। इनसे देव की तुलना भली भाँति की जा सकती है, पर काव्य-कानन-केसरी बिहारीलालजी से देव की तुलना हो ही नहीं सकती। महाकवि बिहारीलालजी बहुत ही उच्च कोटि के कलाविद् कवि हैं, जिनकी रचना मे शृगारिक मुक्तक लिखने की कला का सर्वश्रेष्ठ विकसित निदर्शन है। देव उनके समक्ष जन-साधारण हैं। दोनो कवियो की उक्तियो के तुलनात्मक मिलान से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। यहाँ उदाहरण देखिए—

परकीयातर्गत कुलटा नायिका का वर्णन करते हुए दोनों लिखते हैं—

बिहारीलालजी लिखते हैं—

> खेलन सिखए अलि भलैं चतुर अहेरी मार :
> काननचारी नैन-मृग नागर नरन सिकार।
> (बिहारी सतसई),

देव लिखते हैं—

> छोरि दुकूल, सकोरि कै अंग, मरोरि कै वारन हारन छूटे :
> मीडि नितवहिं, पीड़ि पयोधर, दाव्रत दत रदच्छद फूटे।
> ज्यों करारी कर केलि करै, निकरै न कहूँ कुलसों किन टूटे ;
> मानहिं कौन सुखै जुवती जग, जो न जुवा दिन-जामिनि जूटे।
> (भावविलास पृष्ठ ८८, छ० सं० ६६)

साहित्य-शास्त्र में वह नायिका कुलटा मानी गई है, जो एक पुरुप की विवाहिता होती हुई भी अनेक पर-पुरुषों से रति करती है। इसमें काम की प्रबलता होती है। काम की उद्दाम वृत्ति रहने से यह पुश्चली होती है। पर ध्यान रहे, साहित्य-शास्त्र काम-शास्त्र नहीं है, एव शृंगार का स्थायी भाव रति है, काम नहीं। कवि को केवल रति-भाव का द्योतक शब्द-चित्र अंकित करना चाहिए। सभोग-काल का ग्राम्य शब्द-चित्र अंकित करना कवि का काम नहीं है। उपर्युक्त तुलना में यह स्पष्ट है कि शब्द-चित्रों द्वारा कुलटा नायिका का स्वरूप दर्शित करना ही दोनो कवियों का उद्देश्य है। अब देखना यह है कि दोनो कवियों में किसका वर्णन सभ्यजनोचित एव समुचित नियन्त्रित है, और किसका वर्णन ग्रामीणता (गँवारपन)-सूचक एव उद्वेगवर्धक तथा निर्लज्जता-पूर्ण है।

जो काव्य-मर्मज्ञ रसिक हैं, वे तो कवि के इस कल्पना-चित्र से ही कवि की परख कर लेते हैं। वे देखते हैं, किसका चित्र कैसा

है। महाकवि बिहारीलालजी और देव कवि के ये दोनो कुल-टाओं के चित्र यदि किसी चित्रकार से खिंचवाए जायँ, तब विदित होगा कि महाकवि बिहारीलालजी ने अपने दोहे मे जो शब्द-चित्र चित्रित किया है, उसे यदि घर मे रक्खें, तो वह गृह की शोभा बढावेगा, क्योकि वह चित्र सर्वथा विशुद्ध, परिमार्जित और सुरुचि-पूर्ण कला के प्राकृतिक ढग का बडा ही मनोरम चित्र होगा। देव कवि ने सवैया मे जो शब्द-चित्र चित्रित किया है, वह सर्वथा ग्रामीणता-सूचक, निर्लज्जतामय, पाशविक प्रवृत्तियो की ओर ले जानेवाला है। इस सवैया से बनाए गए भयकर निर्लज्जतामय चित्र को कौन सभ्य पुरुष अपने घर मे रखने का दुस्साहस करेगा? सुरुचि-सपन्न व्यक्ति उसे देखना भी पसद न करेगा। यदि देखेगा भी, तो घृणा से मुँह फेर लेगा। यदि यह कहो कि यह प्राकृतिक है, तो इसका उत्तर यह है कि अनेक प्राकृतिक बातें ऐसी हैं, जो कुत्सित हैं। उन्हें सौंदर्य-कल्पना मे तन्मय होकर सुंदर, भावमय चित्रों मे सुरुचि-सपन्न ढग से अकित कर जाने में ही कवित्व है। साहित्य-शास्त्र मे कोमल-से-कोमल भावो का चित्रण, बडे ही सुरुचि-पूर्ण ढग से, सुंदरता के आवरण मे सजाकर, करने की आज्ञा है। देव ने शृगार-रस के स्थायी भाव 'रति' का स्थान 'काम' को दे डाला है। तात्पर्य यह कि देव का वर्णन शृगार-रस की सीमा को उल्लघन कर गया, अतएव अनौचित्य-पूर्ण है। शृगार के विषय में तो भाषा-कवियों का यह कथन है—

> कवि-अच्छर अरु तिय-सुकुच, अध उघरे सुख देत,
> अधिक ढके हू सुखद नहिं, उघरे महा अहेत।

बिहारीलालजी के दोहे मे कोई कुलटा नायिका, जो नागरी है, नागर पुरुषों से आँखे लडाया करती है। उसे अनेकों से रति हो गई है। उस नायिका को कोई अतरगिणी सखी उसकी चेष्टा देखती

है। वह नायिका के मनोभावों को ध्यान से देखती है, एवं मनोभावों के वेग के उतार-चढ़ाव के कारण उसकी चेष्टाओं में जो अंतर पड़ता है उसे भी वह देखती है तब अनुकूल अवसर पाकर वह नायिका से उसके मनोभावों को ताड़ लेने की बात कितने अनूठे ढंग से कहती है। वह कहती है—"हे सखी! देख तो, कामदेव-रूपी चतुर अहेरी (प्रवीण शिकारी) ने काननचारी (कानों तक विस्तीर्ण वन-चारी) नेत्र-रूपी मृगों को नगर-निवासी (चतुर) पुरुषों का शिकार खेलना भली भाँति सिखलाया है।"

नागरिक लोगों से मृगों का शिकार करना तो चतुर अहेरी सामान्यतः सिखलाते ही हैं पर काम-अहेरी ने किस अद्भुत रीति से काननचारी नयन-मृगों को नगर-निवासी चतुर जनों का शिकार खेलना सिखलाया है। सिखलावेगा क्यों नहीं? जब काम ही स्वयं शिक्षक बना है तब सब ठीक ही है। काम कैसा प्रवीण शिकारी है यह विचारशील जानते ही हैं। इसने बड़े-बड़े व्रतधारियों, बड़े-बड़े तपस्वियों, बड़े-बड़े नीतिज्ञों एवं बड़े-बड़े मुनियों तक का शिकार किया है। इसमें साहित्य-संसार के प्रवीण पर्यवेक्षक शब्द-चित्रकार महाकवि बिहारीलालजी ने काम को किस प्रकार प्रधानता देकर उसे अपनी अपूर्व प्रतिभा के बल से शृंगार के स्थायी भाव रति के अंतर्गत ला दिया है, वह दर्शनीय है। बात सही है, पर ढंग महाकवियों-जैसा है। दोहे में महाकवि बिहारीलालजी ने चमत्कार-पूर्ण विस्मय स्थायी भाववाले अद्भुत रस को शृंगार का सहायक किस विदग्धता से बनाया है, यह देखिए। फिर यह आश्चर्य दोहे में ध्वनि से झलकाया गया है। संचारी भावों विभावों एवं अनुभावों से परिपुष्ट स्थायी भाववाले किसी स्वतंत्र रस को और फिर प्रधान अद्भुत रस को इस प्रकार अन्यान्य संचारी भावों विभावों एवं अनुभावों से परिपुष्ट अन्य रस शृंगार का सहचारी बनाने और

उसे भी ध्वनि से झलकाने में महाकवि बिहारीलालजी ने अपूर्व प्रतिभा दर्शित की है।

काननचारी नयन-मृगों का नागर नरों का शिकार खेलना अद्भुत रस का संस्थापक है, पर दोहे में प्रधानता शृंगार-रस की है, अतएव उस अंगी शृंगार-रस का अद्भुत रस अंग है। भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से भी दोहा सवैया से बहुत उत्कृष्ट है। दोहे की भाषा काननचारी के श्लेष व 'नागर नरन' के अनुप्रास से युक्त, प्रसाद-गुण-युक्त, व्याकरण-विशुद्ध, स्वाभाविक प्रवाहमय है। श्लेषादि या छंद के कारण भाषा अनियन्त्रित व व्याकरण-विरुद्ध न होते हुए देश, काल एवं पात्र के सर्वथा अनुकूल, परम परिमार्जित एवं नागरत्व-सूचक है।

कहने का तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी की अपेक्षा देव बहुत ही नीची श्रेणी के शब्द-चित्रकार हैं। बिहारीलालजी के समान भावमय शब्द-चित्र खींचना महाकवियों का काम है, पर देव-सरीखे स्थूल शब्द-चित्र को कोई जन-साधारण भी अंकित कर सकेगा, जिसे तुक जोड़ने का विचार-मात्र होगा।

ऐसे ही अनेक शब्द-चित्रों की तुलना करने से यह मत अधिक स्पष्ट हो जाता है कि देव कवि बहुत ही नीची श्रेणी के शब्द-चित्रकार हैं, और उनकी तुलना कविता-कामिनी-कांत बिहारीलालजी से हो ही नहीं सकती। अपने कथन के प्रमाण-स्वरूप मैं यहाँ कुछ और ऐसे ही उदाहरण देता हूँ। देखिए—

फाग-वर्णन

रस भिजए दोऊ दुहुँन, तउ टिक रहे, टरैं न;
छबि सों छिरकत प्रेम-रँग भर पिचकारी-नैन।

(बिहारी)

यह रति-भाव का कैसा सुंदर चित्र है, जिसमें अनुराग के फाग का सुंदर वर्णन है।

चोलि चोलि भीतर तें खोलि-खोलि घूँघटनि,
मन के मलोले लाल मेटत फिरत हैं;
केसर, गुलाल मुख मोडें बिनु छोडें नहीं,
आडि उर आनँद समेटत फिरत हैं।
नीवी गुन तोरत हैं, कंचुकी विछोरत हैं,
चंदन लै कुचन लपेटत फिरत हैं,
फाग मिस 'देव' अनुराग भरि, राग भरि,
भौन - भौन भामिनीन भेंटत फिरत हैं।
(देव)

कितना गंदा, अपवित्र, कुरुचि-उत्पादक और भ्रष्ट भावों से भरा वर्णन है। ग्राम की नारियों एवं होली के खिलाड़ी का अत्यंत घृणित चरित्र इस कवित्त में अंकित हुआ है।

किलकिंचित हाव

सुनि पग-धुनि चितई इतै, न्हाति दिए ही पीठि;
चकी, झुकी, सकुची, डरी, हँसी लजीली डीठि।
(बिहारी)

लट गहि लीन्हीं परयंक मे मयंक-मुखी,
सुंदरि सुगंध अंग अंकन धसनि-सी।
ओठन अमेठति कटीली भौंहैं ऐंठति,
सरांति सुनाय नन तोरनि त्रसति-सी।
मोहै मनराति इतराति अनखाति औ'
मुसकाति अकुलाति उर अंतर असति-सी;

आँसू दृग दोलति उसासे हिय खोलति-सी,
बोलन रिसाति-सी कपोलन हँसति-सी।
(देव)

कहना न होगा कि जहाँ बिहारीलालजी का दोहा सपूर्णतया रति स्थायी भाव का एव सयोग-काल के परम चित्ताकर्षक किलकिंचित् हाव का भावनामय काव्य-पूर्ण चित्र है, वहाँ देव का कवित्त निर्लज्जतामय उद्वेग-जनक दोष से दूषित अत्यत स्थूल संभोग का ग्राम्य चित्र है, जो पाशविक प्रवृत्तियों का लज्जाजनक नगा स्वरूप बतलाकर रुचि मे विपर्यय उत्पन्न करता है। अत्यंत स्थूल शरीर-समोग में किलकिंचित् हाव का जो शृंगारिक वर्णन देव ने किया है, वह स्थूल काम-भोग की लज्जा-जनक लीला में डूब-सा गया है।

देव ने किलकिंचित् हाव के और भी शब्द-चित्र गढ़े हैं, जिनमे इससे भी अधिक निर्लज्जता है। जैसे—

पीछे ते छैल छुई छतियाँ
इक बार तिया रिस ह्वै ररकौं हैं,
अंगन रोम तरग उठी,
उमगे कुच ऊँचे उतै फरकौ हैं।

* * *

इसी प्रकार 'सुख-सागर-तरग' के छद ७४० और 'भावविलास' के छद ३० पृष्ठ ४६ में अत्यत घृणित उदाहरण है।

कुट्टमित हाव

नाहिं-नाहिं नाहीं करै, नारि निहोरे लेय;
छुवत ओंठ बिच आँगुरिन बिरी बदन पिय देय।
(बिहारी)

नाह सों नाहीं करै सुख सों
सुख सों रति-केलि करै रतियाँ में,

देत रदच्छद सी-सी करै,
कर ना पकरै पै वकै बतियाँ में।
'देव' किते रति कूजत के तन
कंप सजे न भजे घतियाँ में,
जानु भुजानहु को महरावत
आवति छैल लगी छतियाँ में।
(देव)

देव ने इससे भी अधिक निर्लज्जता कुट्टमिमत के अन्य दो उदाहरणों में रक्खी है। देखिए—

दाई भए जिन ही सुखदाई
सु आँख मिहीँचनी खेल समाखे,
चोरिकैं जोर कै वैठी बधू गए
ओट ह्वै जोट बजावत काँखे।
मोचत नाहिं सकोचत अंग त्यों
सोक सकोच सबै निज ताखे,
जानु भुजान में जानु भुजा दिए
खींचत, चींचत, मींचत आँखे।

एवं—

लै भुजवल्लरी पल्लव हाथन
वल्लव मल्लव मोद विहारै,
प्यारी के अंग न रंग चढ़ै
त्यों अनंग कला करै री नहिं हारै।
ओठन दंत, उरोज नखच्छत हू
सहि, जीतें तिया पति हारै,
ऊरु मरोरनि ज्यों मरुरै
चर ही अरुरै अरु रैनि निहारै।

देव ने इस हाव के और भी, इससे भी घृणित, उदाहरण लिखे हैं।

कुट्टमित हाव के वर्णन में भी इतनी शुद्धता और पवित्रता रखना शृंगारी कवियों के मुकुटमणि बिहारीलाल जी का ही काम है। देव ने कामुक, निर्लज्जतामय, घृणित वर्णनों के सिवा और रक्खा ही क्या है? इस देव कवि की यही बान सर्वत्र है।

बस, अब इतना ही बहुत है। इस अप्रिय, गंदी बात को अधिक लिखना अनुचित समझकर मैं इसे और नहीं बढ़ाता। पर ऐसे सैकड़ों छंदों की तुलना करने से जान पड़ता है कि देव निम्न श्रेणी के कवि हैं, और कलाविद् बिहारीलालजी से तो उनकी समता स्वप्न में भी नहीं की जा सकती।

श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने बिहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहे को लिखते हुए कटाक्ष किया है—

लरिका लैबे के मिसै लंगर मो ढिग आय
गयो अचानक आँगुरी छाती छैल छुवाय।

(बिहारी)

इस पर आप लोगों ने अपनी सुजनता से विवश होकर बिहारीलालजी को 'गुंडा' की उपाधि दी है। इसमें बिहारीलालजी ने यह दिखलाया है कि मनुष्य के हृदय में वात्सल्य के भीतर भी काम-भाव किस प्रकार छिपा रहता है। यह लोक में होता है, और इसमें अधिक निर्लज्जता नहीं है। पर इन 'आम को आम और इमली को इमली' कहनेवालों की समझ में देव के इसकी अपेक्षा शतगुणित निर्लज्जता-मय, उद्वेग-जनक, घृणित वर्णनों में कोई दोष नहीं दिखलाई पड़ा। इसी को पक्षपात में अंधा होना कहते हैं। यहाँ विवश होकर मैं देव की 'प्रेमचंद्रिका' के एक छंद को देता हूँ। देखिए—

गोहरे, माँझ गई मिलि साँझ
कछु छिति में कछु छैल के कौंछे ;
पौढ़ि गई कसि अंग में अंग
उकासि कें कंचुकि तें कुच ओछे।
'देव' दोऊ करिके सुख-संग
उलाहित ही उठि अंग अँगोछे,
साँस लई, मुख चूमि बिदा भई,
त्यों तिय के अँसुआ पिय पोंछे।

देव ने यह छंद परकीया के उदाहरण में स्वयं ही रक्खा है, इसमें पिय से 'पति' का अर्थ न लेकर 'प्यारा' अर्थ लेना चाहिए।

हुआ यह कि 'माँझ' ठीक सायंकाल में—जब लोग ईश्वर का स्मरण करते हैं, प्रत्येक कार्य बंद करके इष्टदेव का ध्यान धरना कर्तव्य समझते हैं—किसी मनचले नायक को, यहाँ-वहाँ नहीं, 'गोहरे माँझ' गोशाले में जहाँ गोमूत्र और गोबर रहने से आर्द्रता होना ध्रुव है, एक 'तिय' मिल गई। फिर क्या था। वह 'तिय' संभोग कराने के लिये गोशाला में लेट गई। उसका कुछ शरीर 'छिति में' और कुछ (कमर से नीचे का भाग) छैले (गुंडे) की गोद में था। वह 'तिय' लेटी भी, तो 'कसि अंग में अंग' और उसने स्वयं ही फाड़कर कंचुकी (चोली) से 'ओछे' कुच मर्दन कराने के लिये निकाल लिए। देव फ़र्माते हैं कि उन दोनों ने सुख-पूर्वक बड़े आनंद से (भग) संभोग करके (उलाहित ही) शीघ्र ही उठकर (गोमूत्र और गोबर लगे हुए) 'अंग अँगोछे'। तब कहीं उन दोनों ने साँस ली। उस स्त्री ने (छैल का) मुख चूमा, और 'बिदा भई'। उस गुंडे ने भी संभोग के समय आए हुए उस स्त्री के आँसू पोंछे।

यह 'प्रेमचंद्रिका' का छंद है जिसके विषय में श्रीयुत मिश्रबंधु

कहते हैं कि 'देव के प्रेम-सबंधी अपूर्व अनुभवो का निचोड' इस ग्रंथ मे है।

प० कृष्णविहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' में जो समतामयी तुलना लिखी है, वह पक्षपात-पूर्ण है। देव के उत्कृष्टाति उत्कृष्टतम चार-छ चोटी के छदो से बिहारीलालजी की सतसई के अन्य दोहों की अपेक्षा घटिया चार दोहों की तुलना आपने की है, जिसमें पक्ष-पात-पूर्ण आलोचना करके श्रीयुत मिश्रबधुओ के मत को सिद्ध करने के हेतु बिहारीलालजी के दोहो को देव के पद्यो से बलात् हीन ठहराने का प्रयास किया है। इसमें लेखक ने अपनी नासमझी को बिहारी-लालजी के सिर मढने का उपहासास्पद प्रयास किया है। प० कृष्णविहारी मिश्र की समालोचना यह दिखलाती है कि समझदार समालोचक अंध-भक्ति व दल-विशेष की ओर झुकाव के कारण पक्षपाती बनकर किस प्रकार भ्रांत मत फैलाता है। इस समा-लोचना मे लेखक ने ऐसी-ऐसी भद्दी भूलें की हैं, जिनसे यह जान पडता है कि लेखक महाशय बिहारीलालजी के दोहो को पूर्णतया समझने में सर्वथा असमर्थ रहे।

इस पर अधिक न लिखकर मै यहाँ प० कृष्णविहारी मिश्र की आलोचना अपनी लिखी प्रत्यालोचना-सहित दिखलाना ही अलम् समझता हूँ। मर्मज्ञ पाठक देखें कि मिश्रजी ने कैसी आलोचना की है, एव जब देव के उन पाँच-छ चोटी के छंदों की भी बिहारी-लालजी के उन सबसे घटिया दोहों के समक्ष कुछ गणना न हो सके, तो यह मानना पडेगा कि देव कवि बिहारीलालजी की श्रेणी के कवियों मे नहीं रक्खे जा सकते।

पूर्वानुराग

निम्न-लिखित समता-मूलक प्रबंधों मे पूर्वानुरागिणी नायिका की अवस्था का वर्णन है—

नई लगन, कुल की सकुच, विकल भई अकुलाइ ;
दुहूँ ओर ऐंची फिरै, फिरकी-लौं दिन जाइ।
(बिहारी)

मूरति जो मनमोहन की
मनमोहिनी के थिर ह्वै थिरकी-सी ;
'देव' गुपाल को नाम सुनें
सियराति सुधा छतियाँ छिरकी-सी।
नीके झरोखा ह्वै झाँकि सकै नहिं
नैनन लाज घटा घिरकी-सी ;
पूरन प्रीति हिए हिरकी
खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी।
(देव)

"नायिका की दशा फिरकी के समान हो रही है। जिस प्रकार फिरकी निरंतर घूमती है, ठीक उसी प्रकार नायिका भी अस्थिर है। बिहारीलाल की नायिका को एक ओर 'नई लगन' घसीटती है, तो दूसरी ओर 'कुल की सकुच'। फिरकी के समान उसके दिन बीत रहे हैं। देवजी की नायिका के हिए में भी 'पूरन प्रीति' 'हिरकी' है, और नेत्रों में 'लाज-घटा' 'घिरकी' है। इसीलिये वह भी 'खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी'। देवजी ने 'लगन' के स्थान पर 'प्रीति' और 'सकुच' के स्थान पर 'लज्जा' रक्खी है। हमारी राय में बिहारीलाल की 'नई लगन' देवजी की 'पूरन प्रीति' से प्रकृष्ट है। 'नई लगन' में स्वभावतः जो अपनी ओर खींचने के भाव का स्पष्टीकरण है, वह 'पूरन प्रीति' में वैसा स्पष्ट नहीं है। पर देवजी की 'लाज-घटा' 'कुल की सकुच' से कहीं समीचीन है। इस लाज-घटा में कुल-संकोच, गुरुजन-संकोच आदि सभी घिरे हुए हैं। यह बड़ा ही व्यापक शब्द है। फिर लाज में प्रियतम-प्रति प्रेम-पूर्ण, स्वभावतः

उत्पन्न अनिर्वचनीय सकोच (झिझक) का जो भाव है, वह बाहरी दबाव के कारण अतः कुल की सकुच मे नहीं है। वातायन-द्वार पर विशेष वायु-सचार की संभावना से फिरकी की स्थिति जैसी स्वाभाविक है, उसे पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं। अनुप्रास, चमत्कार एवं अन्यान्य काव्य-गुणों मे सवैया दोहे से उत्कृष्ट है। मनमोहन की मूर्ति मनमोहिनी की गई है, यह परिकराकुर का रूप है। 'थिर ह्वै थिरकी-सी' में असगति अलकार है। नाम-मात्र सुनने से उरोजों का ठडा हो जाना चंचलातिशयोक्ति अलकार का रूप है। उपमा की बहार तो दोनो छदों मे समान ही है। 'नई लगन' के वश बिहारीलाल की नायिका इँच जाती है, और उसमें कुल-सकोच-मात्र की लज्जा है। पर देवजी की नायिका में स्वाभाविक लज्जा है। इसी लजा-वश वह झरोखे से ही झाँककर अपना मनोरथ सिद्ध नहीं कर पाती। देवजी की नायिका विशेष लज्जावती है। उसमें मुग्धत्व भी विशेष है।"

(पं० कृष्णविहारी मिश्र—'देव और विहारी', पृष्ठ २५६-२६१)

उपर्युक्त आलोचना मे मिश्रजी इतना तो मान गए कि 'नई लगन' 'पूरन प्रीति' से प्रकृष्ट है। 'नई लगन' मे जो स्वभावतः अपनी ओर खिंचने के भाव का स्पष्टीकरण है, वह 'पूरन प्रीति' में वैसा स्पष्ट नहीं है *। पर यह विचार न किया कि क्या 'पूरन प्रीति' 'हिए' में रखनेवाली नायिका के विषय में हम 'खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी' कह सकते हैं ! इतना तो सभी जानते हैं कि चचलता और विकलता 'नई लगन' में होती है, क्योंकि उस समय प्रेम-मात्र की

---

* मिश्रजी का यह वाक्य लचर है। इसकी भाषा अनियन्त्रित है। इसका निम्न लिखित रूप होता, तो अच्छा था—'नई लगन में स्वभावत अपनी ओर खींचने के भाव का जैसा स्पष्टीकरण है, वैसा 'पूरन प्रीति' में नहीं है।'—लेखक

सुंदरता प्रेमी-हृदय में मोहमय प्रेम की उत्पत्ति करती है। 'नई लगन' में बड़ा ही उत्तेजित, मोहमय प्रेम होता है, एवं उसमें चंचलता और विकलता का अपूर्व संघटन होता है। उस समय प्रेमी-हृदय संकल्प-विकल्प के हिंडोले में किस प्रकार झूलता है। 'नई लगन' में बिहारीलालजी ने अनिर्वचनीय सुंदर भाव भरा है। अब दूसरी ओर 'पूरन प्रीति' में देखिए। मर्मज्ञ जानते हैं कि प्रेम की पूर्णता और प्रेमी प्रियतम के एकीकरण में अंतर नहीं होता। वहाँ प्रेयसी प्रियतम और प्रियतम प्रेयसी का रूप हो जाता है। दो हृदयों का एकीकरण होकर द्विधा भाव मिट जाता है। क्योंकि—

प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समायँ।

(महात्मा कबीर)

जहाँ ऐसी स्थिति हो जाती है, वहाँ नायिका 'खिरकी-खिरकीन' फिरकी-सी नहीं फिर सकती। क्योंकि पूर्ण प्रेम की प्रवाहिनी में प्रवाह है, पर उच्छृंखलता नहीं, बहाव है, पर टूटता नहीं। वह सदैव शांत, एकरस, आनन्दमय और सुखद है। यही विचारकर तत्त्वज्ञानी कबीर कहते हैं—

छिनहिं चढ़ै, छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय ;
अघट प्रेम-पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय।

तात्पर्य यह कि पूर्ण प्रेम में संयोग और वियोग का भान नहीं होता। उसमें तो—'राधा हरि, हरि राधिका' की-सी स्थिति हो जाती है। पूर्ण प्रेम के विषय में किसी उर्दू-कवि ने लिखा है—

दिल के आईने में है तसवीरे-यार ;
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।

जहाँ यह हाल है वहाँ 'खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी' लिखना कितना हास्योत्पादक कार्य है, इसे सहृदय मर्मज्ञ देखें। सच पूछो, तो

देव के उपर्युक्त शब्द बिहारीलालजी के शब्दों के सम्मुख किसी बालक की रचना के समान जान पडते हैं।

मिश्रजी लिखते हैं—"लाज-घटा कुल की सकुच से कहीं समीचीन है। इस लाज-घटा मे कुल-सकोच, गुरुजन-सकोच आदि सभी घिरे हुए हैं।" भला, क्या जिस व्यक्ति को अपने कुल का सकोच है, उसे गुरुजन-सकोच न होगा। 'कुल की सकुच' का अर्थ "कुल का सकोच' करके टीका में मिश्रजी उसका अर्थ कुलवालों का संकोच करते हैं, यह कैसे? किस कोष मे 'कुल की' का अर्थ 'कुलवालों की' होता है? संकोच का अर्थ लाज भी होता है। 'कुल की सकुच' का अर्थ कुलवालों का सकोच न होकर 'कुल की लाज' है। फिर जो कुलीन है—जिसे अपने कुल की लाज का ध्यान है—जिसे अपने कुल के गौरव का स्मरण है—वह क्या गुरुजन-सकोच न करेगी? देव की नायिका को विशेष लज्जावती लिखना मिश्रजी की भयकर भूल है। देव की नायिका को कुल की मान-मर्यादा का विचार नहीं है। उसमे विवेक-बुद्धि का प्राय: अभाव है। 'नैनन लाज-घटा घिरकी-सी' से हमे केवल यह विदित होता है कि वह बिलकुल निर्लज्जा नहीं है। उसकी आँखों मे थोडी लाज अवशिष्ट है, जो कभी-कभी घटा के समान उसकी आँखों मे घिर-सी जाती है। वह भी अवश्य घिर जाती है, यह निश्चित नहीं है। यही दिखलाने के लिये देव ने 'सी' का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह कि मिश्रजी ने देव की नायिका को बलात् लज्जावती ठहराने का विफल प्रयास किया है। यथार्थ में देव की नायिका घोर निर्लज्जा है। उसे यदा-कदा किसी अवसर-विशेष पर, किसी भारी कारण के उपस्थित होने पर भी लज्जा होती है, यह भी निश्चित नहीं है। बिहारीलालजी की नायिका कुलवती है, अतएव विचारशीला और स्वाभाविक लज्जाशीला है।

नायिका के फिरकी-सी फिरने का कारण देव 'नैनन लाज-घटा फिरकी-सी' और 'पूरन प्रीति दिए हिरकी' बतलाते हैं। और, बिहारी-लालजी 'नई लगन' एवं 'कुल की सकुच' में पड़कर 'विकल भई अकुलाय' वर्णन करते हैं। इस 'नई लगन' में पड़ी हुई 'कुल की सकुच' से 'बिकल भई अकुलाय' की परिस्थितिवाली नायिका का दर्शन हम कैसे स्पष्ट रूप से करते हैं। 'नई लगन' में पड़ी हुई 'कुल की सकुच' से विकल होनेवाली नायिका का फिरकी-सा घूमना किस सहृदय के हृदय पर करुणा का भाव अंकित न कर देगा? किस सहृदय, साहित्य-प्रेमी और काव्य-मर्मज्ञ के हृदय में एक बार करुण-रस न उमड़ उठेगा? क्या देव की नायिका के विषय में, जो छलावा के समान 'खिरकी-खिरकीन फिरकी-सी' फिरती है, पाठक की वैसी वृत्ति होना कभी सम्भव है। इतने बड़े चार लकीरों के सवैया-छंद में लाज और प्रेम में पड़कर व्यथित होनेवाली नायिका को देव 'बिकल' विशेषण तक न दे सके। इससे वर्णन में हीनता आ गई, और यह विदित हो गया कि देव के हृदय में कविजन-सुलभ सहृदयता का अभाव था। सहृदय महाकवि बिहारीलालजी ने केवल चौबीस मात्राओं के छोटे-से दोहा-छंद में नायिका की 'बिकल भई अकुलाय' अवस्था का स्पष्ट वर्णन किया है। दोहे के 'दुहूँ ओर ऐंची फिरै' चरण में जैसा स्वाभाविक वर्णन है, इसे मर्मज्ञ परखें। बिना दोनो ओर के खिंचाव के फिरकी का घूमना नहीं हो सकता। इस बात का बिहारीलालजी ने विदग्धता से वर्णन किया है। प्रकृति का इसमें सूक्ष्म अवलोकन है। अपने भावों को भाषा में स्पष्ट रीति से व्यक्त करने की इतनी सामर्थ्य बिहारीलालजी-जैसे महाकवियों में होती है। फिरकी के घूमने का वर्णन देव भाषा में स्पष्ट रीति से व्यक्त न कर सके, यह उनकी भारी हीनता है।

अंत में मिश्रजी दुहराते हैं कि देव की नायिका विशेष लज्जावती

है। "इसी लज्जा-वश वह झरोखे से ही झाँककर अपना मनोरथ सिद्ध नहीं कर पाती।" देव की नायिका कैसी लज्जावती है, यह मैं दिखला चुका हूँ। यहाँ मिश्रजी की वाक्य-रचना का कौशल देखिए। जब नायिका 'झरोखे से ही झाँककर अपना मनोरथ सिद्ध नहीं कर पाती'—तब वह दरवाज़े से झाँककर अपना मनोरथ सिद्ध क्यों नहीं कर लेती? उसे झरोखे से ही झाँकना चाहिए, ऐसी कोई आज्ञा (Ordinance) तो है ही नहीं। वह झरोखे से न झाँककर मकान के बाहर आकर अपना मनोरथ सिद्ध कर सकती है।

देव के सवैया से अधिक अलंकार बिहारीलालजी के दोहे में दिखलाए जा सकते हैं, परंतु विस्तार-भय से दो-एक प्रधान अलंकारों का दिखलाना ही ठीक जान पड़ता है। दोहे मे 'नई लगन' और 'कुल की सकुच' दोनो मे नायिका के हृदय में विकलता की उत्पत्ति करनेवाला एक ही गुण कथन किया गया है, अतएव तुल्ययोगिता अलंकार है। पूर्णोपमा अलंकार की छटा देव की अपेक्षा बिहारीलालजी के छंद मे अधिक मनोहर है। भाषा-माधुर्य की दृष्टि से भी मिश्रजी ने सवैया को दोहे से श्रेष्ठ कह डाला है। परंतु 'घिरकी-सी' और 'हिरकी-सी'-सदृश पदों का प्रयोग करनेवाले, भाषा को तुकबंदी या अनुप्रास के लिये तोड़-मरोड़कर दुरूह बनानेवाले एवं भाषा की स्वाभाविकता को नष्ट कर अविन्यस्त कर डालनेवाले देव कवि की भाषा की समता महाकवि बिहारीलालजी की प्रसाद-गुण-युक्त, समुचित नियन्त्रित भाषा से करना एक हँसी की बात है। देव के छंद की भाषा व्याकरण से भी शुद्ध नहीं है। 'खिरकी-खिरकी' लिखने से ही खिरकी शब्द का बहुवचन बन जाता है। जैसे—'सर-सर हंस न होत, नारि पतिव्रता न घर-घर।' 'खिरकी-खिरकीन' लिखने से भाषा व्याकरण-विरुद्ध हो गई। नकार जोड़ने से संज्ञा शब्दों का बहुवचन बन जाता है। जैसे—नर से नरन,

लोग से लोगन, हाथी से हाथीन आदि। एक साहित्य-सेवी ने मुझसे कहा था कि 'खिरकीन' बहुवचनात अवश्य है, पर 'खिरकी-खिरकीन' से 'खिरकी-खिरकी में' अर्थ निकलता है। देव ने नकार का प्रयोग यहाँ 'मे' के अर्थ में किया है। पर यह उनका भ्रम था, जिसे उन्होंने स्वय स्वीकार कर लिया। उदाहरण देखिए—
'कानन में बसी बाँसुरी की धुनि, प्रानन मे बस्यो बाँसुरीवारो।'
इस उदाहरण में नकार केवल बहुवचन बनाने के लिये व्यवहृत हुआ है। 'में' के अर्थ मे 'न' का प्रयोग नही होता। इसी से उपर्युक्त उदाहरण में 'कान'-शब्द का बहुवचन बनाने के लिये नकार जोडकर 'कानन' बनाया गया, परतु उसमे 'में' विभक्ति का प्रयोग अधिकरण के लिये करना पडा।

यह सवैया पिंगल-शास्त्र की दृष्टि से भी दूषित है। देव सात भगण और दो गुरु से बननेवाले इस सवैया छंद की तृतीय पंक्ति में लिखते हैं—'नीके झरोखा है झाँकि सकै नहिं।' इसमें चार

SS। SSS S।। S।।

भगण चाहिए थे, पर इसमे 'नीके झरोखा है झाँकि सकै नहिं।' इन चारो 'गणों' मे भगण न रह सका। देव लिखने तो बैठे थे

SS। SSS

भगण, पर लिख गए तगण और मगण। यह ठीक है कि पिंगल-शास्त्र मे लघु को गुरु एवं गुरु को लघु पढने की व्यवस्था दी है, पर ऐसी व्यवस्था कहीं भी नहीं दी गई कि 'भगण' के स्थान मे 'मगण' लिखो। एक गुरु और दो लघुओं के स्थान में तीनो गुरुओं को रखना अत्यत अनौचित्य-पूर्ण है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पं० कृष्णविहारी मिश्र ने दोहे को बलात् हीन ठहराने का विफल प्रयास करने मे व्यर्थ समय नष्ट किया है, एव वितडावाद से देव को बलात् श्रेष्ठ ठहराने की चेष्टा की है।

सच तो यह है कि दोहे के सम्मुख सवैया अत्यंत हीन कोटि का है, एवं प्रत्येक दृष्टि से दोहा अत्यंत श्रेष्ठ है, पर मिश्रजी समझे नहीं। इसी प्रकार की तुलना 'देव और बिहारी'-पुस्तक में है।

इस प्रकार यह निर्विवाद है कि बिहारीलालजी केशवदास तथा देवदत्त (देव) से बहुत ऊँची श्रेणी के माननीय कलाकार हैं। इस ग्रंथ में प्रसंग-वश श्रीसूरदासजी की तीन भक्ति-प्रधान सूक्तियों से बिहारीलालजी की तादृशी तीन सूक्तियों की तुलना बहुदर्शिता-नामक अध्याय में हो चुकी है। वहाँ भी जान पड़ेगा कि काव्य-कला-कुशलता में कौन किससे कैसा कुछ है? हिंदी-कवि-कुल-कलाधर गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी हिंदी-भाषा के सर्व-श्रेष्ठ कवि के नाते विश्व में प्रसिद्ध हैं। पर सच तो यही है कि गोस्वामीजी का काव्य ज्ञान-धारा-प्रधान है, और उससे काव्यानंद के साथ-साथ ज्ञान-प्राप्ति का लाभ होने से वह विशेष रोचक, माननीय एवं वाञ्छनीय है। हाँ, साहित्य की भाव-धारा और ज्ञान-धारा दोनो का जो पार्थक्य करके देखना चाहेंगे एवं काव्य-धारा में जो भाव-धारा का ही प्राधान्य देखना चाहेंगे तथा ज्ञानोपदेशादि के संदेश को भुलाकर जो काव्य को केवल काव्योत्कर्ष की दृष्टि से परखेंगे, उन्हें तो श्रीसूरदासजी और श्रीतुलसीदासजी से भी बिहारीलालजी काव्य-मार्ग में – काव्य-कला-कुशलता में—आगे बढ़े हुए दिखाई देंगे। जब हम गोस्वामी तुलसीदास और बिहारीलालजी की समान भाववाली उत्कृष्ट सूक्तियों की तुलना करके काव्य-कला-कौशल की दृष्टि से दोनो को परखते हैं, तब हमें बिहारीलालजी ही श्रेष्ठ जान पड़ते हैं, जैसे—

बारि मथे बरु होय घृत, सिकता तें बरु तेल;
बिनु हरि-भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल।
(तुलसी)

पतवारी माला पकरु और न कछू उपाव,
तरि संसार-पयोधि को हरि-नामै करि नाव।
(बिहारी-सतसई)

इनमें देखिए कि कवि-जनोचित, भावमय वर्णन किसका है? जहाँ गोस्वामीजी एक वैज्ञानिक के समान सामान्य सिद्धांत को कहते हैं, वहाँ बिहारीलालजी उसी बात के वर्णन में भाव-मूर्ति खड़ी कर उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। कल्पना का प्राबल्य, भावावेश एवं आलंकारिक छटा के साथ वर्ण्य विषय का अनूठा वर्णन बिहारीलालजी के दोहे में श्रेष्ठतर है। तुलसी एक कठोर दार्शनिक सिद्धांत कह-कर रह जाते हैं और बिहारीलालजी काव्य की धारा बहाते हैं।

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा, जानत प्रिया एक मन मोरा;
सो मन सदा रहत तोहि पाहीं, जानु प्रीति-रस इतनेहि माहीं।
(तुलसी)

कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेस लजात;
कहिहै सब तेरो हियो मेरे हिय की बात।
(बिहारी-सतसई)

इन दोनों सूक्तियों में दांपत्य प्रेम की दृढ़ता और प्रेम-पात्र का अटल विश्वास अपेक्षाकृत बिहारीलालजी के दोहे में ही अधिक है।

इस प्रकार अनेकानेक सूक्तियों से तुलना करके मैं तो इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि बिहारीलालजी हिंदी-संसार के सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं। केवल काव्य-कला के उत्कर्ष की दृष्टि से बिहारीलालजी का प्रतिद्वंद्वी हिंदी में नहीं है। यह विषय विस्तृत है, अतः इस पर एक स्वतंत्र ग्रंथ में विस्तारपूर्वक [illegible] शीघ्र उपस्थित करने का प्रयत्न करूँगा।